भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण

के. एम. पणिक्कर लिखित :

हिंदूसमाज निर्णय के द्वार पर

कूटनीति के सिद्धान्त और व्यवहार

राज्य और नागरिक (आगामी प्रकाशन)

भारतीय इतिहास
का
सर्वेक्षण

लेखक

के. एम. पणिक्कर

ए शि या प ब्लि शिं ग हा उ स
बंबई • कलकत्ता • नयी दिल्ली • मद्रास

प्रथम वार—अगस्त १९५७

अंग्रेजी में :

प्रथम संस्करण १९४७
द्वितीय आवृत्ति १९४७
तृतीय आवृत्ति १९४७
चतुर्थ आवृत्ति १९४७
पंचम आवृत्ति १९४७
षष्ठ आवृत्ति १९४९
सप्तम आवृत्ति १९५०
द्वितीय संस्करण १९५४
तृतीय संस्करण १९५६
तृतीय संस्करण की
द्वितीय आवृत्ति १९५७

प्रकाशनाधिकार आरक्षित

जी. और एफ. को कृतज्ञताज्ञापनार्थ समर्पित

यह पुस्तक अंग्रेजी पुस्तक "ए सर्वे ऑफ इंडियन हिस्ट्री"
(A Survey of Indian History) का अनुवाद है।

अनुवादक : **हनुमानप्रसाद वाजपेयी**

वी. पी. भागवत द्वारा मौज प्रिंटिंग ब्यूरो, बंबई ४ से मुद्रित और
पी. एस. जयसिंघे द्वारा एशिया पब्लिशिंग हाउस, बंबई १ से प्रकाशित

विषय-सूची

चित्र-सूची

(पृष्ठ १२८ और १२९ के बीच में)

द्वितीय अंग्रेजी-संस्करण की प्रस्तावना

'ए सर्वे ऑफ इंडियन हिस्ट्री' १५ अगस्त १९४७ को, भारत की स्वाधीनता के अवसर पर पहली बार प्रकाशित हुई थी। तब से मार्च १९५४ तक की केवल सात वर्षों की संक्षिप्त अवधि में उसे नव बार छापना पड़ा जो उसकी लोकप्रियता का ज्वलंत प्रमाण है। किसी ऐतिहासिक कृति को ऐसी ख्याति मिलना प्रायः कठिन होता है।

एक बार, डा. यू ता-वेइ नामक एक लब्धप्रतिष्ठ चीनी विद्वान ने मुझसे कहा कि उन्होंने भारतीय इतिहास पढ़ने का कई बार प्रयास किया। जब कभी उन्होंने किसी पुस्तक को अपने हाथ में लिया तब वह उसके कुछेक पृष्ठों से आगे नहीं बढ़ सके। वह इतनी जल्दी क्यों ऊब जाते थे? उनका कथन यह था कि भारतीय इतिहास की इन पुस्तकों में जिस विलक्षण शैली का अनुसरण कियागया है उसके कारण वे नामनिर्देशिका से किसी प्रकार अधिक लाभदायक और रोचक नहीं जान पड़तीं। उनमें नाम गिनाये जाते हैं जो प्रायः एक-दूसरे से अलग-थलग पड़े रहते हैं। यद्यपि चीनी विद्वान की यह आलोचना बहुत-कुछ अतिरंजित होसकती है फिर भी उसमें एक स्पष्टोक्ति की झलक मिलती है। इसमें संदेह नहीं है कि भारतीय इतिहास की पाठ्य पुस्तकों में अधिकांशतः राजवंशों के वर्णन पर बल दिया-जाता है जिससे इतिहासकार उनमें सभ्यता के विकास की कहानी लेखनीबद्ध करने, समय-समय पर राष्ट्रीय नीति में परिवर्तन का विवरण देने, सामाजिक संस्थाओं और धार्मिक निष्ठाओं के उत्थान-पतन का चित्रांकन करने एवं इसी कोटि की उन महत्त्वपूर्ण और सारगर्भित बातों पर यथेष्ट प्रकाश डालने में असमर्थ होजाता है जिन्हें किसी भी राष्ट्रीय इतिहास की आधारशिला मानाजाता है। कुछ दूर तक यह अनिवार्य भी था कि भारतीय इतिहास में राजवंशों का विस्तृत वर्णन कियाजाए क्योंकि उस समय हमें भारतीय राजवंशों और क्रमिक शासन-कालों का वर्णन उपलब्ध न था जिसके आधार पर भारतीय जनता के इतिहास की रचना की जासकती। अतएव पुरातत्त्ववेत्ता और अन्वेषक प्रायः शिलालेखों की समीक्षा और अभिलेखों के संकलन में व्यस्त रहे। उन्होंने क्षेत्रीय राजाओं और चक्रवर्ती सम्राटों की कथाओं की गवेषणा की और प्राचीन मुद्राओं, आदि का अध्ययन करके विस्मृति के गर्भ में विलीन राजवंशों का पुनरुद्धार किया। निःसंदेह उनका यह कार्य स्तुत्य है क्योंकि उनकी इस सामग्री ने इतिहास के लिए एक पृष्ठभूमि तैयार कर दी। यद्यपि इस सामग्री को स्वयं इतिहास के रूप में स्वीकार नहीं किया जासकता फिर भी इसके बिना आगे बढ़ना संभव नहीं था।

हमारे इतिहास की शृंखला अब भी कहीं-कहीं छिन्नभिन्न दृष्टिगत होती है। हड़प्पा काल और बौद्धकाल के बीच जो खाई विद्यमान है उसे पाटने का काम अभी शेष है। फिर भी जो ऐतिहासिक सामग्री हमें उपलब्ध है उसके आधार पर कम-से-कम छठी शताब्दी ई. पू. से लेकर अब तक के भारतीय सामाजिक और राजनीतिक जीवन की विवरणात्मक कहानी क्रमबद्ध

रूप से लिखी जासकती है। यद्यपि इस सामग्री से कहीं-कहीं भारतीय राजनीतिक इतिहास पर यथेष्ट प्रकाश नहीं पड़ता है और चित्र यथावत् धुंधला बना रहता है फिर भी हमें जो शिलालेख और विदेशी प्रेक्षकों के अभिलेख प्राप्त हैं तथा पड़ोसी देशों के इतिहासों में प्रसंगवश भारत का जो उल्लेख कियागया है उनके आधार पर सामान्य हिंदू जीवन के विकास, उसकी मानसिक उन्नति और उसके सामाजिक संगठन की एक क्रमबद्ध रोचक कहानी लिखी जासकती है। इसके अतिरिक्त, हमें हिंदू, बौद्ध और जैन साहित्य भी उपलब्ध है जिसमें यहां की जनता की शताब्दियों और सहस्राब्दियों की गाथा बिखरी पड़ी है।

जबसे भारत में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न हुई है तबसे यहां की जनता एक ऐसे भारतीय इतिहास की अभ्यर्थना निरंतर करती आरही है जो उसके अतीतकाल का नये सिरे से चित्रांकन करके उसे उसकी परंपरागत थाती का अभिज्ञान करा सके। हम प्रायः उन विदेशियों द्वारा विरचित पुस्तकें पढ़ा करते हैं जो सदा यह लिखते हैं कि 'भारत' नाम की कोई चीज न थी और सब से पहले उन्होंने ही भारत की 'खोज' की है। जब जो विदेशी भारत में आया तब उसने इसी प्रकार का दावा किया। मेरी समझ से यह कहना अत्युक्ति न होगी कि हम में से अधिकांश इतिहासकारों के लिए इस अवस्था में भारतीय इतिहास की प्रक्रिया की व्याख्या करना एक टेढ़ी खीर होगयी है। विगत पांच सहस्राब्दियों से जो परंपरागत थाती हमारे हाथ लगरही है वह क्या है और उसका आधुनिक स्वरूप कैसे निर्मित हुआ है? यह अब भी हमारा प्रमुख प्रश्न बना हुआ है। उस परंपरागत निधि का मूल्यांकन करना हमारा प्रधान विषय है। इस दिशा में जो प्रयास कियागया है उसके कुछ विचित्र परिणाम देखने में आये हैं। सनातनी लोग भारत के वैदिक युग की स्मृति में आपे से बाहर होजाते हैं और हमारे जीवन के आर्य-स्वरूप की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। हिंदू राष्ट्रवादी गुप्तकाल के अप्रतिम वैभव के आधार पर अपनी उन्मुक्त परिकल्पना के अनुसार एक नये भारत का स्वप्न देखते हैं। कितने ही मुस्लिम महमूद गजनवी के ख़्वाब की दुनिया में विचरते रहते हैं और वे भारतीय संस्कृति को मुगल वैभव का पर्याय बताने में नहीं हिचकिचाते हैं। प्रारंभ में, भारतीय इतिहास की जो पुस्तकें लिखी गयीं उन में प्रायः यही भावना गूंजरही है कि विंध्याचल के दक्खिन में भारत था ही नहीं; और यदि वह था भी तो उत्तरी साम्राज्य का केवल एक पुछल्ला था।

आगे चलकर, यूरोपीय इतिहासकारों ने हमें एक विकट गोरखधंधे में उलझा दिया। उनके दृष्टिकोण ने कोढ़ में खाज का काम किया। उन्होंने भारतीय इतिहास को कतिपय कालों में विभक्त करदिया, जैसे बौद्धकाल, मुस्लिम काल, ब्रिटिश काल, आदि। परिवर्ती भारतीय इतिहासकारों ने इसका अनुकरण किया। किंतु यदि हम क्षण भर भी ध्यानपूर्वक विचार करें तो हमें विदित होजाएगा कि इस प्रकार का स्पष्ट काल-विभाजन संभव नहीं है। किन्हीं दो राजकालों के बीच ऐसी कोई निश्चित विभाजन-रेखा नहीं खींची जासकती। यद्यपि कुछ सम्राटों और राजाओं ने अपने राजकाल में बौद्धमत का व्यापक प्रचार किया था फिर भी इतिहासवेत्ता इस बात को मानने से इन्कार नहीं कर सकते कि अशोक के समय में भी भारतीय जनता का विशाल बहुमत आजकल की भांति हिंदू ही था। इसका प्रमाण स्वयं अशोक के शिलालेखों से मिलता है और

उसके उपदेशों में बौद्धों की भांति हिंदुओं का भी ध्यान रखागया है। मुस्लिम काल के विषय में हमें यहां इतना ही कहना अभीष्ट है कि यद्यपि गंगा के विशाल मैदान, बंगाल, गुजरात और दक्षिण पठार के उत्तरी भाग पर मुस्लिम शासकों का नियंत्रण होगया था फिर भी मध्यभारत और राजस्थान के विस्तृत प्रदेशों पर उनका अधिकार स्थापित नहीं होसका था और दक्षिण में तो मलिक काफूर के आक्रमण के पश्चात् एक शक्तिशाली साम्राज्य बनगया जो उनके प्रभुत्व के प्रसार के मार्ग में एक दीवार का काम करने लगा। इसके अतिरिक्त, मध्येशिया के ये आक्रांता चाहे खिलजी, तुगलक या मुगल कोई भी क्यों न रहे हों, भारत में बस जाने के बाद एक पीढ़ी बीतने पर अपने मूल स्थान के संपर्क से वंचित होगये। वे भारत पर भारतीयों की भांति राज करने लगे और उनकी शक्ति के गढ़ भारत की भूमि पर स्थापित होगये। पश्चिम के इस्लाम राज्यों से उनका नाता प्रायः टूट गया था। वास्तव में, भारत पर जिस शक्ति ने पहली बार एक दीर्घकाल तक विदेशी शासन अक्षुण्ण रखा वह ब्रिटिश सत्ता थी; और उसने यहां लगभग १५० वर्षों तक एक समुद्रपारवर्ती देश से शासनसूत्र का संचालन किया। अतएव इस शासनकाल को ब्रिटिश शासनकाल कहना समीचीन है क्योंकि उन दिनों भारत की नीति का निर्धारण एक दूरस्थ केंद्र से कियाजाता था और अन्य देशों के हितों की वेदी पर इस देश के स्वार्थों का बलिदान कर दियाजाता था। किंतु जहां तक इतिहास-के निर्माण का प्रश्न है, यह धारणा भी भ्रांतिमूलक होगी क्योंकि इस अवधि में भी भारत के वास्तविक इतिहास का निर्माण व्हाइट हाल या कलकत्ता और दिल्ली में बैठकर महाराज्यपालों और उपराजों (वायसराय) तथा प्रशासकीय कर्मचारीवर्ग द्वारा न होकर स्वयं जनता ही द्वारा हुआ जो अपनी प्राचीन परंपरा और थाती से उत्प्रेरित होकर शांति किंतु दृढ़ता-पूर्वक आगे बढ़ती गयी और इस प्रकार उसने अपनी स्वाधीनता फिर वरण करली। इस ब्रिटिश काल का इतिहास ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके उत्तराधिकारी ब्रिटिश ताज के क्रियाकलाप की कहानी नहीं माना जासकता है। इसके विपरीत, इस काल में भारत के सपूतों ने अपने स्तुत्य प्रयासों से भारतीय समाज के उथलपुथल में जो सफलता प्राप्त की उसकी कहानी ही इस समय का सच्चा दर्पण मानी जासकती है।

निःसंदेह, भारत में ब्रिटिश राज की कहानी विख्यात है। अंग्रेज कैसे यहां तुला लेकर आये, उन्होंने कैसे यहां कारखाने स्थापित किये और फिर उनका अंतिम सैनिक कैसे भारत भूमि से अपने बोरे-बिस्तर लेकर चला गया? यह अभूतपूर्व घटना भारत की भूमि पर संघटित हुई है। अतएव उसका संबंध भारत से है; किंतु उसे भारतीय इतिहास का अंग मानना कठिन है। निःसंदेह, वह ब्रिटिश इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है और इस दृष्टि से, जो लोग अंग्रेजों की समुद्रपार की गतिविधि और सफलता की कहानी पढ़ने में रुचि रखते हैं, वे उसका अध्ययन कर सकते हैं। किंतु भारत के संबध में उसका इतना ही व्याख्यात्मक महत्त्व है कि अंग्रेजी सत्ता इस देश के लिए एक विदेशी सत्ता थी जो आदि से अंत तक यहां जानबूझकर विदेशी बनी रही। सुतरां, उत्तर भारत के मुगल शासन और भारत के अंग्रेजी शासन के बीच यही स्पष्ट अंतर था। यद्यपि मुगल शासकों का उद्गम एक विदेशी राजवंश से हुआ था

फिरभी जब उन्होंने भारत में अपनी राजधानी स्थापित करली और उनका संबंध अपने मूलदेश से टूट गया तब वे वस्तुतः भारतीय बन गये और उनकी सरकार राष्ट्रीय सरकार होगयी। अंग्रेजी सत्ता की स्थिति इससे नितांत भिन्न थी। उसका भारतीय जनता से, उक्त दृष्टि से, कोई प्रत्यक्ष संपर्क न था। जब उसकी किसी रीति-नीति का प्रतिरोध या प्रतिक्रिया होती थी तब इस अप्रत्यक्ष ढंग से उसका जनता के आभ्यांतरिक जीवन पर यत्किंचित् प्रभाव परिलक्षित भले ही होता था। इससे स्पष्ट है कि भारत में ब्रिटिश काल को जो महत्त्व दिया जाता है या उसकी कहानी के बारे में जिस ढंग से इतिहास की पाठ्य पुस्तकों के पन्ने-पर-पन्ने रंगे रहते हैं, वह विचित्र और असंगत है और उसे ब्रिटिश प्रचार के अवशिष्ट प्रभाव के अतिरिक्त और क्या कह जासकता है? यह पुरानी लकीर पीटने की प्रवृत्ति है जिसे मनुष्य शीघ्र नहीं भूल सकता है। निःसंशय, ब्रिटिश शासन-काल हमारे लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण था। मैंने इस पुस्तक में उसका वर्णन किया है; किंतु यह चित्र भारतीय जनता के अपने दृष्टिकोण से उपस्थित किया गया है।

इस सर्वेक्षण में, मैंने भारतीय जनता के जीवन को चित्रित करने का प्रयास किया है। इस संबंध में जहां कहीं विविध राजवंशों के इतिहास, युद्धों के वर्णन और विभिन्न राजाओं की विजय की गाथाओं के विवरण का सहारा लेना अनिवार्य था वहां अभीष्ट सामग्री का उपयोग किया-गया है ताकि पाठकों की आंखों के सामने एक सजीव राजनीतिक चित्र प्रस्तुत किया जासके। मैंने दक्षिण भारत के विकास की प्रमुख धाराओं पर भी यथेष्ट प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है क्योंकि भारतीय इतिहास का कलेवर उसके बिना परिपूर्ण नहीं कहा जासकता। जहां कहीं भी दक्षिण को सिंधु-गंगा के मैदान का एक अनुपूरक अंग मानकर उसकी उपेक्षा करने का प्रयास कियागया है वहां भारत का इतिहास पक्षपातपूर्ण और असंतुलित होगया है। ऋग्वेद-काल के अंत में दशराज्ञ-युद्ध के साथ आर्य-द्रविड़ समन्वय का श्रीगणेश हुआ जिसे भारतीय सभ्यता का जन्मदाता माना जासकता है। हिंदू जनता की परिवर्ती दार्शनिक विचारधाराओं, धार्मिक संस्थाओं और सामाजिक संगठनों में इस समन्वय के परिष्कृत रूप के दर्शन होते हैं। किंतु दुर्भाग्यवश विंध्याचल के दक्षिण में विभिन्न जातियों में समन्वय का उक्त स्तुत्य प्रयास कभी नहीं किया गया। इस प्रकार, दक्षिण में नृवंशीय तत्त्वों का भिन्न स्वरूप अप्रतिहत बना रहा। भौगोलिक बाधाओं ने इस उपमहाद्वीप में उत्तर और दक्षिण की जातियों को एकजीव नहीं होने दिया। अतएव जातीय दृष्टि से दक्षिण में द्राविड़ तत्त्व प्रधान है। फिर भी सर्वांगीण हिंदूधर्म और संस्कृत भाषा ने यथाकाल दोनों खंडों को एकता के अटूट धागे में पिरो दिया। भारत की यह सांस्कृतिक एकता अखंड है।

भारत के विकास की कहानी सहस्त्रों वर्ष प्राचीन है और एक विशाल भूखंड पर फैली हुई है। उसका दिग्दर्शन इस सर्वेक्षण द्वारा तभी संभव है जबकि विवादास्पद विषयों में हाथ न डाला जाए। अपने पाठकों की सुविधा के लिए मैंने इस प्रकार के प्रसंगों को बरका दिया है। द्राविड़ों का मूलस्रोत क्या था? आर्यों का सिंधुघाटी के लोगों से क्या संबंध था? तथा इसी कोटि के अन्य कुछ प्रश्न अत्यंत विवादग्रस्त हैं जिनका निश्चित उत्तर देना संभव नहीं

है। इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐरे-गैरे प्रश्न भी हैं जिन पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मैंने अपनी इस पुस्तक में उनका समावेश जानबूझकर नहीं किया है। इन परिवर्ती प्रश्नों के बारे में मैंने जिस नीति का परिशीलन किया है वह यह है कि मैंने अपना अभिमत यत्र-तत्र दोटूक शब्दों में लिखदिया है। उदाहरणार्थ, अनेक इतिहासकारों का कथन है कि महाकवि कालिदास चौथी शताब्दी में चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की राजसभा को सुशोभित करते थे। किंतु मैंने उनके बारे में स्पष्ट शब्दों में यह लिखा है कि वह अग्निमित्र के समय में थे। मैंने इस विवाद में माथा पच्ची करना इसलिए उचित नहीं समझा कि इससे पुस्तक के कलेवर में अभिवृद्धि होने की आशंका थी। इसी प्रकार का एक दूसरा विवादग्रस्त प्रश्न कौटिल्य के अर्थशास्त्र का है। शमशास्त्री द्वारा संपादित अर्थशास्त्र स्वयं कौटिल्य की मूल पुस्तक का रूप है या उसका कोई परिवर्ती संकलन? इस विषय में, मेरा अभिमत यही है कि उस ग्रंथ में जिस राजकीय व्यवस्था का वर्णन है वह चंद्रगुप्तकालीन मौर्य साम्राज्य की व्यवस्था के अनुरूप है। अब उसका लेखक कौन है, यह एक गौण प्रश्न होजाता है और उसके पचड़े में पड़ना मुझे इष्ट नहीं है।

भारत के इतिहास पर उसके भूगोल का अनुपेक्ष्य प्रभाव पड़ा है। भौगोलिक स्थितियों पर यथेष्ट ध्यान दिये बिना कोई भारत की ऐतिहासिक घटनाओं का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर सकता है। मैंने इस अंग पर समुचित प्रकाश डाला है। भारत पर समुद्र का क्या प्रभाव पड़ा है, इसका भी उल्लेख संक्षेप में कियागया है। किंतु जो लोग इस विषय में विस्तारपूर्वक ज्ञानार्जन करना चाहते हों उन्हें मेरी पुस्तक "इंडिया एंड दि इंडियन ओशन" देखनी चाहिए।

भारतीय इतिहास की अनेक समस्याएं अब भी विद्यमान हैं जिनका हल नहीं मिला है। यहां मैंने उनमें से कुछ पर प्रकाश डाला है। इनमें सब से प्रमुख प्रश्न यह हैं कि क्या कारण था जो ९वीं, १०वीं और ११वीं शताब्दियों में हिंदू जीवन का अधःपतन हो गया! हम जानते हैं कि इससे तीन शताब्दियां पहले इन्हीं भारतीयों ने खलीफा के आक्रमणकारी साम्राज्य की शक्ति के दांत खट्टे करदिये थे। किंतु जब बाद में तुर्कों ने उन पर आक्रमण किया तब वे धड़ाम से गिरपड़े। इस अधःपतन की कहानी को असत्य नहीं ठहराया जासकता। उस काल में निर्मित मंदिरों की वास्तुकला, तत्कालीन साहित्य और धार्मिक विचारधाराओं से परिलक्षित होता है कि वाममार्ग के ऊलजलूल कृत्यों से उस हिंदू जीवन में घुन लग गया था जिसने कभी शकों, हूणों और अरबों से सफलतापूर्वक लोहा बजाया था। इसी प्रकार, मैंने उन कारणों पर भी प्रकाश डाला है जिनसे १४वीं और १५वीं शताब्दियों में हिंदू जीवन में एक नयी स्फूर्ति उत्पन्न हुई और जहां एक ओर विजयनगर-जैसे विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई वहां दूसरी ओर राजा कुंभा तथा उनके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में राजस्थान में एक दुर्दम्य अग्रधर्षणात्मक राष्ट्रवाद का आविर्भाव हुआ? इसी अवधि में हिंदू दार्शनिक विचारधारा का जो नूतन अभ्युत्थान हुआ उसकी अनुपम देन वेदों का सायण भाष्य है। इसी समय धर्मशास्त्रों की भी प्रशंसनीय रचनाएं सामने आयीं और धार्मिक क्षेत्र में युगपत् नयी स्फूर्ति और नये जीवन का

आलोक छा गया। इसका कारण क्या था? फिर हम अचानक वैज्ञानिक क्षेत्र में क्यों पिछड़ गये? हमारी गति इस दिशा में क्यों अवरुद्ध होगयी? छठी शताब्दी के पश्चात्, इस भारत भूमि पर फिर वराहमिहर और महंत नागार्जुन-जैसी विभूतियों के दर्शन क्यों नहीं हो सके? विज्ञान के युग में भारत के क्षितिज पर केवल एक नक्षत्र चमकता अवश्य दीखता है और वह है भास्कर। किंतु एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता। भारतीय गगन में इस उज्ज्वल प्रकाश के बाद निबिड़ तिमिर क्यों छागया? अलबरूनी ने लिखा है कि भारतीयों में यह अहंकार उत्पन्न होगया था कि इस संसार में अब उन्हें कुछ भी जानना शेष नहीं रहा है। जब यह भावना उनमें पैदा होगयी तब अधःपतन अवश्यंभावी था। स्मरण रहे, हिंदुओं ने जब रोमक सिद्धांत स्वीकार किया था और उनमें दूसरों के गुण ग्रहण करने की प्रवृत्ति जागरूक थी तब उन्होंने दिन दूनी, रात चौगुनी उन्नति की थी। तब उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा दिग्दिगंत को आलोकित करती थी।

भारतीय जनता के जीवन के विकास का चित्रांकन करने के लिए उक्त प्रश्नों तथा इस कोटि के अन्य प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है। जिस इतिहास में इनका समावेश किया जाएगा वही पाठकों के लिए रोचक और बुद्धिगम्य बन सकता है। प्रस्तुत पुस्तक में भारतीय घटनाओं पर इसी दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। आशा है कि यह पुस्तक--भारतीय इतिहास का सर्वेक्षण, अपने पाठकों को भारत के ऐतिहासिक विकास का विहगावलोकन कराने में यथा नाम तथा गुण प्रमाणित होगी।

"सुदर्शन"
बंगलोर
१ जून १९५४

के. एम. पणिक्कर

अध्याय १

भारत की रचना

भारत के भूगोल, उसकी प्राकृतिक बनावट, उसके पहाड़ों और उसकी नदियों का उसके इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा है। उसके उत्तर में अलंघ्य हिमालय की दीवार खड़ी है; और उसके दोनों पार्श्वों पर पर्वतराज की अपेक्षा कम ऊंची पर्वतश्रेणियां हैं जिनके कारण वह व्यवहारतः एशिया महाद्वीप से अलग-थलग होगया है। नीचे, भारतीय प्रायद्वीप के तीन ओर हिंदमहासागर हिलारें माररहा है। यही कारण है कि समुद्र इतिहास के प्राचीन काल ही से इस देश की समृद्धि का एक प्रमुख स्रोत बन गया। सारांश यह, महासागर के जल ने भारत को एक ओर अफरीका महाद्वीप से और दूसरी ओर मलाया तथा हिंदनीशिया-द्वीपसमूह से अलग कर दिया; और उत्तर, पूरब तथा पच्छिम में पर्वतमाला ने अड़कर उसके सीमांतों को पड़ोसी देशों की भूमि से विलग कर दिया। इस प्रकार भारत अपने विकास के क्षेत्र में, इतिहास के आरंभ ही से, अन्य देशों के संसर्ग से बहुत कुछ दूर जा पड़ा और उसे अपने जीवन और उन्नति के पथ पर अकेले ही आगे बढ़ना पड़ा।

यदि कोई क्षेत्र इस प्रकार एक परकोटे में घिरकर दूसरे देशों से अलग जापड़ता है तो उसमें कुछ विशेष विलक्षणताएं पैदा होजाती हैं, जो एक सभ्यता की दूसरी से भिन्नता प्रकट करती हैं। यहां जिस क्षेत्र के अकेले पड़जाने का उल्लेख कियागया है वह एक विस्तृत भूखंड था जिसमें सदा ही विभिन्न जातीय तत्त्व, विविध जलवायु, भांति-भांति की मिट्टी और नानाप्रकार की प्राकृतिक अवस्थाएं पायीजाती रहीं। इन कारणों से, इस विशाल प्रदेश की उन्नति का अजस्र प्रवाह कभी नहीं रुका, प्रत्युत यह एक महाद्वीप की भांति उन गतिशील और प्रतिक्रियात्मक शक्तियों का अखाड़ा बना रहा जो सभ्यता के विकास का मार्ग प्रशस्त करती हैं। भारत में प्रत्येक प्रकार की जलवायु मिलती है : उधर राजस्थान के मरुस्थल पर सूर्य अग्नि बरसाता है और इधर हिमालय के शिखर धवल हिम से आच्छादित रहते हैं। दक्षिण का पठार सूखा है जबकि बंगाल और मलाबार में आर्द्र और उष्ण जलवायु से परिसेवित शस्यश्यामल भूमि कैसी नयनाभिराम लगती है। भारत में एक महाद्वीप के सभी लक्षण पाये-जाते हैं जो उसके इतिहास का आवश्यक अंग बनगये हैं।

भारत के भूगोल में सबसे अधिक उल्लेखनीय वस्तु हिमालय पर्वत है। एक अंग्रेज लेखक ने इस दर्शनीय गिरिराज का वर्णन करते हुए लिखा है: "यह धरती का सबसे बड़ा पर्वत है। आद्यकाल में पृथ्वी के गर्भ में भीषण विस्फोट होने से प्रचुर लावा उछलकर आकाश की ओर चलागया था जो फिर जमकर अचल पर्वत बन गया। दूसरे शब्दों में, यह पिघले हुए

लावा की उन चंचल उत्तुंग तरंगों का एक जमाहुआ महासागर है जिनके शिखर शून्य के बाह्य अंचलों से अठखेलियां करते हैं और जिनके अधस्तल तथा गर्त वसुंधरा के रहस्यमय—अज्ञात और अगम्य—गह्वर हैं। इसके क्षत-विक्षत शृंगों में स्थित घाटियां विपुल दलदलों और सघन जंगलों से भरी पड़ी हैं जिनके अंधकाराच्छन्न अंतराल में, यद्यपि वह बाह्य जगत की आंखों से हमेशा ओझल रहता है, जीवन के स्पंदन का सर्वथा अभाव नहीं है। हिमालय का अर्थ है 'हिम का घर'। इसकी कम-से-कम ४० चोटियों में से प्रत्येक चोटी २४००० फुट से भी अधिक ऊंची है। यह पर्वतरूपी महाद्वीप स्वयं अपनी ऋतुओं का विधाता है।"*

सिंधु और उसकी विशाल नदियां, गंगा और उसकी बड़ी-बड़ी सहायक नदियां, और ब्रह्मपुत्र, ये सभी हिमालय पर्वत से निकलती हैं। ये नदियां हिंदुस्तान में स्नायु-जाल की भांति फैली हैं। वस्तुतः इस विस्तृत भूखंड का जीवन इन तीन नदियों की जल-प्रणाली पर निर्भर है। इससे अनुमान लगाया जासकता है कि भारत पर हिमालय का कितना भारी प्रभाव पड़ा है।

हिमालय ने भारत की सभ्यता और सामाजिक ढांचे को प्राचीन काल से अबतक अक्षुण्ण और अप्रतिहत रखने में ढाल का काम किया है। आज हम भारत में जिस समाज का बोलबाला देखते हैं वह महाभारतकालीन समाज से नितांत भिन्न नहीं हैं। अब से २५०० वर्ष पहले इस महाद्वीप में बुद्ध ने जिस जीवन के दर्शन किये थे उसके अजस्र प्रवाह में अभी तक किसी प्रकार का आधारभूत परिवर्तन दृष्टिगोचर नहीं होरहा है। लोग कर्म और माया के उसी सनातन प्रश्न पर शास्त्रार्थ करते और उन्हीं परंपरागत सिद्धांतों में विश्वास रखते हैं। किंबहुना, उनके जीवन का वही ढर्रा बना हुआ है। उनके वैवाहिक नियमों, अंत्येष्टि-संस्कारों और सामाजिक संबंधों के तानेबाने में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं हुआ है। यदि आज महात्मा बुद्ध इस धरती पर फिर आजाएं तो उन्हें अब भी यहां यही देखने को मिलेगा कि लोग उसी दशा में जीवन बितारहे हैं जिसमें वह उन्हें अपने परिनिर्वाण के समय छोड़गये थे। भारतीय जीवन का यह अनवरुद्ध प्रवाह हिमालय पर्वत की सबसे बड़ी देन है।

इस पर्वतमाला के दक्खिन में सिंधु और गंगा का विस्तृत मैदान है। इस समतल प्रदेश की गोद में विशाल सरिताएं किलोल करती हैं और यह सदा से भारतीय महाद्वीप का अंतस्तल बनाचला आरहा है। पंचनद, यमुना और गंगा के जल से यहां की भूमि उर्वरा बन गयी और प्रारंभिक काल ही में यहां खेतीबारी होने लगी जिसके कारण इस क्षेत्र की जनसंख्या धीरे धीरे बढ़ चली। नदियों की घाटियों में नगरों और गांवों के बसने से यह प्रदेश सभ्यता का प्रांगण बन गया। आर्यावर्त सदा ही भारतीय जीवन का केंद्र बनारहा है। इस जीवन में क्रमिक विस्तार होने और भारत के हिंदुओं का "हिमवत्सेतुपर्यन्तम्" अर्थात् हिमालय से रामेश्वरम् तक की अखंडता का मत बिना मीन-मेष ग्रहण कियाजाता है तो इसका एकमात्र श्रेय उस महान मुनि और धर्मप्रचारक अगस्त्य को देना पड़ेगा जो 'दक्षिण

* मैकिंटर—"अटैक ऑन एवरेस्ट"—पृष्ठ १०

चलो' आंदोलन का जन्मदाता और अगुवा था। पौराणिक कथा के अनुसार अगस्त्य मुनि ने विंध्याचल का गर्व खर्व कर दिया और अपने अनुयायियों को मार्ग देने के लिए उसे विवश किया। आज तक दक्षिण इन मुनीश्वर को अपना उद्धारक मानकर उनकी याद किया करता है।

यद्यपि यह दक्षिण प्रायद्वीप भारतवर्ष की परिकल्पना में अंतिमरूप से समाचुका है फिरभी इसकी अपनी पृथक विशेषताएं हैं। वास्तव में, उसकी रुझान समुद्री जीवन की ओर है। जहां एक ओर महासागर बीच में पड़कर विभिन्न भूखंडों को अलग करदेता है वहां दूसरी ओर वह उनके आपसी व्यापार और संपर्क के राजमार्ग को भी प्रशस्त करता है। प्राचीन काल में दक्षिण के पच्छिमी तट पर भृगुकच्छ से क्रांगनोर तक के बंदरगाह मध्यपूर्व के सभ्य प्रदेशों के साथ घनिष्ट व्यापारिक सूत्र में बंधेहुए थे। इसी प्रकार पूरबी तट के बंदरगाहों का पूर्व के देशों के साथ चिरकाल से संबंध था।

इसलिए यह बात जोर देकर कहनी आवश्यक है कि हिंदू सभ्यता की उन्नति के साथ ही भारत के एक देश होने की परिकल्पना का आविर्भाव हुआ। किंतु इसका यह अर्थ नहीं समझना चाहिए कि इससे पहले भारत का कोई इतिहास ही नहीं था। इसका अर्थ केवल इतना ही है कि आर्यों और द्राविड़ों के आपस में घुलमिल जाने के महान ऐतिहासिक समय के पश्चात् हिंदूधर्म ने सावधानी से भारत को एकता के धागे में पिरोने में सफलता पायी। इससे पहले भारत के विभिन्न और संभवतः एक-दूसरे से बिछुड़े-पड़े क्षेत्रों में सभ्य जातियां बसती थीं—इनसे अभिप्राय है सिंधु नदी की सभ्यता के जन्मदाता लोग, पंचनद और उसके बाद गंगा की घाटी के आर्य और दक्षिण की जातियां। प्रारंभिक काल के हिंदुओं की सबसे बड़ी सफलता यह थी कि उन्होंने भारत की जनसंख्या के विभिन्न तत्त्वों को लेकर एक सभ्यता तथा एक समाज के ढांचे की रचना की और उसे समूचे देश में खड़ा कर दिया।

भारत में प्रागैतिहासिक काल के मानव का जो प्रमाण अब उपलब्ध है उससे प्रकट होता है कि उस समय केवल पत्थर ही के नहीं, प्रत्युत लोहे, तांबे और अन्य धातुओं के औजार भी व्यापकरूप से प्रचलित थे। दक्षिण के बृहत्काय पाषाण स्मारकों में लोहे की अनेक वस्तुएं मिलती हैं। कांसे और सोने की चीज़ें भी बरामद हुई हैं जिनसे साबित होता है कि उस समय भौतिक समृद्धि कितनी बढ़ीचढ़ी थी। इतिहासरचना के पूर्वकालिक ज्ञान से सभ्यता के उद्गमस्थलों पर बहुतकुछ प्रकाश पड़ सकता है। किंतु फिर भी उससे हमें इतनी पर्याप्त ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती जिसके आधार पर किसी जाति विशेष की कहानी लिखी जासके। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि भारतीय इतिहास के प्रकाश में आने से युगों पहले, मानवीय प्रयास भारत के विभिन्न भागों में जीवन को अधिक रुचिकर और समाज को अधिक सुव्यवस्थित बनाने में संलग्न था।

इस सभ्यता के बारे में हम जैसा आज सोचते हैं उसका पहला प्रत्यक्ष साक्ष्य हमें सिंधुघाटी के उत्खननों से मिला है। इस सभ्यता का समय अस्थायीरूप से ३०००-२५०० वर्ष ई. पू. निर्धारित कियागया है। यह आर्यपूर्व सभ्यता है क्योंकि इसमें जिस संस्कृति के दर्शन होत

हैं उसका रूप नगरीय है जबकि वैदिक आर्यों की संस्कृति पशुचारण पर निर्भर सिद्ध होचुकी है। मोहेंजोदड़ो की खोदाई से जो वस्तुएं निकली हैं उनसे सिद्ध होता है कि सिंधुघाटी के निवासियों की सभ्यता बहुत ऊंची उठचुकी थी : वहां घरों के जो भूमिगत अवशेष मिले हैं उनसे प्रकट होता है कि उनके बनाने में उत्तम प्रकार की सामग्री का प्रयोग कियाजाता था और वे जीवन-निर्वाह के लिए सुविधाजनक सिद्ध होते थे। नगरों की रूपरेखा लुभावनी थी। जल-चिकित्सा के विशाल संस्थान बनेहुए थे। लोगों के पहनने के आभूषण सुंदर होते थे। ककुदधारी बैल, भैंस, भेड़, हाथी और ऊंट पालेजाते थे। सोना, चांदी, सीसा, तांबा और टीन तथा मिश्रित धातुओं का सामान्य चलन था। आभूषणों में अनेक प्रकार के बहुमूल्य रत्न भी जड़ेजाते थे।

रोपड़ और बीकानेर के अर्वाचीन उत्खननों से साफ पता चलता है कि यह सभ्यता देश के बहुत भीतरी भागों में फैल गयी और संभव है कि तब इसका केंद्र सरस्वती की घाटी में रहा होगा जो आगे चलकर ऐतिहासिक काल में राजस्थान के मरुस्थल में विलीन हो गयी। इस सभ्यता की उन्नति में हाथ बटानेवाले लोग सूत और ऊन दोनों का प्रयोग करते थे। सूती कपड़े का उद्योग भारत में प्राचीन काल से फलताफूलता चला आरहा है। मिट्टी के बर्तनों, ठप्पों, माला के दानों और कड़ों-चूड़ियों के प्रचुर नमूनों से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि शिल्पकला भी बड़ी समुन्नत दशा में थी। वास्तव में, मोहेंजोदड़ो के उत्खनन मनुष्य के सामाजिक और आर्थिक जीवन की उस अवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं जिसके विकास में अनेक शताब्दियां लगगयी होंगी।

इस सभ्यता के बारे में अनेक प्रश्न हमारे मस्तिष्कों में उठते हैं जिनका उत्तर अभी तक नहीं दिया जासका है। इसकी मुद्राओं पर अंकित लिपि अभी तक नहीं पढ़ी जासकी है। यह संस्कृति कहां तक फैलीहुई थी, इसकी सीमा अभी तक निश्चित नहीं होसकी है। क्या यह 'उत्तर भारत' ही तक सीमित थी या अन्य भागों में भी फैलचुकी थी? नर्मदा की घाटी की अर्वाचीन खोजों से सुराग़ मिला जानपड़ा है कि इसके सदृश पुरानी अन्य सभ्यताएं विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान थीं। निदान, यह बात सुनिश्चित और निर्विवाद है कि आर्यों के भारत में पदार्पण करने से पहले, यहां सभ्यता का उदय होचुका था। सभ्यता कोई आर्यों के साथ ही यहां नहीं आयी। भारतीय सभ्यता के जन्मदाता आर्य थे, इस सिद्धांत के प्रणेता "भारतीय विषयों के समालोचक वे जर्मन विद्वान" हैं जो संसार की प्रत्येक श्रेष्ठ वस्तु का मूलस्रोत आर्यों ही को मानते थे। किंतु भारतीय साहित्य उनकी इस धारणा का अनुसमर्थन नहीं करता और न वह दस्यु जाति को असभ्य ठहराता है। भारतीय सभ्यता केवल प्राग्वैदिक सभ्यता ही नहीं है प्रत्युत हिंदूधर्म को आज हम जिस रूप में देखते हैं उसके सारभूत तत्त्व संभवतः मोहेंजोदड़ो में भी विद्यमान थे। सर जोन मार्शल ने इस प्राचीन स्थल से उपलब्ध धार्मिक वस्तुओं का अध्ययन करके उनके बारे में लिखा है कि "यहां हमें जो अवशेष मिले हैं उनसे यह बात पर्याप्तरूप से प्रकट होती है कि...सिंधुघाटी के लोगों का धर्म हिंदूधर्म का बीज रूप था।" वास्तव में, आर्यों के आगमन से पहले शिव और काली, लिंगपूजा तथा लोकप्रिय हिंदूधर्म के अन्य प्रतीक, अच्छी तरह स्थापित होचुके थे।

सिंधुघाटी की सभ्यता आर्यों के उदर में कैसे समा गयी, यह हमें मालूम नहीं। आज हिंदू-धर्म में सिंधुघाटी के धार्मिक विचारों का जो प्रतिबिंब दिखायी देता है उससे स्पष्ट है कि यह सभ्यता न तो जड़-मूल से विनष्ट कीगयी थी और न पूरी तरह विलुप्त ही होगयी थी। इसका स्पष्ट प्रमाण लिंग और जिस देवता का यह प्रतीकस्वरूप है उसके प्रति आर्यों की रुझान से मिलता है। ऋग्वेद [मंडल ७, अध्याय २१, ऋचा ५] में इस महत्त्वपूर्ण घोषणा का उल्लेख है कि "लिंगपूजक हमारी तपोभूमि में प्रवेश न करें"। आगे चलकर यजुर्वेद में लिंगपूजा को शास्त्रोक्त पद्धति के रूप में अंगीकार करलिया गया और लिंगपूजकों का भय जाता रहा। अश्वमेध में भी लिंग की स्थापना होने लगी। परिवर्ती वेदों में शिव का भी महत्त्व बढ़ जाता है और यजुर्वेद के समय में शिव को निश्चितरूप से महेश्वर के नाम से प्रतिष्ठित कियाजाता है। भारतीय आर्यों ने जिस लिपि का विकास किया संभवतः वह सिंधुघाटी की लिपि पर आधारित थी। जिन पशु चरानेवाले आर्यों ने धीरे धीरे यहां के देसी लोगों को जीता उन्हें प्रत्यक्षतः अपनी सभ्यता में खपा लिया और हिंदूधर्म का जो वर्तमानरूप हमारी आंखों के सामने है वह इसी आत्मसाक्षात्कार का ज्वलंत उदाहरण है। हिंदू सभ्यता का मूलस्रोत आर्य थे, इस धारणा में अब स्पष्टतः व्यापक संशोधन करना आवश्यक है।

जिंद-अवस्ता तथा वेदों के बीच सादृश्य और अनेक अवस्ताई तथा वैदिक देवताओं की समरूपता से यह बात स्पष्ट है कि जब आर्य ईरान में न समा सके तब वे वहां से चलकर धीरे धीरे भारत में आये। दोनों में इंद्र, वायु और मित्र देवता पायेजाते हैं। वैदिक लोगों का मुख अपनी प्रवास-यात्रा के समय पंजाब की ओर था। इसलिए, इस बारे में तनिक भी संदेह नहीं कि वैदिक आर्यों का मूलस्थान कहीं भी क्यों न रहा हो, उन्होंने भारत में ईरान ही से आकर प्रवेश किया।

आर्य हट्टेकट्टे लोगों की एक घुमक्कड़ जाति थी। वे भारत में आक्रांता बनकर नहीं आये, प्रत्युत यहां शांतिप्रिय प्रवासियों की भांति अपना पशुधन, गृहस्थी का सामान और अपने देवताओं को साथ लेकर आये। जब वे भारत में आकर बस गये तब उनका यहां अपने राजाओं और राजकों की छत्रच्छाया में सुरक्षित पुरों और दुर्गों में रहनेवाले लोगों से संघर्ष छिड़ गया। स्वयं ऋग्वेद में शत्रुओं के 'शतस्तम्भी दुर्गों' का वर्णन है जिनसे आर्यों को लोहा लेनापड़ा था। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं में देवताओं का स्तवन कियागया है कि वे शत्रुओं को युद्ध में पराजित करने की शक्ति प्रदान करें। वेदों में इंद्र को श्रेष्ठ देवता का स्थान प्राप्त है और उनका वर्णन पुरंदर नाम से कियागया है जिसका अर्थ है नगरों को कंपायमान करनेवाला। एक आदिवासी राजा के सौ नगरों पर कीगयी चढ़ाई का भी रोचक वर्णन मिलता है।

अभी तक, सैनिक गढ़ों से सुरक्षित उपर्युक्त पुरों के निवासियों के विषय में यह धारणा थी कि इनका सिंधुघाटी की सभ्यतावाले लोगों से कोई संबंध नहीं था क्योंकि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खननों से लड़ाकू हथियारों या गढ़बंदी के कोई चिह्न उपलब्ध नहीं हुए हैं। किंतु भूगर्भ में जिस स्तर की खोदाई से सिंधुघाटी की सभ्यता का खोज मिला था उतनी ही गहराई

पर गढ़बंदी के स्थलों को पिछले दिनों खोदने से उक्त भ्रांति का निराकरण होगया है। इस सभ्यता के जन्मदाता लोग निःसंदेह नागर और व्यापारी थे, किंतु वे निरे शांतिवादी न थे और युद्ध करना जानते थे। वैदिक देवताओं से जिन पुरों और दुर्गों को विध्वंस करने की अभ्यर्थना की गयी है वे सिंधुघाटी की सभ्यता के उन्नायकों की बाहरी चौकियां और गढ़ थे।

वेदों में उपलभ्य प्रमाण से प्रकट होता है कि आर्यपूर्व भारत की सभ्यता, जो पतनोन्मुख होचुकी थी, उन नवागंतुकों के अविरल प्रहारों से चूरचूर होगयी जो उनसे अधिक तगड़े थे और संभवतः जिनके पास बेहतर रण-सामग्री थी। भारत में आर्यों के आने से पहले बसनेवाली जातियों का संगठन आर्यों से टकराकर छिन्नभिन्न होगया। इससे इतिहास के उस तथ्य की पुनरावृत्ति होती है कि ह्रासोन्मुख सभ्यताएं, चाहे वे कितनी ही समृद्धिशाली क्यों न हों, बर्बर जातियों के आक्रमणों को नहीं झेल सकतीं। इस बारे में अनेक उदाहरण मिलते हैं। चीन और खलीफा की सल्तनत ने बर्बर मंगोलों के और कुस्तुनतुनिया के साम्राज्य ने तुर्कों के सामने जिस प्रकार घुटने टेकदिये थे उसी प्रकार भारत ने आर्यों के सामने आत्मसमर्पण कर दिया।

आर्य लोग कैसे थे? स्वयं उनका कहना है कि उनका रंग गेहुंआं था। "काले" लोगों से वे एकदम घृणा करते थे। उनकी तंत्र-मंत्र और बलिदान में आस्था थी और वे देवताओं के कृपापात्र होने का दावा करते थे। वेदों में दार्शनिक विचारधारा का बीज मिलना संभव है, किंतु वैदिक सूक्तियों को हिंदुओं के तत्त्वज्ञान का मूलस्रोत प्रतिपादित करनेवाला सिद्धांत अनैतिहासिक है। इस सिद्धांत के मूल में यह मत काम करता है कि केवल श्रुति ही ईश्वरोक्त है और सभी सनातन विचारपद्धतियों को अपना मूलस्रोत वेदों में ढूंढना चाहिए। यद्यपि वेदों में जीवन की संस्कारपद्धतियों और विधि-विधानों का डंका बजरहा है, किंतु क्रमबद्ध धार्मिक विचारधारा के दर्शन तो वेदों से संबद्ध परिवर्ती साहित्य में होते हैं जब वैदिक काल के देवता यातो स्वयं चल बसे थे, या लोग उन्हें भूल-सा गये थे।

ऋग्वेदकालिक आर्यों का क्रीडास्थल पंजाब तक सीमित था। यमुना और गंगा के नामों का उल्लेख आया है, किंतु आर्यों का भौगोलिक विस्तार पूरब में इससे और आगे नहीं हुआ। आर्यों का प्रव्रजन निरंतर जारी नहीं रहा। इसलिए शेष देश में आर्यों के धीरे धीरे बसजाने की कल्पना ग्रहण नहीं की जासकती है। पंजाब से एक सभ्यता का प्रवाह हुआ जो आगे बढ़कर बाहरी क्षेत्रों में फैल गया। इस सभ्यता का विकास होचुका था और वह आर्य नाम से पुकारी जानेलगी थी किंतु मुख्यतः वह एक पराजित जाति की सभ्यता थी।

इस तथ्य का सबसे ज्वलंत प्रमाण यह है कि वेदोत्तरकालीन सभ्यता में आर्यों के देवता धीरे धीरे विलुप्त होजाते हैं। वेदों में जिन वरुण की अनेक स्तुतियां कीगयी हैं उनकी गणना अब देववृंद में न-होकर एकाएक दिक्पालों में होने लगती है। अब धरती पर उनका मंदिर केवल बाली द्वीप में दिखायी देता है। वायु की भी यही दशा हुई है। कभी वज्रधारी इंद्र प्रधान हविष्यभोक्ता और शक्तिशाली पुरंदर के नाम से विख्यात थे। किंतु यह बड़ा देवता अब केवल निचले स्वर्गों का अधीश्वर रहगया है जहां उसकी राजसभा वैभव

से जगमगाती रहती है और जहां पर उसका चित्रांकन एक रंगीले व्यभिचारी के रूप में किया-जाता है। इसके अतिरिक्त उसके द्वारा नये देवताओं–शिव और विष्णु–से रक्षा करने के लिए निरंतर याचना करवायीजाती है। आर्यों की दस्युओं पर विजय होने के बाद ही वैदिक देवताओं की इतिश्री होगयी, उनका बड़प्पन मिट गया, और वे मनोमुग्धकारी विशद पौराणिक कथाओं में छोटे पात्रों के रूप में फिर प्रकट हुए।

पशु चरानेवाली आर्य जाति और, आर्यों तथा आर्यपूर्व जाति के सम्मिश्रण से प्रादुर्भूत हिंदू सभ्यता के बीच की खाई का स्पष्ट चित्रांकन वैदिक देवताओं की "मृत्यु" से बढ़कर और कोई चीज नहीं करती है। वही बलिदान अब भी किये जाते थे, किंतु उन देवताओं के लिए नहीं जिन्हें अब शक्तिशाली नहीं मानाजाता था; उन्हीं मंत्रों का जप किया जाता था; किंतु उन देवताओं के लिए नहीं, जिनकी अब पूजा छोड़ दीगयी थी। आज भी उन्हीं शास्त्रोक्त पद्धतियों का परिपालन कियाजाता है : उसी गायत्री मंत्र का उच्चारण कियाजाता है; और अब भी मेंह बरसाने के लिए इंद्र के नाम पर बलिदान कियाजाता है; परंतु अब अग्नि और मित्र की कौन कहे इंद्र तक में ईश्वरीय शक्ति नहीं मानीजाती है।

यह रूपांतर सभ्यता के पर्याप्त प्रारंभिक काल ही में देखने को मिलने लगा। उपनिषदों के ऋषियों को वैदिक देवताओं की पर्वाह न थी। परिवर्ती वैदिक साहित्य में जगद्धात्री शक्ति का भी प्रसंग आता है जिससे यहां के धर्म के प्रभाव की कल्पना की जासकती है। अनेक ऋषियों का नाम अपनी माताओं के प्रसंग के साथ आता है। आर्यों का समाज पितृवंशी पद्धति पर चलता था। इसलिए परिचय की उपर्युक्त शैली संभवतः मातृवंशी पद्धति के प्रभाव का संकेत देती है। वास्तव में आर्यों और यहां के पहले-के निवासियों के आपसी संपर्क से एक समन्वयवादी पद्धति का विकास हुआ जिसमें विजेताओं के आचार-विचार की प्रमुखता अवश्य थी किंतु फिर भी विजितों की विचारधारा और परंपरा को नयी अभिव्यक्ति का अवसर मिला था।

समाज के व्यवस्थित होने से आर्यों के राजनीतिक जीवन का भी विकास हुआ। आर्यों ने अपने मुखियायों के नेतृत्व में दस्युयों से युद्ध किया था। जब प्रादेशिक सत्ता का अभ्युदय हुआ तब ये मुखिया लोग राजा बन बैठे। जब आर्यों का आवर्त सिंधु-गंगा के मैदान में फैल गया तब एक नये राजतंत्र–भरतवंशी राजतंत्र–की स्थापना हुई। भरतवंशी राज्य में देसी जनता की आनुपातिक संख्या अधिक थी; इसलिए इस राजतंत्र का संघटन भिन्न आधार पर कियागया जो पंजाब की आर्य-बस्तियों के शासन प्रबंध से, जिसका कर्णधार मुखिया होता था, सर्वथा मिलताजुलता न था। अपना-अपना प्रभुत्व कायम करने के लिए इन दोनों राज-नीतिक पद्धतियों में संघर्ष होना अनिवार्य था। इसप्रकार 'दशराज्ञ युद्ध' हुआ जिसका वर्णन ऋग्वेद में मिलता है और जो भारतीय इतिहास की सर्वप्रथम लिखित महत्त्वपूर्ण घटना है। भरतवंशी राजा सुदास ने पूर्ववर्ती आर्य-बस्तियों के दश साथी राजाओं का रणक्षेत्र में सामना किया। यह उल्लेखनीय बात है कि दश राजाओं के युद्ध में केवल आर्यों ही ने भाग नहीं लिया था प्रत्युत अनार्य लोग भी अपने निजी राजाओं के झंडे के तले दोनों पक्षों में आमने-सामने डटे हुए थे।

इस महायुद्ध में राजा सुदास ने जो विजय प्राप्त की वह परिवर्ती वैदिक साहित्य का मुख्य कथानक बन गयी और उसके बड़े दूरगामी परिणाम निकले। सबसे पहला परिणाम यह था कि इस सफलता के कारण सुदास महाराजाधिराज बनबैठे जिससे उस परिकल्पना का सूत्रपात हुआ जिसने कालांतर में भारतीय मस्तिष्क पर स्थायी प्रभुत्व जमालिया। विजेता राजा के राजराजेश्वर बनने और पराजित राज्यों को अपने राज्य की सीमा में मिलाकर एक बृहत्तर राज्य की स्थापना करने के स्थान में अधीन राजाओं के ऊपर अधिराट-सत्ता का उपभोग करने के विचार का आविर्भाव हुआ और वह हिंदू राजनीतिक पद्धति का स्थायी अंग बनगया। यदि राजा शत्रु का राज्य छीनकर अपने राज्य में मिलालेता था तो उसका यह आचरण धर्म के प्रतिकूल समझाजाता था। पराजित शासक को सामान्यतः अपने अधीश्वर को भेंट देता और उसे उसकी अधिराट-सत्ता स्वीकार करनीपड़ती थी। तदनंतर दिग्विजय करने की प्रथा चलपड़ी जिसके अंतर्गत स्थानीय शासकों के राज्यों की सीमाओं को नहीं छेड़ाजाता था। महाराजाधिराज अथवा सम्राट बनने के सिद्धांत ने दिग्विजय को जन्म दिया।

दश राजाओं के युद्ध ने "विशुद्ध आर्यों" का अंत करदिया। कम-से-कम पंजाब की पूर्वकालिक आर्य-बस्तियों में अधिकांशतः आर्य रहते थे। किंतु यमुना के पूरब में सुदास के नये राज्य में मिलीजुली आबादी होना स्वाभाविक थी। यद्यपि यहां भी आर्यों का प्रभाव अधिक था फिरभी उनकी संख्या कम थी। सुदास की विजय आर्यों और देसी लोगों की समेकलित शक्ति की विजय थी। अपने राजा भेद के नायकत्व में जिन यक्षुओं तथा अन्य आदिम-जातियों ने, सुदास के पक्ष में, युद्ध किया था वे अनार्य थीं। इसलिए इस विजय के कारण गंगा के मैदान के नये उपनिवेशों में आर्यों और अनार्यों का राजनीतिक सम्मिश्रण हुआ।

आर्यों ने धीरे धीरे पशुपालन से खेतीबारी के व्यवसाय में प्रवेश किया। उनकी इस सामाजिक व्यवस्था के क्रमिक रूपांतर का वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। प्रारंभ में लोगों का आर्थिक जीवन पशुपालन पर केंद्रित था। उनकी संपदा की माप का पैमाना पशुओं की संख्या होती थी। विशाल नदियों के जल से आप्लावित भारतीय मैदानों में बसजाने के कारण अब उनका विशेष ध्यान किसानी की ओर आकर्षित होगया। ऋग्वेद में कृषि पर विशेष बल दियागया है और छह आदमियों की टोलियों से खेत जोतने, तथा बीज बोने, फसल काटने और खलिहान उठाने का रोचक वर्णन मिलता है। किसान उस समय कुंओं से सिंचाई करना भी जानते थे।

कृषिसमाज की स्थापना से विभिन्न प्रकार के व्यवसायों का प्रादुर्भाव होता है। हल तथा धातुओं के अन्य औजार बनाने के लिए कारीगर, चमार, बढ़ई, आदि की आवश्यकता पड़ती है। वैदिक साहित्य में बढ़इयों, लोहारों, चमारों, सोनारों और अन्य कारीगरों का वर्णन है। साधारणतः बुनाई का काम भी होता है। लोग प्रायः अर्थपद्धति से परिचित नहीं जान पड़ते; किंतु इस साहित्य में 'वणिक' शब्द का प्रयोग मिलता है जिससे प्रकट होता है कि वैदिक काल में बनिये थे। मूल्यों का भुगतान आजकल की भांति मुद्राओं के रूप में नहीं प्रत्युत पशुओं से कियाजाता था। जुआ का बहुत अधिक प्रचलन था और वह मनोविनोद का

साधन मानाजाता था। यही बात रथ-दौड़ के बारे में कही जा सकती है। नृत्य और संगीत प्रारंभिक काल से चले आरहे थे। वास्तव में, संगीत के अधिक परिष्कृत और विशद रूपों का मूलस्रोत तो सामवेद मानाजाता है।

कृषिसमाज की स्थापना से गांव का महत्त्व फिर बढ़ जाता है। यह कहना कठिन है कि स्वावलंबी गांव की पद्धति कहां से आयी। इसके जन्मदाता आर्य थे या यह आर्यपूर्व लोगों के संगठन की देन थी, इस बारे में निश्चयपूर्वक नहीं बताया जासकता है। किंतु यह स्पष्ट है कि मोहेंजोदड़ो जैसे नगर कृषि की उन्नत, निष्पन्न पद्धति और गांव पर आधारित ग्राम्य अर्थव्यवस्था ही पर खड़े किये जासकते हैं। यह बात अधिक तर्कसंगत जानपड़ती है कि जब आर्य कृषिप्रधान जाति बनगये तब उन्होंने पहले से चले आरहे जिस ग्राम्य संगठन को अपने सामने देखा उसी को अपना लिया।

चाहे गांव की नींव आर्यों ने डाली हो या वह पहले ही से भारत में मौजूद हो, वह अपरिवर्तनीय रूपसे भारतीय जीवन का मेरुदंड बनारहा है। भारत के इस छोर से उस छोर तक नगण्य स्थानीय हेरफेर के साथ यह पद्धति प्रचलित है। भारत में जितने भी साम्राज्य देखने में आये हैं उन सबकी नींव इसी आधार पर रखीगयी। अंग्रेजों तक ने इसे अपनी राजस्व-संग्रह व्यवस्था की इकाई निर्धारित किया था।

वैदिक सभ्यता की उपर्युक्त तथा अन्य बातें संभवतः कोई नयी चीज नहीं। इसके अतिरिक्त पूर्वकालिक लेखकों ने आर्यों के सभ्यताप्रचारक प्रयासों की जो सराहना की है उसको एक अधिक श्रेष्ठ आर्यपूर्व सभ्यता की खोज से भारी ठेस पहुंचना स्वाभाविक है। अब यह स्वीकार करना संभव नहीं कि आर्य ही सबसे पहले भारत में सुसंस्कृत जीवन का संदेश लाये थे। फिरभी, भारतीय जीवन में उनके योगदान को मौलिक महत्त्व का न-मानना कृतघ्नता होगी।

आर्यों ही से भारत में जातिवाद और वर्णभेद का श्रीगणेश होता है। यहां के देसी लोग 'काले' वर्ण के थे जिनकी तुलना में उनका गेहुंआ रंग अधिक निखरा प्रतीत होता था। इस वरिष्ठता के विचार ने उनके मस्तिष्क में बुरी तरह घर कर लिया। इस भेदभाव की बेल की जड़ को सींचने का काम उनके इन विश्वासों ने किया कि वेदों द्वारा स्वयं ईश्वर ने उन्हें अपना प्रकाश दिखाया है और जिस शक्ति से वे दस्युओं को पराजित करने में समर्थ हुए हैं वह उन्हें गूढ़ धार्मिक संस्कारों तथा तंत्र-मंत्र से उपलब्ध हुई है जिन्हें भविष्य में अच्छी तरह गुप्त रखा और दूसरों पर प्रकट न-होने दियाजाएगा। दिव्य ज्ञान सीखने की उत्कंठा उत्प्रेरितहोकर वर्ण-भावना ने आर्यों और अनार्यों अर्थात् द्विजों और अद्विजों के बीच भेदभाव की अमिट दीवार पैदा कर दी। द्विज वे लोग कहलाते थे, जिन्हें कुछ गूढ़ संस्कार करने पड़ते थे। इन संस्कारों को संपन्न करने के बाद दिव्य ज्ञान उपार्जन करने तथा आर्यों की पूजा का रहस्य जानने के अधिकारी हो जाते थे। इसी भावना में जाति-पांत का बीज उपस्थित था जो आगे चलकर धर्मशास्त्र में "चातुर्वर्ण्य-सिद्धांत" के रूप में अंकुरित और पल्लवित हुआ।

सुतरां, यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'काले वर्ण' के लोगों को सैद्धांतिक रूप

से निम्नकोटि का मानने की, अर्थात् वर्ण-भेद की भावना पूरी तरह से कभी नहीं बरती जासकी। नस्लों के आपस में घुलने-मिलने और आर्यों द्वारा अपने ऋषियों-मुनियों की श्रेणी में 'काले' लोगों को स्थान देने के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। बादरायण वेदव्यास जिन्होंने वेदों का संपादन और क्रमांकन किया स्वयं कृष्णवर्ण यानी काले रंग के थे। उनकी माता एक मछुवा की कन्या थीं। वेदव्यास का जन्म एक आर्यऋषि और उपर्युक्त कन्या के अवैध संबंध का फल था। वेदव्यास कृष्ण बादरायण के नाम से विख्यात हैं। अद्विज लोग द्विजों से नीच हैं—इस सिद्धांत की उद्घोषणा से देसी शासकों की स्थिति पर कोई आंच नहीं आयी जिनकी सहायता सुदास को लेनी पड़ी थी, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। आर्य राजाओं और ब्राह्मणों का स्थानिक लोगों की कन्याओं के साथ विवाह करने के दृष्टांत प्रायः मिलते हैं।

इसके अतिरिक्त इस आशय के अनेक प्रमाण मिलते हैं कि वर्ण-व्यवस्था का समारंभ होने से पहले विभिन्न नस्लों का काफी रक्त-संमिश्रण हो चुका था। यद्यपि आर्य नस्लवाद के सिद्धांत के परिपोषक बनेरहे फिरभी वेदमंत्रों के गूढ़तत्त्वों और रहस्यों में दीक्षा पाना द्विज और अद्विज होने की कसौटी बनगया और आर्यत्व की परिकल्पना कालांतर में काले या गोरे वर्ण की बजाय सामाजिक प्रतिष्ठा और संस्कृति पर निर्भर होगयी।

प्रारंभिक वैदिक काल का स्पष्ट लेखाजोखा नहीं दिया जासकता। विंटरनिट्ज़ ने लिखा है कि "प्राचीनतम ऋचाओं की रचना और ऋग्वेदसंहिता की समाप्ति के बीच शताब्दियां बीतगयी होंगी।" भारत के आर्यों का साहित्यिक अभिलेख होने के नाते, ऋग्वेद अप्रतिम महत्त्व का ग्रंथ है। विचारों का क्रमिक विकास भी भारतीय विचारधारा के लिए अध्ययन के लिए एक बड़ा ही रोचक विषय है। भारतीय जनता के विकास के दृष्टिकोण से कदाचित इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इस महाग्रंथ के संदर्भ को अविकलरूप से सुरक्षित रखने के लिए अनूठा प्रयास किया गया है। पीढ़ी पर पीढ़ी, मौखिक रूप से चले-आने के बावजूद भी उस पवित्र संदर्भ के आकार प्रकार, उच्चारण और मंत्रों की विशुद्धता पर कोई खरोंच नहीं आनेपायी है।

ऋग्वेद को सर्वोत्कृष्ट मानने का एक परिणाम यह भी निकला है कि आगे चलकर इस निष्ठा ने सभी परिवर्ती विचारों पर आर्यगत और वैदिक स्वरूप का मुलम्मा चढ़ादिया है। शाक्तों ने भी अपने धर्म का उद्गम वेद में ढूंढने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया है। जैनमत और बौद्धमत को छोड़कर, जो खुल्लमखुल्ला वेद-विरोधी हैं, अन्य सभी क्रमबद्ध विचारधाराओं ने किसी-न-किसी अस्पष्ट मंत्र के सहारे अपनी कपोलकल्पित उत्पत्ति वेदों से ढूंढ़ने की चेष्टा की है। कहां तक लिखें, इस ऋग्वेदविषयक श्रेष्ठता की भावना ने भारतीय विचारधाराओं को, अभी उन्नीसवीं शताब्दी तक, अनुप्राणित किया है, जिसका एक ज्वलंत उदाहरण आर्यसमाज है। इसने समय-समय पर उन सबको वैदिक ढांचा प्रदान किया है और इस प्रकार 'आर्य्य भारत' की किंवदंती को जीवित रखा है।

अध्याय २

भारत पर विजय

हिंदूधर्म का संघटन परिवता वैदिक काल की मुख्य घटना है। भूगोल की दृष्टि से, आर्यों का उपनिवेश धीरे धीरे समस्त सिंधु-गंगा की घाटी पर फैलगया। नये राज्य—कुरु-पांचाल (दिल्ली-मेरठ क्षेत्र), कोशल (अवध), काशी (वाराणसी) और विदेह (उत्तर बिहार)—बनने लगे। इस भौगोलिक और राजनीतिक विस्तार के साथ, परिवर्ती वैदिक साहित्य में उच्चतर आध्यात्मिक और धार्मिक विचारों का सृजन आरंभ होता है। परिवर्ती वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों और उपनिषदों से उस साहित्य-भंडार के कलेवर की रचना होती है जो हिंदूसंघटन को एक समाज के रूप में सुगठित रखने के लिए अत्यंत आवश्यक है। ब्राह्मण-ग्रंथों में बलिदान की विधियों का वर्णन कियागया है। ये आज भी भारत भर में प्रचलित हैं। जहां स्वयं वेद केवल मंत्रोच्चार ही तक महत्त्वपूर्ण समझेजाते हैं वहां ये वेदोक्त विधियां आजभी अक्षुण्ण एवं अप्रतिहत रूप से संपन्न कीजाती हैं। ब्राह्मणों में भी धर्मनिरपेक्ष संस्कारपद्धतियों का पर्याप्तरूप में समावेश है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण में राज्याभिषेक की जिस विधि का विवरण दियागया है उसका परिपालन भारत ही के नहीं, प्रत्युत स्याम के राजालोग भी करते हैं।

ब्राह्मणों की रचनाकाल के पश्चात् हमारा अवस्थान स्पष्टरूप से उपनिषत्काल में होता है। उपनिषदों में हमें हिंदू आध्यात्मिक विचारधारा की झांकी अपने परिष्कृत रूप में दिखायीदेती है। इसी काल में वैदिक आर्यों के धर्म से अलग हिंदूधर्म का आविर्भाव केवल अस्पष्ट उच्चतर दार्शनिक पिपासा या जिज्ञासा के रूप में नहीं, प्रत्युत एक मत और सिद्धांत की क्रमबद्ध पद्धति के रूप में हुआ। यद्यपि कुछ उपनिषदों की रचना बाद में हुई फिरभी यह स्पष्ट है कि परिवर्ती वैदिक काल में आत्मा के विषय में, ब्रह्म के विषय में, परमात्मा और जीवात्मा के पारस्परिक संबंध के विषय में उपनिषदों के मुख्य सिद्धांत का, आत्मसाक्षात्कार के सिद्धांत का और धर्म की परिकल्पना का स्पष्टतः नाम-निरूपण हो चुका था। समय-समय पर इन्हीं विषयों की नयी-नयी व्याख्याएं होतीरही हैं और वही आजतक हिंदू विचारधारा का निर्देशन कररहे हैं। कर्म, माया, मुक्ति, पुनर्जन्म, आदि के सिद्धांत, जिनका आज भी हिंदूजीवन को ढालने में पूरा-पूरा हाथ है, उपनिषदों में विस्तृतरूप से समझाये गये हैं।

परिवर्ती वैदिककाल में हिंदूधर्म के केवल सैद्धांतिक पक्ष की स्थापना ही के दर्शन नहीं होते प्रत्युत यह भी दिखायीदेता है कि इस काल में हिंदूजीवन की दृढ़ सामाजिक नींव भी डालीगयी। इसी समय वेदांगों की रचना हुई जिनमें कल्प वेदांग सबसे महत्त्वपूर्ण है। श्रौत,

गृह्य और धर्मसूत्र अन्य वेदांग हैं। गृह्यसूत्र को हिंदूसमाज की एकता की आधारशिला कहना ठीक ही है क्योंकि उसने हिंदूगृहस्थ को धर्मनिरपेक्ष जीवन के सांचे में ढाल रखा है। गृह्यसूत्र में जातकर्म से लेकर अंत्येष्टि तक के सोलहों संस्कारों का संपूर्ण विवरण दियागया है। उसमें प्रत्येक अवसर के संस्कार का सांगोपांग वर्णन मिलता है। गर्भाधान या प्रसवपूर्व संस्कारों, नांदीश्राद्धों, नामकरण, उपनयन, ब्रह्मचर्य, गुरुकुल-प्रवेश, विवाह, आदि की विधियों का बड़ी सावधानी से विवरण दियागया है। इन घरेलू संस्कारपद्धतियों के परिपालन से हिंदू हिंदू कहलाता है। दूसरे लोग भी हिंदूधर्म के सिद्धांतों का परिशीलन कर सकते हैं। आजकल अन्य धर्मों के अनुयायियों का चित्त दिन-पर-दिन बढ़ती हुई संख्या में कर्म और पुनर्जन्म की ओर आकर्षित होने लगा है। हिंदू धर्मशास्त्र दूसरों पर लागू हो सकता है। निःसंदेह कुछ अन्य धर्मों के ऐसे संप्रदाय हैं जिनपर हिंदू धर्मशास्त्र या हिंदू कानून लागू भी हैं। किंतु उपर्युक्त घरेलू संस्कारपद्धतियों को अंगीकार किये बिना कोई व्यक्ति हिंदू नहीं बनसकता है।

गृह्यसूत्र अर्थात् गृहस्थ की संस्कारपद्धतियों के अनुशासन ने हिंदूजाति के वर्तमान रूप का निर्माण किया है। आज जहां कहीं भी हिंदू दिखायी देते हैं वहां यह अनुशासन विद्यमान है। इसलिए भारतीय इतिहास में गृह्यसूत्र बेजोड़ महत्त्व की वस्तु है, क्योंकि इसने जो लोग हिंदू धर्म के दायरे में आये उन्हें हिंदुओं की अपनी एकल सभ्यता की लड़ी में गूंथ दिया।

यद्यपि ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से गृह्यसूत्र की भांति श्रौतसूत्र और धर्मसूत्र का ऊंचा आधारभूत स्थान नहीं फिरभी वे बड़े ही महत्त्वपूर्ण वेदांग हैं। धर्मसूत्रों में सामाजिक रूढियों और रीतियों का वर्णन है। इनकी रचना विभिन्न कालों में हुई, किंतु फिरभी वे इस दृष्टि से मूल्यवान हैं कि उनमें समाज को चेतना के आधार पर संगठित करने की प्रवृत्ति मिलती है। इस समय एक सामान्य दीवानी और फौजदारी कानून (जो अब हमारे आधुनिक दृष्टिकोण से भले ही प्रतिगामी प्रतीत होता हो), सामाजिक आचार-नीति संहिता, संपत्ति के सिद्धांत, आदि का प्रादुर्भाव हुआ।

संभवतः इन सबसे महत्त्वपूर्ण वर्णाश्रमधर्म का सामाजिक सिद्धांत है। इसकी परिकल्पना के कारण समाज जातियों में विच्छिन्न हो गया। किंतु इसने यह निर्धारित किया है कि जीवन की किस अवधि में क्या करना चाहिए। इसके अनुसार, जीवन चार आश्रमों में विभक्त कियागया है जिनके नाम हैं ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्मचर्य परिपालन करते हुए विद्याध्ययन करना, गृहस्थ अर्थात् विवाह करके पारिवारिक जीवन बिताना, वाणप्रस्थ अर्थात् लौकिक जीवन से विरक्त होजाना और तपस्या (सन्यास) अर्थात् आध्यात्मिक जीवन की अनासक्तिपूर्ण खोज में तल्लीन होजाना। यह सर्वोपरि परिकल्पना है अर्थात् एक आदर्श है जो प्रत्येक हिंदू गृहस्थ के लिए अनुकरणीय है। इसका कभी सर्वसाधारण में सामान्यरूप से परिपालन कियागया, इसमें संदेह है। किंतु यह तबसे निरंतर आदर्श बनाचला आरहा है और अबतक उसका पंजा हिंदूसमाज पर दृढ़ है।

'चातुर्वर्ण्य' अर्थात् समाज में चार वर्णों के सिद्धांत की रचना भी इसी काल में हुई। हम

चातुर्वर्ण्य को वर्णव्यवस्था या जाति-पांत प्रथा के नाम से भी पुकारते हैं। हिंदूसमाज का चार वर्णों में विभाजन जानबूझकर कियागया है। इससे पहले समाज का मूल-विभाजन द्विज और अद्विज इन दो वर्गों में कियागया था, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है यानी जो लोग विद्याध्ययन और यज्ञोपवीत के अधिकारी होते थे वे द्विज कहलाते थे और जो इनसे वंचित थे वे अद्विज मानेजाते थे। परिवर्ती वैदिक काल में चार वर्णों के सिद्धांत की प्राण-प्रतिष्ठा कीगयी। अध्ययन और अध्यापन का कार्य करनेवाले ब्राह्मण, युद्ध और रक्षा करनेवाले क्षत्रिय, उद्योग-व्यापार करनेवाले वैश्य और हल-चलाने तथा खेती-करनेवाले सामान्य लोग शूद्र मानेजाने लगे। इस संघटन को 'नव्यआर्य-समाज' का नाम दिया जासकता है, क्योंकि इसके बाहर और लोग भी थे जिन्हें अवर्ण अथवा पंचमवर्ण कहते थे। यह विशाल जनसमुदाय सामाजिक अधिकारों से वंचित था और वे अस्वच्छ या अछूत समझेजाते थे।

इन चार वर्णों की परिभाषा सैद्धांतिक रूप में भले ही स्पष्ट थी, किंतु व्यावहारिक रूप में वैसी नहीं थी। अनार्यों को श्रेणी में मिलाने के लिए वैदिक अनुमोदन उपलब्ध था और इसका प्रमाण भी जहां-तहां मिलता है। व्रात्यस्तोम ने सामवेद में अनार्यों को दीक्षित करने की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। उन बहुत-सी आदिमजातियों को आर्यों की श्रेणी में मिलाने के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं जो बाद में 'व्रात्य' क्षत्रिय के नाम विख्यात हुई। वर्ण या जाति में परिवर्तन होने के भी दृष्टांत मिलते हैं। हम सबको विदित है कि मूलतः जनक और विश्वामित्र क्षत्रिय राजे थे, जिनमें एक तो राजकुमारों का शिक्षक बनगया और उसके चरणों के समीप बैठकर ब्राह्मण तक विद्याध्ययन करने लगे और दूसरा ऋषि की पदवी पर पहुंचगया जिसने वैदिक स्तोत्रों की रचना की, जिसने जाति-बंधनों को तोड़ दिया, जाति-च्युतों के लिये यज्ञ किये और साधारणतः समाज में ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार नहीं किया। विभिन्न जातियों के लोगों के बीच विवाह का प्रसंग अनेक स्थानों में मिलता है। वास्तव में, नव्य आर्यों के समाज की रचना से विभिन्न जातियों के बीच पर्याप्त संमिश्रण हुआ और आर्यों की श्रेणी में अनार्यों को बड़ी संख्या में मिलायागया।

परिवर्ती वैदिक काल की दूसरी द्रष्टव्य वस्तु ब्राह्मणों और क्षत्रियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता है। पार्जीटरने अपनी पुस्तक "इंडियन हिस्टोरीकल ट्रेडीशन" में प्रमाणों का ढेर लगा दिया है और यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि योद्धावर्गों ने, जिनमें अनेक अनार्य भी सम्मिलित थे, ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के दावे का दीर्घकाल तक प्रतिरोध किया। बाद में ब्राह्मणजाति की श्रेष्ठता के विचार को सुदृढ़ करने के लिए एक बड़े पैमाने पर ग्रंथों को फिरसे लिखागया और इसी उद्देश्य को पूरा करने के लिए शिक्षाप्रणाली का सहारा लियागया। महाभारत ग्रंथ के विद्वान संपादक डा० सुखटणकर ने इस महाकाव्य में वर्णित 'भार्गव-परंपरा' का अपूर्व ढंग से विशद विश्लेषण किया है। उन्होंने उस क्षत्रिय परंपरा को, जिसमें भारत के राजे दो पक्षों में बंटकर आमने-सामने मोरचे पर डटे हुए थे, परिवर्तित करके उसे ब्राह्मणजाति की विरुदावली के बखान का साधन बनादिया है। यह महाकाव्य पंचम वेद कहलाने लगा

और जनता के ज्ञानवर्धन के लिए एक सामान्य विश्वकोष बनगया। इसलिए उपर्युक्त परिवर्तित भाष्य का प्रभाव जनता के मस्तिष्कपर स्थायी होगया। किंतु यदि हम इससे पहले का भारतीय साहित्य पढ़ें तो यह बात हमारी आंखों से छिपी नहीं रहसकती कि क्षत्रियों और ब्राह्मणों में अपनी-अपनी प्रधानता के लिए संघर्ष चलतारहा था।

वर्ण-सिद्धांत के अनुसार जातियों में विभक्त समाज की सुदृढ़ स्थापना के लिए यह आवश्यक था कि वर्णसमुदाय में स्थानीय आदिमजातियों को भी उचित स्थान देकर सम्मिलित किया-जाए। हम देखते हैं कि विभिन्न ऐतिहासिक कालों में इस प्रक्रिया का अवलंबन कियागया। जब हिंदूलोग इस जातिपद्धति को लेकर समुद्रपार हिंदेशिया, चंपा, अन्नाम तथा अन्य देशों में पहुंचे तब उनके प्रादेशिक कर्णधारों ने, जो हिंदूधर्म में दीक्षित होगये थे, शीघ्र ही वर्मन-जैसे जातिसूचक उपनाम को अपने नामों के साथ जोड़ लिया और उनकी गणना क्षत्रियों में कीजाने लगी। बाली में आजभी चार जातियां पायीजाती हैं। निःसंदेह यही पद्धति दक्षिण में भी चालू थी जिसकी पुष्टि आज भी मलाबार में मातृवंशी क्षत्रिय-परंपरा के अस्तित्व से होती है।

जातिपद्धति के विस्तार का एक और महत्त्वपूर्ण प्रमाण है। जातिपद्धति कुछ शक्तिशाली नस्लों को नहीं पचासकी। इसके अतिरिक्त, उनका सामाजिक संगठन दृढ़ था, इसलिए उनका अस्तित्व पृथक बना रहा। इन नस्लों के लोगों को समाज में भी ऊंचा स्थान प्राप्त है: उदाहरण के लिए यद्यपि आंध्र देश के रेड्डियों, केरल के नायरों, तमिल भूमि के मारवों और मराठों ने हिंदूधर्म स्वीकार करलिया था फिरभी उनको चार वर्णों में अच्छी तरह नहीं जकड़ा जासका। इसके अतिरिक्त, इनकी सामाजिक स्थिति बहुत सुदृढ़ थी और इसलिए उनपर शूद्रत्व भी नहीं थोपा जासका। अद्विज होने के कारण उन्होंने ब्राह्मणों की श्रेष्ठता लचर तरीके से भले ही स्वीकार करली थी, किंतु उन्होंने अन्य वर्णों को अपने से ऊंचा नहीं माना। वर्णव्यवस्था के सिद्धांत को बहुतसे विस्तृत प्रदेशों और बहुतसे लोगों ने कभी भी गंभीर रूप से मान्यता नहीं दी।

इस समय हिंदूजाति का राजनीतिक विकास हुआ। यद्यपि इस काल के उपाख्यानों और पौराणिक कथाओं में इस धूमिल विकास की कहानी छिपीहुई है फिरभी इस समय के साहित्य में उसके प्रारूप के दर्शन तो हो ही जाते हैं। आदिमजातियों के सरदारों और राजाओं के स्थान में शक्तिशाली राजतंत्र दृष्टिगोचर होते हैं। धर्मशास्त्रों में राजनीतिक शक्ति के सिद्धांतों का वर्णन मिलता है। परिवर्ती वैदिक साहित्य में दंड और धर्म का उल्लेख आता है जिनका क्रमशः तात्पर्य आज्ञापालन करवाना और न्याय करना है। राजाओं के समुचित राज्याभिषेक की पद्धति का वर्णन है जिसका अभिप्राय राजा को अपने कर्तव्य से अवगत कराना होता था। राज्याभिषेक के अवसर पर राजा को उपदेश दियाजाता था: "तुझे कृषि के लिए, सर्वजन-सुख के लिए, समृद्धि के लिए और प्रगति के लिए यह राज्य समर्पित किया जाता है।" विशाल दफ्तरशाही राज्य का दौर बाद में आया। इससे पहले परिवर्ती वैदिक राज्यों में शासन और संगठन की जो व्यवस्था थी वह इस दृष्टि से कदाचित् अधिक "प्रजातंत्रीय" थी कि आर्यों की आदिमजातियों के नायक जिस सत्ता का उपभोग कररहे थे उसको राजा ने मान्यता देरखी थी।

राजा का पुरोहित राजनीतिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण पदाधिकारी होता था। यही बात सूत के बारे में लागू होती है। राजसभा के रत्न उच्च पदाधिकारी बनजाते हैं जो राजा को अपना बहुमूल्य परामर्श ही नहीं देते अपितु प्रशासन—काय में भी उसकी सहायता करते हैं।

परिवर्ती वैदिक साहित्य में जिस सुदीर्घ काल का वर्णन है उसमें सभ्यता का पर्याप्त विकास हुआ। विद्याध्ययन के दो रूप होगये—धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष। वेदों और उसके आनुषंगिक साहित्य तथा उपनिषदों को छोड़कर, पाठ्यक्रम में व्याकरण तथा तर्क और विधिशास्त्रों का अध्ययन भी सम्मिलित कर लियागया।

राजनीतिक जीवन के बहुमुखी विकास के साथ व्यवसायों की संख्या भी बढ़ गयी। समाज में प्रत्येक प्रकार के शिल्पकार को ऊंचा स्थान प्राप्त था। राज-मेमारों, नाविकों, बढ़ईयों, पथेरों, रंगरेजों और अन्य काम-धंधेवालों का उल्लेख तत्कालीन साहित्य में मिलता है। व्यापार की उन्नति के साथ राजमार्गों का निर्माणकार्य और उनकी देखरेख बढ़चली। इस समय व्यापारी-मंडलियों के होने का भी प्रसंग मिलता है।

जब वैदिक धर्म से हिंदूधर्म का अंकुर फूटा तब जीवन की सभी दिशाओं में प्रायः प्रगति देखने में आयी। उपर्युक्त दोनों कालों की प्रगतियों में कितना अंतर था, यह तत्कालीन सामाजिक वर्णनों के तुलनात्मक अध्ययन से बहुतकुछ समझा जासकता है।

रामायण के समारंभ में हम भारत का जो विवरण पढ़ते है उसमें हमें गंगा की घाटी म सीमित उस समय की हिंदू सभ्यता का चित्र देखने को मिलता है। एक बार राम इस घाटी की परिधि से बाहर पग धरते हैं, तो वह सहसा दुर्गम अरण्य में जा पहुंचते हैं जहां आर्य तपस्वी विरल-विरल बिखरी कुटियों में रहते हैं और प्रायः अपने अस्तित्व के बारे में शंकाकुल दिखायी देते हैं। इस भांति चलते-चलते जब मर्यादापुरुषोत्तम 'किष्किंधा' अर्थात् वर्तमान बेल्लारी क्षेत्र तक जापहुंचते हैं तब कहीं उन्हें फिर संघटित सामाजिक जीवन के दर्शन होते हैं। उस समय गंगा के धुर दक्खिन से बृहदारण्य आरंभ होजाता था जो विंध्याचल को आच्छादित करताहुआ दक्षिण तक चलाजाता था। यद्यपि हम जानते हैं कि उस समय नर्मदा घाटी में एक दूसरी सभ्यता का बोलबाला था जिसकी समृद्धि का मूल कारण समुद्री व्यापार था फिरभी इधर इस काल में राजाओं या देशों का उल्लेख नहीं मिलता है।

वास्तव में रामायण अगम्य और दुर्गम क्षेत्रों की खोज के असीम साहसिक कार्य की एक कहानी है। दूसरी ओर महाभारत की कहानी है जिसका संपूर्ण चित्र रामायण से बिल्कुल भिन्न है। महाभारत को पढ़ते ही हमें ज्ञात हो जाता है कि उस समय तक भारत एक बनचुका था। हम दक्खिन के राज्यों से उतने ही परिचित हो जाते हैं जितने पूरब और पश्चिम के राज्यों से। दक्खिनी देशों के शासक इस ऐतिहासिक युद्ध में भागलेने आते हैं। महाभारत के प्रमुख पात्र श्रीकृष्ण का घर द्वारका नगरी में है जो दूर काठियावाड़ के समुद्रतट पर स्थित है। हिंदुओं के पवित्र चारधाम देश की चारों दिशाओं में स्थापित हैं। सभी देशवासी भारत के प्रत्येक भाग की नदियों, पहाड़ों और सामान्य प्राकृतिक स्थितियों से परिचित हैं। रामायण में हिमालय का प्रसंग दुर्लभ है। परंपरागत कथा के अनुसार लक्ष्मण की तपोभूमि

हरद्वार के समीप स्थित है जहां गंगा कलकल नाद करतीहुई गिरि-शिखर से मैदान में उतरती है। दूसरी ओर महाभारत में हिमालय का विशद वर्णन मिलता है। महाप्रस्थान पर्व में उस देश का वर्णन आया है जो एक गिरिशृंग पर खड़े होकर देखने से उत्तर की ओर दिखायी देता था। कैलास पर्वत और मानसरोवर का भी वर्णन मिलता है।

वास्तव में, समूचे भारत की खोज भी जाचुकी थी। संक्षेप में, भारत की विजय पूर्णतः संपन्न होचुकी थी।

यही बात समाज पर भी लागू होती है। महाभारत में भारत के उसी सामाजिक जीवन की झांकी मिलती है जिससे हम अब भी अवगत हैं। हमें महाभारत ग्रंथ आज जिस रूप में उपलब्ध है उसके इस पाठांतरित कलेवर की रचना कदाचित् चौथी शताब्दी से पहले की नहीं है। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि महाभारत की कथा भी उसी काल की है। महाभारत की कथा तो उससे बहुत पुरानी है क्योंकि छठी शताब्दी ईसापूर्व में महर्षि पाणिनि ने उसके बड़े बड़े पात्रों का नामोल्लेख किया है। यद्यपि उसके अंतिम परिशोधित संस्करण तक उसमें बहुतेरी हेरफेर और अनेक क्षेपक प्रसंगों का समावेश होगया होगा फिरभी उसके कथानक और उसकी मुख्य घटनाओं में परिवर्तन नहीं किया जासका होगा।

महाभारत में सामाजिक ढांचा वर्णव्यवस्था पर आधारित है; किंतु रामायण और महाभारत में इस विषय पर अत्यंत सारगर्भित मतभेद है। रामायण में क्षात्रधर्म से बाध्य होकर राम को, अनिच्छापूर्वक ही सही, तपस्या में संलग्न एक शूद्र का बध करनापड़ता है। रामायणकाल में आर्यों के लिए किसी शूद्र के विद्वान और तपस्वी होने की कल्पना करना असह्य थी। महाभारत में यह स्थिति करवट बदले दिखायी देती है। वहां एक दासी-पुत्र विदुर राजा धृतराष्ट्र के पथप्रदर्शक, दार्शनिक और मित्र के पद पर आसीन है। राजालोग इस समय सैद्धांतिक रूप ही से क्षत्रिय जानपड़ते हैं। वास्तव में, धृतराष्ट्र और पांडु दोनों ही वेदव्यास के पुत्र थे जिन्होंने स्वयं एक मछुवा स्त्री की कोख से जन्म लिया था। जब कौरवों की राजसभा में श्रीकृष्ण को एक चुनौती का उत्तर देना पड़ता है तब वह यह बात खुले रूप से बिना हिचकिचाहटके कहडालते हैं। पांडवों का चाचा और कौरवों का सेनापति शल्य अनार्य है और कर्ण अनार्य्य रीतियों का अनुसरण करने के कारण उसकी भर्त्सना करता है। शल्य मद्रास का राजा था और उसकी बहिन दो पाडवों की जननी थी। इसलिए शल्य के विरुद्ध लगाये आरोप विशेषतः महत्त्वपूर्ण हैं। त्रिगर्त के सुशर्मा और भगदत्त-जैसे अनार्य राजाओं को राजपंक्ति में स्थान प्राप्त है। आदिवासी स्त्रियों के गर्भ से उत्पन्न पांडवों की संतानें युद्ध में मार्के का कौशल दिखाती हैं।

ब्राह्मण योद्धाओं—द्रोण, कृप, और अश्वत्थामा, कुम्हारों के घर रहनेवाले ब्राह्मणों, क्षत्रिय राजकुमारियों से विवाह करने के इच्छुक नीचजाति-के शूरवीरों तथा अन्य अनेक बातों से यह प्रकट होता है कि महाभारतकाल में चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की कठोरता का अंत होचुका था। वैसे भी, इसे एक आदर्श-सिद्धांत के रूपमें ग्रहण कियाजाता था, परंतु जीवन की वास्तविकता के शिकंजे पर इसे नहीं कसा जासकता था।

उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से यह देखा जासकता है कि राम की कहानी और कौरव-पांडव युद्ध का मध्यवर्ती समय भारतीय सभ्यता का प्रसवकाल था। दुर्भाग्यवश इसी ने बीच में एक गहरी खाई पैदा करदी है। इस अवांतरकाल का वृत्त हमें उपलब्ध नहीं है। हां, हम इतना अवश्य जानते हैं कि इस बीच में यह अदृष्टपूर्व रूपांतर हुआ; और जबतक महाभारत की घटनाएं हमारे सामने आयीं तबतक हिंदूसमाज पूरी तरह अपनी तरुणावस्था में पदार्पण कर चुका था।

सबसे पहली चीज भारत की भौगोलिक विजय है। हम नहीं कह सकते कि यह विजय किस प्रकार संपन्न हुई। रामायण में जगह-जगह जंगलों में जिन मुनियों के आश्रमों का वर्णन मिलता है वे समय बीतने पर उपनिवेश बनगये होंगे जहां से हिंदू जीवन का प्रकाश इधर उधर फैलता होगा। लोगों ने धीरे धीरे जंगल साफ किये होंगे, नदियों में नौकानयन आरंभ किया होगा, और भूमि जोतने लगे होंगे। आदिवासी धीरे धीरे इस सामाजिक जीवन में रचपच गये, और जहां कहीं उन्होंने इस प्रक्रिया का प्रतिरोध किया वहां कदाचित् उन्हें मैदानों से भागकर दुर्गम पहाड़ी कंदराओं में शरण लेनी पड़ी।

उस समय भौगोलिक ज्ञान की जो उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होरही थी उसका कुछ आभास तत्कालीन पुस्तकों से मिलसकता है। वैदिक आर्य केवल पंजाब और गंगा-यमुना के दोआबा से परिचित थे। आगे धर्मसूत्र में अनेक विभिन्न देशों और स्थानीय रूढ़ियों का उल्लेख मिलता है। बौधायन ने दक्षिणापथ अर्थात् दक्षिण में, वर्णसंकर जातियों का संकेत दिया है। गृह्यसूत्रकाल में लोग संभवतः भारत के भूगोल को अच्छी तरह जानते थे। जातिव्यवस्था के लचीले ढांचे में स्थानीय आदिमजातियों के समावेश और उनपर हिंदूसभ्यता के समारोपण की प्रक्रिया से नव्यआर्यों ने भारत में हिंदूसभ्यता की स्थापना की। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि यह ऐतिहासिक प्रक्रिया अबभी समाप्त नहीं हुई है। आदिवासी लोगों को, आजभी, इसी तरीके से हिंदू बनायाजाता है।

इस अवधि (सातवीं शताब्दी ई. पू.) की समाप्ति पर, हमारी आंखों के सामने भारत का जो सामाजिक चित्र आता है उसमें अनेक उन्नतिशील राज्य स्थापित दिखायी देते हैं। उनकी बगल ही में स्वतंत्रता का उपभोग करनेवाले शक्तिशाली आदिमजाति-के संघटन भी दृष्टिगत होते हैं। भारतीय सभ्यता के वक्षःस्थल-स्वरूप सिंधु-गंगा के मैदान में अनेक आदिमजातियां निवास करती थीं जो नतो परिवर्ती वैदिककाल के ग्रंथों में वर्णित राजनीतिक संघटन के सिद्धांतपथ ही का परिशीलन करती थीं और न उनके सामाजिक संघटन के अनुरूप अपना कायापलट करसकी थीं। उदाहरण के लिए, प्राचीन काल ही से वृष्णि, भोज और अंधक लोगों का शासन-प्रबंध बिना राजा के चलता था। इनके अतिरिक्त लिच्छवि, मल्ल और अन्य महत्त्वपूर्ण आदिमजातियों के नाम भी आये हैं। जातियों में अभी वैश्यों को वह ख्याति प्राप्त नहीं हुई थी जो आगे चलकर उन्हें मिलसकी। उस समय ग्राम्य सभ्यता का दबदबा था। वैश्य धन अर्जन करने, ऋण देने और व्यापार चलाने में दक्ष थे। इसलिए उनका उपर्युक्त समाज में गौण स्थान होना स्वाभाविक था। राजतंत्र की दृढ़ स्थापना

से नगर अधिक महत्त्वपूर्ण होचले। सामाजिक बंधन दृढ़ होगये थे। इस समाज का केंद्र परिवार था और इसकी छोटी-छोटी व्यावहारिक क्रियाओं पर भी गृह्यसूत्र का अंकुश रहता था।

भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ई. पू. का समय बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह पहला अवसर है जबकि हम समय के अनुसार घटनाओं का कुछ निश्चयपूर्वक क्रम निर्धारित कर पाते हैं। प्रायः जैन और बौद्ध परंपराओं में किसी समय के बारे में मतैक्य नहीं है। फिरभी ये दोनों मगध के राजा बिंबिसार, कौशांबी के राजा उदयन, कोशल के राजा प्रसेनजित, अवंती के राजा प्रद्योत, बुद्ध और महावीर के समय के बारे में सहमत हैं। बौद्धकाल ५६७-४८७ वर्ष ई. पू. स्वीकार किया गया है। बुद्ध से महावीर पहले उत्पन्न हुए और उनके समकालीन बनेरहे। पौराणिक अनुक्रमणिका में इन राजाओं और वंशावली का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार छठी शताब्दी ई. पू. के उत्तर भारत का राजनीतिक चित्र हमारी आंखों के सामने आजाता है। अवंती का शासक प्रद्योत था जिसकी राजधानी उज्जैन (उज्जयिनी) थी। इसीका नाम प्रचंडसेन भी था और इसका दामाद उदयन था जो कौशांबी का शासक था। उदयनकथा का नायक यही है जिसका उल्लेख कालिदास ने किया है और भासकृत नाटकों में जिसकी प्रशस्ति का डंका बजरहा है। गुणाढ्य, सोमदेव और अन्य लेखकों की कहानियों में इसका चरित्र-चित्रण कियागया है। कोशल के राजा प्रसेनजित ने तक्षशिला विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त की थी। बुद्ध के दर्शन करने की मुद्रा में उसकी मनोहर प्रस्तर प्रतिमा से हमें उसका परिचय उपलब्ध होता है। महाभारतकाल के पश्चात् भारत में मगध साम्राज्य की सबसे अधिक धाक छायी रही। इस विशाल साम्राज्य पर प्रतापी राजा बिंबिसार शासन करता था। बोध प्राप्त होने से पहले ही महात्मा बुद्ध का बिंबिसार से संपर्क स्थापित होचुका था। बाद में राजा बिंबिसार बुद्ध का चेला बनगया। उस समय मगध की राजधानी राजगृह थी। इस समय की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि लिच्छवियों, जो एक विशाल गणतंत्रीय आदिमजाति थी, और बिंबिसार के समय में भी मगध के राजाओं में मैत्री-संधि थी जिसकी पुनरावृत्ति अगले एक हजार से भी अधिक वर्षों तक बारंबार होती रही और कालांतर में जो उत्तर भारत के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना बनगयी।

इस समय के सामाजिक संघटन के कर्णधार गौतम और महावीर थे। उस समय चारों ओर विकट धार्मिक असंतोष दिखायी देरहा था। जैसा हम पहले कह चुके हैं, वैदिक यज्ञों और बलिदानों से जनता ऊब उठी थी और वैदिक देवता जनता की आध्यात्मिक ज्ञान-पिपासा शांत करनेमें असमर्थ होने के कारण पहले ही चलबसे थे। उपनिषदों ने आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के सिद्धांत का उपदेश दिया। किंतु यह एक प्रत्यक्ष ज्ञान का सिद्धांत था और इसका मर्म जानने के लिए उच्च कोटि से वैयक्तिक विकास की आवश्यकता थी। इसलिए यह नतो लोकधर्म का आधार बनसका और न साधारण पुरुष की मानसिक तृप्ति ही करसका। उपनिषदों की ब्रह्म, आत्मा, आदि की परिकल्पनाएं प्रकृष्ट ज्ञान-क्षेत्र के विषय बने रहे और

समय आनेपर उनसे आध्यात्मिक सिद्धांतों का जो स्रोत फूट-निकला उसमें डुबकी लगाकर भारतीय मानस आनंद-विभोर हो गया। किंतु सर्वसाधारण उपनिषदों के सिद्धांतों के अनुसार अपने जीवन को मोड़ने में असमर्थ रहे।

आत्मस्वरूप के प्रत्यक्ष अनुभव अर्थात् विशुद्ध ज्ञान की विचारधारा का एक महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि धार्मिक विचारवाले लोगों में वैराग्य की लोकप्रियता बढ़गयी। आर्य्य ऋषि आरण्यक थे जो सांसारिक जीवन के कोलाहल से दूर रहकर स्वाध्याय, चिंतन-मनन, और उपदेश करने में जीवन बिताते थे। स्थूल शरीर को पीड़ा देनेवाला तपश्चरण भी किया-जाता था, किंतु वह आध्यात्मिक ज्ञान की प्राप्ति का आवश्यक अंग नहीं मानाजाता था। हठयोग आर्यों से पहले आध्यात्मिक अनुशासन का साधन था। मोहेंजोदड़ो की एक सबसे बड़ी खोज शिव की योगमुद्रा है। शिव योगी का आसन मारे बैठेहुए हैं। एक ध्यानमग्न योगी की प्रस्तर-मूर्त्ति भी मिली है। इनसे स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि योग के सिद्धांत सिंधुघाटी सभ्यता की देन हैं। वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा का ह्रास होने और योग तथा समाधि में आस्था बढ़ने से केवलज्ञान प्राप्त करने का महत्त्व अधिक होगया। इसका परिणाम यह हुआ कि धार्मिक जीवन में वैराग्य का बोलबाला हो चला जिससे समाज के सामान्य जीवन और उसके धार्मिक नेता के जीवन में भारी विषमता पैदा होगयी। इससे अधिक आध्यात्मिक दिवालियापन का और क्या प्रमाण होसकता है?

इन विषम सामाजिक परिस्थितियों ने बुद्ध को जन्म दिया। महात्मा बुद्ध के जीवन की मुख्य घटनाएं अब किसी की आंखों से छिपी नहीं हैं। आपका जन्म ५६७ वर्ष ई० पू० हुआ था। आपके पिता शाक्यों के राजा शुद्धोदन थे। लुंबिनी उद्यानों में जन्म लेने की पुरानी जनश्रुति की अब पुष्टि होचुकी है क्योंकि २५० वर्ष ई. पू. अशोक का यहां बनवाया हुआ जो स्तूप मिला है उस पर यह स्पष्ट शब्दों में लिखा है : "यहां शाक्यमुनि बुद्ध ने जन्म लिया"। अपनी किशोरावस्था ही में गौतम का कोमल हृदय मनुष्यों को दुःखग्रस्त देखकर द्रवीभूत होउठा और उन्होंने मानव-कल्याण का मार्ग ढूंढ़ निकालने के लिए संसार का परित्याग किया। राजकीय वैभव को तिलांजलि देकर यह नरश्रेष्ठ सबसे पहले गुरु की खोज में लगगया जो उसे संसार में प्रतीयमान भ्रांतियों और रहस्यों का मर्म बतासके। वह कई महापंडितों की शरण में गये जिनमें से कुछ आत्मा की शुद्धि के लिए कठोर तपस्या द्वारा अपना हाड़-मांस गला-डालने में विश्वास रखते थे और कुछ के अन्य विशेष सिद्धांत थे। अलारों और उद्रकों ने गौतम को तपश्चरण की विधि या योगक्रियाएं सिखायीं। किंतु जब उनसे बुद्ध को अपने हाथ कुछ न-लगा दीखा तब उन्होंने अपने पांचों साथियों की भर्त्सना की और सामान्य आहार ग्रहण करना आरंभ करदिया। फिर वह अकेले सत्य की खोज में तत्पर होगये। वैशाख की पूर्णिमा को सिद्धार्थ को एकाएक बोध प्राप्त हुआ। उनपर जीवन और मृत्यु का रहस्य स्वतः प्रकट होगया। उन्होंने इस सत्यज्ञान को पहचान लिया। अब उन्हें जो अनंत प्रकाश मिला था उन्होंने उससे संसार को अवगत करने का निर्णय किया। बुद्धदेव अपने पहले-के गुरुओं को यह शुभसमाचार सुनाने के लिए

चलपड़े। किंतु उन्हें पता चला कि वे सब इस असार संसार से विदा हो चुके हैं। फिर उनका चित्त अपने उन पांच साथियों की ओर गया जो तपस्या के दिनों में उनका साथ छोड़कर चलेगये थे। अर्हत् ने वाणारसी की पावन नगरी के बाह्य अंचल में स्थित सारनाथ में उपर्युक्त पांचों साथियों को 'धर्मचक्रप्रवर्त्तन' पर अपना सर्वप्रथम प्रवचन सुनाया था।

चालीस वर्ष तक धर्मोपदेश करते हुए बुद्ध ने अपने उदानों, प्रवचनों और आध्यात्मिक वार्ताओं में जिस अमृत की वर्षा की उसका उल्लेख यहां नहीं किया जासकता है। बौद्ध सिद्धांतों का केंद्रबिंदु मध्यम मार्ग है जिसमें सत्य सन्निहित है। यह आर्य सत्य चार प्रकार का होता है :

(१) दुःख—जन्म, वृद्धावस्था, रुग्णावस्था, आदि का।

(२) दुःख का हेतु—तृष्णा, कामना, आदि।

(३) दुःख का निरोध—तृष्णा, कामना, आदि का उन्मूलन।

(४) दुःख—निरोध का उपाय—अष्टांगिक मार्ग है—अर्थात् सम्मादिट्ठि, सम्मा संकल्प, सम्मा वाचा, सम्मा कम्मांत, सम्मा जीव, सम्मा वायाम, सम्मा सति और सम्मा समाधि।

बुद्ध के धर्मोपदेश का केंद्रीय सिद्धांत यह है कि मध्यम मार्ग का अनुसरण करने से जीवन में तृष्णा से छुटकारा मिलसकता है जो सब दुःखों का मूल है। बुद्ध के समस्त उपदेशों का मूलस्रोत यही है। अपनी आयु के उन्यासीवें वर्ष तक यह परिव्राजक इधरउधर चलफिरकर धर्म का प्रचार करता रहा। वह प्रतिवर्ष चातुर्मास्य में कुछ काल के लिए अवश्य विश्राम किया करते थे। उन्होंने अपने उदानों में उस समय की बोलचाल की भाषा का प्रयोग किया जिससे जनता के सभी वर्गों का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हुआ और अन्य मतों के राजा, व्यापारी और अध्यापक उनके चरणों में आबैठे। यह महान उपदेशक किसी नये धर्म का नहीं अपितु नये आत्मबोध का संदेश जनता को देरहा था। उस समय और भी अनेक उपदेश थे जो इसी पथ का अनुसरण कर रहे थे। इनमें और गौतम में अंतर इतना ही था कि बुद्ध के संदेश से प्रेमामृत की एक ऐसी वर्षा हो रही थी जो दूर दूर तक बिखरी जनता के हृदयों को परिप्लावित करदेती थी। उनके विनम्रस्वभाव, प्रेम, दया और मानवता ने लोगों के हृदय को जीतकर उनमें अपना घर करलिया था। इसके अतिरिक्त, उनके अथक परिश्रम और सीधे-सादे संदेश ने उन्हें अपने धर्म-प्रचार में अभूतपूर्व सफलता दी। राजगृह का बिंबिसार उनका शिष्य बनगया, कोशल-नरेश प्रसेनजित बोधसत्त्व के चरणों में उनके पुनीत दर्शनों को उपस्थित हुआ, और बिंबिसार का पुत्र अजातशत्रु, यद्यपि उसे कुछ दिनों तक देवदत्त गुमराह किये रहा था, फिरभी आंखें खुलनेपर तथागत का पक्का अनुयायी बनगया। इस धर्मप्रवर्तक को 'गांव का जोगी जोगड़ा अन्य गांव का सिद्ध' की कहावत के विपरीत अपने देश में भी सम्मान मिला। शाक्त नेताओं ने इनके उपदेशों को ग्रहण करलिया और इस दिशा में वहां गौतम के पिता, पत्नी और पुत्र ही अगुवा बनकर सामने आये।

मध्यमवर्गों के लोगों पर बुद्ध के उपदेशों का और भी अधिक प्रभाव पड़ा। प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में व्यापारियों द्वारा बुद्ध को अनेक उपहार और दान देने का उल्लेख मिलता है

जिनमें सुदत्त का जेतवन का दान और विसुख का पुरवरम का उपहार उल्लेखनीय है। सामान्य जन के लिए बौद्ध धर्म का उपदेश एक नया 'सुसमाचार' था, उसे गोपनीय मंत्र, दुःसाध्य योग, या बलिदान की हवा तक छूकर न निकली थी। न उसमें उपनिषदों-जैसे सूक्ष्म, दुर्बोध सिद्धांत निमीलित थे। बुद्ध के उपदेशों में उनकी अपनी बोली में एक सहज भासमान सत्य की व्याख्या होती थी। चांडाल, जातिबहिष्कृत आदि सभी लोग उस मध्यम मार्ग का अनुसरण करके निर्वाण प्राप्त करसकते थे। बोधिसत्त्वसंघ की स्थापना एक धार्मिक क्रांति से भी बढ़कर एक सामाजिक क्रांति थी। भिक्षुओं के निवास के लिए बिहारों तथा बाद में भिक्षुणियों के आश्रमों की स्थापना से एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सूत्रपात होता है। बुद्धपूर्वकाल में इस प्रकार की संस्थाएं देखने में नहीं आतीं थीं। अबभी वे कुछ कुछ दैवाधीन परिस्थितियों में निर्मित हुई जानपड़ती हैं। बुद्ध के साधारण अनुयायियों ने उनकी सेवा में विभिन्न प्रतिष्ठान समर्पित कर दिये जिनमें उनके अनन्य भक्तों को रहने की अनुमति दे दीगयी। इन अनुयायियों ने घर-द्वार त्याग कर रहने की शपथ लेरखी थी। अतएव बुद्ध ने धीरे धीरे उनके बिहारों में, आश्रय लेकर, निवास करने के नियम बनाये। इस प्रकार उस बृहद् संघ व्यवस्था का श्रीगणेश हुआ जो आगे चलकर विभिन्न रूपों में विभिन्न धर्मों के पट्ट बांधकर संसार भर में फैलगयी।

बुद्ध को अनिच्छापूर्वक भिक्षुणियों को भी संघ में स्थान देना पड़ा। किंतु यह संसार के इतिहास में उपर्युक्त संघ व्यवस्था से भी बड़ी सामाजिक और धार्मिक क्रांति थी। बौद्धसंघ की स्थापना के पांचवें वर्ष में शुद्धोदन की विधवा रानी ने तथागत के सिद्धांत के अंतर्गत संसार छोड़ कर प्रव्रज्या ग्रहण करने अनुमति मांगी। बुद्ध ने लगातार तीन बार उसकी प्रार्थना को ठुकराया। किंतु वह फिर भी नहीं मानी और उसने अपने केश काट डाले, साधुओं के वस्त्र धारण करलिए और संघ का अनुसरण करने लगी। बुद्ध के शिष्य आनंद ने जब रानी और उसकी सहेलियों को एक पड़ाव पर रोते देखा तब उसने दयार्द्र होकर तथागत से बारंबार अनुनय-विनय की जो उसी भांति तीन बार ठुकरा दीगयी। तब आनंद ने एक सीधा प्रश्न पूछा : "जो स्त्री अर्हत् के उद्घोषित सिद्धांत और अनुशासन के अनुकूल गृहस्थ से गृहत्यागी के जीवन में प्रवेश करचुकी है, क्या वह आत्मबोध प्राप्त करसकती है?" बुद्धने उत्तर दिया : "हां, वह सत्यज्ञान प्राप्त कर सकती है"। तब आनंद ने स्त्रियों के संघ में प्रविष्ट होने के लाभ गिनाये जिनको स्वीकार करके बुद्ध ने उनके लिए संघका द्वार खोल दिया।

महाबोधि ने स्त्रियों के संघ-प्रवेश के विषयमें जो अष्टांगिका अर्थात् आठ कठोर नियम बनाये हैं उनसे प्रकट होता है कि उक्त निर्णय भलीभांति सोचसमझकर कियागया था। संघ-विधान की कुछ शर्तें ये थीं : (१) कोई भी भिक्षुणी एकांत स्थान में, जहां भिक्षुगण न होंगे, नहीं रह सकेगी, (२) भिक्षु-विधान के निदेशों के अंतर्गत प्रत्येक भिक्षुणीको प्रतिमास दो बार उपदेश दिया जाया करेगा; (३) गंभीर मामलों की सुनवाई भिक्षु और भिक्षुणियों की सम्मिलित सभा करेगी और वही अपराध के लिए दंड भी निर्धारित करेगी।

अपने ऐहिक जीवन में बुद्धदेव का जो प्रभाव जनता के हृदय पर पड़ा उसका अनुमान

उनके महापरिनिर्वाण के बाद की घटनाओं से लगाया जासकता है। महात्मा बुद्ध ने मल्लों के देश के कुशिनारा या कुशीनगर में ८० वर्ष की अवस्था में अपने नश्वर पंचभौतिक शरीर को छोड़कर निर्वाण प्राप्त किया। मल्ल उस समय की एक गणतंत्रीय जाति थी। अपनी इहलीला समाप्त करते समय बुद्धदेव का अंतिम प्रवचन यह था: "मिश्रित पदार्थ नाशोन्मुख होते हैं: सजग होकर प्रयत्न करो"। जब महात्मा बुद्ध के महाप्रयाण का संवाद सर्वसाधारण के कानों तक पहुंचा तब जिन लोगों में उन्होंने अपने जीवन-काल में घूमफिरकर धर्मप्रचार किया था, उन्होंने उनके फूलों में हिस्सा बटाने के लिए अपने प्रतिनिधि भेजे। अजातशत्रुने अपना भाग मांगा, स्वाभिमानी लिच्छवि भी मौके पर आधमके और फिर वे शाक्य जिनकी जाति में भगवान ने अवतार लिया था, पीछे कैसे रहसकते थे? निदान, अन्य लोगों ने भी अपने-अपने दावे पेश किये। मल्लों ने बुद्ध के फूलों का बंटवारा करने के प्रस्ताव का दो-टूक उत्तर दिया। उन्होंने निर्भीकतापूर्वक कहा कि वे अन्य किसी को फूल नहीं देंगे। लेकिन बाद में एक विनयशील, प्रज्ञात्मा ब्राह्मण के समझाने-बुझाने से वे फूलों को आठ भागों में बांटने के लिए राजी होगये। आगे चलकर अशोक और कनिष्क ने जिन फूलों के नाम पर स्तूप बनवाये वे इसी बटवारे के फलस्वरूप उपलब्ध हुए बतायेजाते थे।

जैनमत के प्रचारक महावीर भी बुद्ध के लगभग समकालीन थे। उनके क्रियाकलाप का भी यही समय था। वह जैनियों के अंतिम तीर्थंकर थे। जैन परंपरा महावीर से बहुत पहले की है, और जैनमत उनसे शताब्दियों पहले एक संप्रदाय के रूप में विद्यमान प्रतीत होता है क्योंकि बुद्ध के समय "निगंथ" का वर्णन अपने सुव्यवस्थित रूप में मिलता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक संत प्रतीत होते हैं। किंतु इस समय तक जैनमत अपने पृथक रूप में सामने नहीं आया था। वर्द्धमान महावीर ने उसे एक पृथक मत का कलेवर दिया। वर्द्धमान का जन्म एक क्षत्रिय परिवार में हुआ था और उनकी माता लिच्छवि जाति की कन्या थीं। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण करके तीस वर्ष तक चलफिरकर धर्मप्रचार किया। उन्होंने जैनमत का पुनरुद्धार किया और वह प्रायः समाज के समृद्धिशाली व्यापारी वर्गों में फैल गया। आज भी प्रायः गुजरात और राजस्थान के वैश्यों ही में जैनमतावलंबी प्रचुर संख्या में पायेजाते हैं।

बौद्ध और जैन आंदोलनों की दो बातों पर यहां प्रकाश डाला जासकता है। बुद्ध ने अपनी व्यवस्था में संघ पर विशेष जोर दिया है। प्रत्येक बौद्धधर्मावलंबी अपनी प्रार्थना में कहता है: "...संघं सरणं गच्छामि..." अपने जीवनकाल में बुद्धदेव ने संघ के लिए नियम बनाये और उसकी कार्यपद्धति निर्धारित की। वह संघ की प्रजातंत्रीय पद्धति पर बहुत जोर देते थे और उनका बनाया हुआ प्रत्येक नियम इस भावना से ओतप्रोत है। संघ की बैठक से पहले एक वरिष्ठ भिक्षु द्वारा यथेष्ट विधि से आसन बिछायेजाते थे जो इस विशेष काम के लिए मनोनीत कियाजाता था। जबतक कम-से-कम दस भिक्षु संघ की बैठक में भाग लेने के लिए उपस्थित नहीं होते थे तबतक सभी की वैध कार्यवाही आरंभ नहीं होसकती थी। किंतु सीमांतीय देशों की संघीय बैठक के लिए विशेष स्थितियों में यह गणपूरक संख्या घटाकर पांच कर दीगयी थी। नये भिक्षुओं और स्त्रियों को नतो मत देने ही का अधिकार

था और न उनकी गणना गणपूरक संख्या ही में कीजाती थी। अवैध निर्मित संघ के कार्यों को अनुपस्थित सदस्यों की स्वीकृति से वैध नहीं किया जासकता था। संघ का निर्णय प्राप्त करने के लिये प्रश्नों को औपचारिक रूप से उसके सामने प्रस्तुत करना पड़ता था। मतगणना, निर्णय तथा अन्य कार्यवाही को विधिपूर्वक लिखाजाता और उनका परिपालन कियाजाता था।

निःसंदेह, बुद्धके सामने वज्जी, लिच्छवि, और शाक्य आदिमजातियों की गणतंत्रीय पद्धति के दृष्टांत उपस्थित थे। इसलिए उनकी प्रेरणा से उन्होंने अपनी प्रजातंत्रीय पद्धति को अत्यंत विशद और परिष्कृत रूप प्रदान किया। वास्तव में उपर्युक्त आदिमजातियों का शासन-यंत्र अल्पतंत्र था, प्रजातंत्र नहीं। कुछ भी हो, इन जातियों की सभाओं द्वारा सार्वजनिक मामलों पर वादविवाद के बाद निर्णय कियाजाता था। यद्यपि इन सभाओं के सदस्य कुलीन-परिवार-वाले ही होते थे, फिरभी सभा की कार्यवाही और वादविवाद की प्रथा का विकास उनमें काफी पहले से होचुका था।

बुद्ध के संघ निःसंशय प्रजातंत्रीय पद्धति पर आधारित थे क्योंकि उनमें जनता के सभी वर्गों के भिक्षु सम्मिलित थे। इसके अतिरिक्त स्वयं यह आंदोलन प्रजातंत्र से अनुप्राणित था और इस संगठन में सभी जातियों के लोगों को बिना भेदभाव के स्थान दियागया था। स्वयं बुद्ध ने वेश्याओं, नीच जातियों, राजाओं और ब्राह्मणों, आदि सभी लोगों का आतिथ्य समान भाव से ग्रहण किया। अजातशत्रु के पूज्यपाद गुरु ने एक पतिता के घर भोजन ग्रहण करने के लिए गौरवशाली लिच्छवियों का न्योता अस्वीकार करदिया था। जो देश परंपरा से सनातनपंथी के गढ़ बनगये थे वे बुद्ध के उपदेशो के आगे थर्रा उठे। उस समय उनमें कैसी सामाजिक उथलपुथल मचगयी थी इसका अनुमान लगाना भी दुष्कर है।

बौद्ध और जैन दोनों में से किसीने भी आर्य-परंपरा से विचलित होने का दावा नहीं किया। किसीने भी लोकप्रिय पौराणिक कथाओं का परित्याग नहीं किया। बौद्ध और जैन दोनों की कहानियों में ब्रह्मा, शक्र, आदि देवताओं के नाम आते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के लिए केवल नये सिद्धांतों की व्याख्या कीगयी है। उनके उपदेशों के कारण जो सामाजिक क्रांति उत्पन्न हुई वह स्वयं इन धर्म-प्रवर्तकों का ध्येय नहीं थी। वह तो उनके ध्येय का एक अनुपूरक अंग थी। उधर ब्राह्मण लोग बुद्धधर्म का सामना करने के लिए समय रहते संभल नहीं सके। इसका कारण यह कि जब महात्मा बुद्ध ने अपना धर्म-प्रचार आरंभ किया तब सनातनी लोग पहले से यह बात नहीं समझा सके कि जो धर्म शांतिपूर्वक फैलाया जारहा है वह उनके लिए ऐसा भयंकर खतरा कैसे पैदा करदेगा। इसके अतिरिक्त उस समय विभिन्न पाखंडी प्रचारकों की देखदेख में अनेक अनीश्वरवादी संप्रदाय थे जिनमें प्रत्येक कोई नयी बात जानने और विशेष जीवनप्रणाली के प्रचार करने का दावा करता था। इसलिए सनातनी लोग यह समझने के लिए तैयार नहीं होसके कि उस व्यक्ति के उपदेशों से खतरा कैसे पैदा होसकता है जो केवल एक जीवनप्रणाली का प्रचार कररहा है। जबतक इन लोगों को बुद्ध की नयी जीवनप्रणाली के खतरों का उनवान मिला तबतक स्वयं बुद्ध की जड़ मजबूत होचुकी थी— उन्हें प्रसेनजित और बिंबिसार जैसे राजाओं का समर्थन प्राप्त हो चुका था।

इस काल में अनेक नास्तिक संप्रदायों का फूट-निकलना एक बड़े मार्के की बात है। बौद्ध और जैन साहित्यों में अनेक प्रकार के साधु-सन्यासियों के अखाड़ों का वर्णन मिलता है जो विभिन्न सिद्धांतों और आचारों का उपदेश दियाकरते थे। आजीवक लोग शूद्र सन्यासी होते थे जिनका नेता मक्खाली गोसाल था। मक्खाली जन्म से दास और एक जड़-उखाड़ परिवर्तन वादी प्रचारक था जिसने हिंदुओं के आधारभूत परमोज्ज्वल कर्म-सिद्धांत ही को अस्वीकार करदिया था। इसी प्रकार का एक अन्य संप्रदाय अजितकेशकंबला द्वारा संस्थापित कियागया था जिसका कहना था कि प्रत्येक पदार्थ का अवसान मृत्यु में निहित है। इसे शून्यवाद का जन्मदाता मानाजाता है। पुराणकाश्यप एक तेजस्वी ब्राह्मण उपदेशक थे जिनका मत था कि कर्म गुणावगुणशून्य होता है। वह बड़े ही लोकप्रिय पंडित थे। इसी प्रकार अनेक नामों का उल्लेख मिलता है, किंतु उनके विचारों के बारे में हमें ना-बराबर मालूम है क्योंकि उनके विचारों का विवरण स्वतंत्ररूप में कहीं नहीं मिलता है। उनके विरोधियों को साहित्य में उसका आभास भले ही मिल जाता है। यहां यह बात उल्लेखनीय है कि बुद्ध के जमाने में अनीश्वरवादी संप्रदायों की संख्या बहुत अधिक होगयी थी। इससे कम महत्त्वपूर्ण बात यह भी नहीं कही जासकती कि उस समय परिव्राजक धर्मप्रचारकों की संख्या भी अधिक थी जो चलफिरकर अपने सिद्धांतों का प्रचार करते थे और उनका कोई संगठित संप्रदाय या अखाड़ा नहीं होता था। जानपड़ता है कि उस समय हिंदूधर्म का सामान्य विकास होगया था जैसा कि हम आजकल देख रहे हैं।

देश की स्थिति के उपर्युक्त सिंहावलोकन से हमें जानपड़ता है कि देश में धार्मिक असंतोष की लहर फैलीहुई थी, किंतु फिरभी यह स्पष्ट है कि तब समाज में भौतिक समृद्धि और संतोष की भावना का अभाव न था। व्यापारी वर्ग शक्तिशाली होगया था। बौद्धों और जैनियों दोनों को साहित्यों में बड़े व्यापारी राजकुमारों की कथाएं मिलती हैं जो दूसरे नगरो के धनवानों से मित्रता के संबंध रखते थे। इनके अतिरिक्त, व्यापारियों, उद्यानों और विश्रामालयों के स्वामी मध्यमवर्गीय लोगों तथा भव्य भवनों और साधारण मकानों के भी उल्लेख मिलते हैं।

बुद्ध के चेले अजातशत्रु ने पाटलिपुत्र नगरी भी बसायी थी जो एक सहस्र वर्ष तक भारत का मुख्य नगर बनीरही। जब बिंबिसार मगधसाम्राज्य पर शासन करता था तब राजगृह उसकी राजधानी थी। किंतु लिच्छवियों की शक्ति का दमन करने के लिए अजातशत्रु ने गंगा के किनारे एक दुर्ग बनाने का निर्णय किया ताकि यहां से उन उद्धत लोगों पर अंकुश रखा जासके। इस अद्भुत नगर का निर्माण योजना के अनुसार कियागया था और अपने समय का यह एक आश्चर्य कहा जाता था। आगामी १५० वर्षों तक मगध पर इसी वंश का अधिकार बनारहा। उसके पश्चात् नंदवंश सिंहासनारूढ़ हुआ। खारवेल के हाथीगुंफ शिलालेख से पता चलता है कि नंदराजाओं का कलिंग पर भी शासन था। नंदराजा लोग इतने समृद्धिशाली थे कि इनकी प्राचीन कथाएं दक्षिण में भी चलीगयीं और यहांतक कि उनका उल्लेख एक तमिल कविता में मिलता है। उससे जानपड़ता है कि नंदराजाओं में राजकीय विलास और वैभव की अभिरुचि उत्पन्न होगयी थी जिसके कारण मगध राज्य की ख्याति और भी बढ़गयी। महापद्मनंद के राजकाल ही में सिकंदर ने पंजाब पर आक्रमण किया था।

अध्याय ३

साम्राज्यों का युग [क]

चौथी शताब्दी ई. पू. का उत्तरार्द्ध संसार के इतिहास में एक अत्यंत महत्त्वपूर्णच रण है इस पचास वर्ष की संक्षिप्त अवधि में धरती के वक्षःस्थल पर पच्छिम से पूरब तक अनेक प्रभावशाली घटनाएं देखने में आयीं। उदाहरण के लिए मकदूनिया की उदीयमान शक्ति के आगे यूनान के नगर-राज्यों ने घुटने टेक दिये और वे एक-एक करके विलुप्त होगये; फिर सिकंदर के साम्राज्य का अंत होने पर यूनान का भाग्य अस्त होगया; मध्यपूर्व में ईरान की शक्ति धराशायी होगयी; रोमनगर का नन्हा-सा गणतंत्र विस्तृत होकर एक बृहत् प्रादेशिक शक्ति के रूप में बदल गया; और भारत की विशाल भूमि पर एक साम्राज्य की स्थापना कीगयी। इस बात को मानना ही पड़ेगा कि इस अर्द्ध शताब्दी में यूरोप, मध्यपूर्व और भारत का संपूर्ण इतिहास भविष्य के लिए निर्मित कियागया। इसी अवधि में भूमध्यसागर एक शक्ति के अंतर्गत संगठित होगया; सेल्यूकसवंशियों ने मध्येशिया में अपनी सत्ता जमाली और फिर कभी न-भूलनेवाली साम्राज्योचित परिपाटी की स्थापना भारत में हुई।

तीनसौतीस ई. पू. में ईरानी साम्राज्य पर सिकंदर की विजय ने उसे एकाएक भारत की सीमांत पर लाकर खड़ा कर दिया। कुछ समय से पंजाब ईरान के राजाओं की एक 'सत्रपी (प्रांत) बनाचला आरहा' था और इसलिए यह बात यहां उल्लेखनीय है कि मकदूनिया ने अपना आक्रमण भारत पर नहीं, प्रत्युत ईरानी साम्राज्य के उपर्युक्त प्रांत पर किया था। भारत-भूमि पर सिकंदर के तथाकथित युद्ध किसी संगठित राज्य के विरुद्ध न-होकर उन स्थानीय सरदारों के विरुद्ध थे जो ईरान के राजा की सत्ता स्वीकार कर बैठे थे। उसने इन कठ-पुतली सरदारों को सहज में जीत लिया और वह व्यास नदी के किनारे पर आडटा जहां ईरानी प्रदेश की सीमा का अंत होता था। वहां से उसने अपनी सेना को वापस लौटाने का आदेश दिया। सिकंदर ने पंजाब का जो क्षेत्र जीता था उसे तीन सत्रपियों में बांट दिया और प्रत्येक पर एक भारतीय शासक प्रतिष्ठित कर दिया।

सिकंदर के भारत-भूमि से पीठ फेरते ही उधर गड़बड़ी फैलगयी, जिसने चंद्रगुप्त नामक एक युवक के लिए अपने भाग्य-निर्माण का द्वार खोलदिया। हिंदू जनश्रुतियो के अनुसार, चंद्रगुप्त नंदवंश की एक दोगली संतान था और उस समय वह निर्वासन की अवस्था में पंजाब में अपने जीवन के दिन काटरहा था। अपने अद्भुत प्रतिभासंपन्न गुरु और दूरदर्शी ब्राह्मणमंत्री चाणक्य की सहायता और सलाह से, चंद्रगुप्त ने सबसे पहले सिकंदर द्वारा पंजाब में तैनात

कीगयी फौजों को इस देश से मार निकाला और फिर उसने नंदराजा पर धावा बोलदिया। चंद्रगुप्त उसे युद्ध में हराकर मगध का राजा बन बैठा।

इस प्रकार चंद्रगुप्त अपनी छोटी अवस्था में एक संगठित, शक्तिशाली और वैभव-संपन्न साम्राज्य का स्वामी बनगया जिसमें अनेक शताब्दियों तक सुयोग्य राजाओं के शासनकाल के अंतर्गत उच्चकोटि के शासनप्रबंध की परंपरा ही का विकास नहीं हुआ अपितु जिसका राज्य प्रायः समग्र सिंधु-गंगा की घाटी फैला रहा। चाणक्य की प्रेरणा और पथप्रदर्शन से चंद्रगुप्त ने समझौते की साहसपूर्ण नीति का परिशीलन किया जिसकी व्याख्या मुद्राराक्षस नाटक में देखने को मिलती है। इस नाटक की मुख्य कथावस्तु इस विषय पर आधारित है कि महामात्य चाणक्य ने किस प्रकार अंतिम नंदराजा के कर्त्तव्यनिष्ठ, दृढसंकल्प मंत्री राक्षस को समझाबुझाकर चंद्रगुप्त की सेवा करने के लिए बाध्य करदिया। ऐसा होने ही पर चाणक्य ने दावा किया था कि अब नंदों की पूरी पराजय होचुकी है और मौर्यसाम्राज्य स्थापित होचुका है। इस विवेकपूर्ण नीति से चंद्रगुप्त अपना साम्राज्य दृढ़ करने में सफल हुआ और थोड़े ही समय के भीतर उसका प्रभुत्व सिंधु से लेकर ब्रह्मपुत्र और हिमालय से लेकर विंध्याचल तक फैले-हुए समस्त हिंदुस्तान पर जमगया। यह पहला अवसर था जबकि हिंदुस्तान पर एक प्रभावशाली साम्राज्योचित सत्ता की स्थापना हुई जो उसका संगठन करने में सफल होसकी।

इस संगठन का परिणाम शीघ्र ही सामने आगया। ३०५ वर्ष ई. पू. सिकंदर के एक सफल सेनापति सेल्यूकस ने सिंधु नदी को इस आशा में पार किया कि वह भारत की भूमि पर मकदूनिया के दिवंगत स्वामी के इतिहास की पुनरावृत्ति कर सकेगा। सेल्यूकस को यूनानियों ने "निकटार" अर्थात विजयी के उपनाम से विभूषित किया था। वास्तव में, वह सिकंदर का सबसे योग्य सेनापति था और भारतीय प्रदेश में पदार्पण करने से पहले वह बेक्ट्रिया में अपनी सत्ता की दृढ़ स्थापना करचुका था। जब सेल्यूकस ने भारत की पच्छिमी सीमा की ओर कूच किया तब उसकी अवस्था बदल चुकी थी। इस समय यह प्रदेश ईरानी साम्राज्य की एक बाह्य सत्रपी नहीं था जिसपर कोई दुर्बल सामंत शासन कररहा हो। उसे यहां पर एक विशाल साम्राज्य की सेनाओं से लोहा लेना पड़ा। इधर कुछ वर्षों से यूनानी सैन्य-व्यूह को विजय पर विजय प्राप्त होती आरही थी। किंतु इस बार संग्राम में उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा, और अपनी बहादुरी की डींग मारनेवाले यूनानी महाबलाधिकृत को गर्दन झुकाकर पराभव-पूर्ण संधि करनी पड़ी, जिसके अनुसार उसे विजयी भारतीय सम्राट के चरणों में अपनी कन्या और सिंधु के पच्छिम से लेकर काबुल तक का सारा प्रदेश समर्पित करदेना पड़ा। सेल्यूकस ने मौर्य-दरबार में मेगास्थनीज नामक अपना राजदूत भी रखा जिसने भारत का जो विवरण लिखा है उसके कुछ अंश सौभाग्यवश हमें उपलब्ध हैं।

चंद्रगुप्त के साम्राज्य के प्रांतों का शासनसूत्र उन अधिकारियों के हाथ में होता था जिनकी नियुक्ति सीधी केंद्रीय सरकार द्वारा कीजाती थी। हमें विदित है कि काठियावाड़ के दूरवर्ती प्रांत का राज्यपाल पुष्यगुप्त को नियुक्त कियागया था जिसने वहां खेती की सिंचाई की एक बृहत् व्यवस्था की थी जो उसकी शासकीय प्रतिभा का परिचायक कही जासकती है। उसने

विशाल दीवारों द्वारा गिरनार में नदी का बांध बनवाकर सुदर्शन झील का निर्माण करवाया और इसपर जो लेख अंकित मिले हैं उनसे प्रकट होता है कि इस झील की देखभाल कितनी सतर्कता से कीजाती थी। यह झील इंजीनियरी के कलाकौशल का एक नमूना है और इसे प्राचीन भारत की सिंचाई-व्यवस्था का एक ज्वलंत उदाहरण कहा जासकता है, जो अभीतक हमारी आंखों के सामने मौजूद है। यह भी स्पष्ट है कि चंद्रगुप्त ने सिंचाई-विभाग में कर्मचारियों की पूरी-पूरी व्यवस्था की थी जो नहरों और जलाशयों को बनाने और चालू रखने का भार संवहन करते थे। इनपर व्यय प्रांतीय अथवा केंद्रीय सरकार की आय से लेकर किया-जाता था। छोटी-छोटी सिंचाई-व्यवस्थाएं ग्रामसमुदायों के हाथों में थीं। सिंचाई के उपयोग में आनेवाले पानी की तौल-नाप करने और फिर उसकी महसूल-दर लगाने की प्रणाली उसी प्रकार प्रचलित थी जैसी हम आजकल भारत में देखते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सिंचाई के पानी की दरों का उल्लेख है और सिंचाई के विनियमों की उपेक्षा करनेवालों के लिए दंड-विधान का भी वर्णन कियागया है।

उपराजों के अंतर्गत प्रांतों में जो सरकार स्थापित थी उसे सीधे शासन का अधिकार प्राप्त था। यही नमूना भारत में साम्राज्यपद्धति का आधार बनारहा है। यही व्यवस्था मौर्यसाम्राज्य के विभिन्न प्रांतों में स्थापित थी। इसका पता हमें मौर्यों के शिलालेखों से चलता है। संभव है कि इस प्रकार की प्रांतीय शासनपद्धति नंदराजाओं के जमाने से चली आरही हो, किंतु दूरवर्ती प्रांतों में उसका प्रचलन करने और उसे शासनपद्धति का रूप देने का श्रेय चंद्रगुप्त को है। केंद्रीय सरकार अपने नियम-विनियमों से इस प्रांतीय शासन पर नियंत्रण रखती थी और विशाल साम्राज्योचित विभाग उसका निरीक्षण करते थे।

चंद्रगुप्त ने २४ वर्ष शासन किया। ३०१ वर्ष ई. पू. उसकी मृत्यु के उपरांत उसका बेटा बिंदुसार राजसिंहासन पर बैठा। विस्तार, शक्ति और वैभव की दृष्टि से चंद्रगुप्त का साम्राज्य अपने पूर्ववर्ती राजवंशों के सभी राजाओं से बढ़चढ़कर था। इस अदृष्टपूर्व ऐश्वर्य के कारण किस्सा-कहानियों, कविताओं और नाटकों में उसका नायक की भांति चित्रांकन और गुणगान कियागया है।

चंद्रगुप्त के अंतर्गत राज्य का संगठन किस प्रकार का था, हमें इसका विस्तृत विवरण सुलभ है। चाहे अर्थशास्त्र ग्रंथ का लेखक स्वयं चाणक्य हो या उसकी विचारधारा का कोई अनु-यायी, इसमें निःसंदेह मौर्यसम्राट की उस प्रशासनप्रणाली का वास्तविक चित्रांकन कियागया है जो उस समय प्रचलित थी।

मौर्य साम्राज्य का शासनप्रबंध दफ्तरशाही ढंग का था। राज्य की हलचलों पर नियंत्रण रखने और उनका संचालन करने के लिए अनेक विभाग काम करते थे। जिन विभागों का वर्णन कौटिल्य ने किया है उनमें ये विभाग मुख्य हैं: लेखा, राजस्व, खान, शस्त्रागार, सीमा-शुल्क और कर; कृषि, व्यापार, नौकानयन, उत्पादन-शुल्क, और पशुपालन।

साम्राज्य के संगठन का मेरुदंड सेना थी। यह राज्य का कार्यांग विभाग था जिसके हाथ में जनता के जीवन की नकेल थी। राजस्व-संग्रह के लिए गांवों को मिलाकर 'मंडल'

बना दियेगये थे और प्रतिरक्षा के उद्देश्य से उनका पृथक 'वृत्त' बनाया गया था जिसके केंद्र में गढ़ से सुरक्षित एक गांव होता है। इन गांवों के बीच गमनागमन के साधनों का संगठन बड़ी सावधानी से कियाजाता था। साम्राज्य का संगठन और उसकी सुरक्षा राजमार्गों पर निर्भर थी और मौर्य अधिकारी इस ओर विशेष ध्यान देते थे। 'महाराजमार्ग' जिसे "ग्रांड ट्रंक रोड" का पूर्ववर्ती राजपथ कहा जासकता है, उस समय संसार के लिए एक आश्चर्यजनक वस्तु थी। मेगास्थनीज इसी मार्ग से होकर पाटलिपुत्र पहुंचा था और उसने इस राजपथ का वर्णन अपने शब्दों में किया है जो हमें प्राप्य है। इस विशाल मार्ग का पहला चरण साम्राज्य के सीमांत से चलकर तक्षशिला प्रांत की राजधानी पर समाप्त होता था। दूसरा पंजाब के पांच नदों को पार करके यमुना के वक्षःस्थल को चीरता हुआ कन्नौज के मार्ग से प्रयाग पहुंचता था जो उस समय और उसके बाद तक एक सामरिक और राजनीतिक महत्त्व का नगर बना रहा। फिर तीसरा चरण प्रयाग से पाटलिपुत्र और वहां से गंगा के मुहाने पर जाकर समाप्त होता था। यह केंद्रीय राजमार्ग साम्राज्य-सरकार के एक विभाग की देखरेख में था जो नदियों के आरपार जाने के लिए नौकाओं का प्रबंध करता और मील-के-पत्थर गढ़वाता था। सड़क के किनारों पर छायादार पेड़ लगवाना सदा ही धार्मिक कार्य समझा जातारहा है। अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के राजमार्गों का वर्णन कियागया है और उसकी रक्षा का दायित्व राज्य और जनता पर बतायागया है।

समुद्र में जहाज चलाने और नदियों में नौकानयन का दायित्व नौसेना विभाग पर था। जहाजी यातायात की मंडली राज्य का एक बृहद् विभाग मानाजाता था। इसका प्रमुख अधिकारी एक मंत्री होता था जो समुद्रों में जहाज चलाने आदि सभी जहाज संबंधी कामों की देखरेख करता था। उसके अधीन आयुक्तों, पत्तनपतियों, आदि का एक कर्मचारीमंडल रहता था जिसका काम संकटकाल में जहाजों की देखभाल करना था।

मौर्यों के राजस्व के मुख्य साधन भूमिकर, खानों और खनिजों के उपयोग से आय, व्यापार-कर, नमक ठेका का कर, सीमा-शुल्क और उत्पादन शुल्क थे। किसान को अपनी उपज का १/६ भाग और व्यापारी को अपने लाभ का १/४ अंश देनापड़ता था। द्यूतगृहों और मदिरालयों के अनुज्ञाशुल्क से भारी आय होती थी। नमक के ठेकों के कर से भी राज्य-कोषागार में काफी धन इकट्ठा होता होगा। मौर्यों की करप्रणाली का एक दर्शनीय रूप यह है कि उसमें और आधुनिक भारतीय कर-प्रणाली के बीच बहुत अंतर नहीं था। चाणक्य की राजस्वपद्धति को, अंग्रेजों ने भारत में अपनाया और उसे एक परिष्कृत रूप दिया। अर्थशास्त्र में जिस पद्धति का वर्णन मिलता है वह विलुप्त नहीं होगयी है, अपितु उसमें वर्तमान भारतीय पद्धति का सारूप्य देखा जासकता है।

मौर्यसाम्राज्य में पुलिसराज का दबदबा छाया रहता था। साम्राज्य की दीवार गुप्तचर-प्रणाली पर टिकी हुई थी। वेदों के समय में भी शासक गुप्तचरों का उपयोग जानते थे। ऋग्वेद में जो प्रसंग मिलता है उसका हिंदी में आशय यह है:

"अपने गुप्तचरों को इधर उधर (चारों दिशाओं में) भेजो जो वेगगामी हों।

फिर कभी धोखा नहीं होसकेगा। निकट या दूर कोई भी तुम्हारा अनिष्ट करने में संलग्न हो, उसकी सूचना उन्हीं गुप्तचरों से प्राप्त करो।"

रामायण में प्रसंग आता है कि राजा राम ने सीता के विषय में लोकापवाद की सूचना एक गुप्तचर के मुख से पायी थी जिसके कारण उन्होंने सीता का परित्याग किया। वास्तव में, भारत में गुप्तचरों को सदा ही राजा की आंखें और कान माना जाता था। मौर्यों से पहले भी जो राज्य थे उनमें भी गुप्तचरों को अभीष्ट स्थान प्राप्त था। किंतु जानपड़ता है कि गुप्तचरों का एक संगठन बनाकर उसको राज्य की सुरक्षा के क्रियाकलाप में तत्पर करने का काम चाणक्य ही ने किया। अर्थशास्त्र में पांच प्रकार के गुप्तचर गिनायेगये हैं: प्रमादी जिन्हें देखकर यह जानपड़ता है कि वे गंभीर व्यक्ति नहीं, ज्योतिषी, सामुद्रिकशास्त्री और अन्य लोग जिनपर जनता का विश्वास होता है, परिव्राजक को जो सभी वर्गों मे घूमते-फिरते हैं, और वे लोग जिनका कृषि और व्यापार से सीधा संबंध होता है। इन पांचों को भेदिया कहा जासकता है। उनका विभाग कोई पृथक नहीं होता था। दाइयां, रसोइयों, गणिकाओं और भिक्षुणियों को नियमित प्रशिक्षण देकर राजसेवा में इसी कामपर लगा दिया जाता था। पुलिस के पास भड़कानेवाले गुर्गे, गुंडे और विष देनेवाले भी होते थे। चाणक्य ने इस आशय के उदाहरण भी दिये हैं कि गुप्तचरों से कैसे काम लेना चाहिए।

अर्थशास्त्र में जिस पुलिसराज का वर्णन दियागया है उसे पढ़कर किसी भी व्यक्ति के रोंगटे खड़े होसकते हैं। लेकिन इसकी सीमाएं स्पष्टरूप से निर्धारित थीं। जनता के सामान्य जीवन पर निगाह रखीजाती और राजा को उसकी सूचना दीजाती थी; किंतु उसमें हस्तक्षेप नहीं कियाजाता था। प्राचीन काल की पुस्तकों में गुप्तचरों का यह कर्त्तव्य बतायागया है कि वे राजा को जनता के विचारों से परिचित रखने के लिए सीधी सूचना भेजा करें। इसलिए वे सभी वर्गों के लोगों में स्वच्छंद घूमा करते थे। उनका दूसरा कर्त्तव्य सुरक्षा का ध्यान रखना था। द्रुतगामी संचरणपद्धति द्वारा दूरवर्ती प्रांतों की घटनाओं की सूचना मुख्यालय तक भेजीजाती थी। गुंडों, विष देनेवालों, आदि की व्यवस्था से स्पष्टतः प्रतीत होता है कि मौर्य-राज्य अपने शत्रुओं को परंपरागत ढंग से उन्मूलन और विनष्ट करने में तनिक भी तरस नहीं खाता था।

चाणक्य ने जिस शासनप्रणाली का विकास किया या जो उसे पहले से भारत में प्रचलित मिली या अर्थशास्त्र में किसी प्रकार जिसका वर्णन कियागया है, वह बिना किसी व्यापक संशोधन के शताब्दियों तक जारी रही। अंतिम हिंदू राजे तक मौर्य साम्राज्य के संगठन का तीन आवश्यक क्षेत्रों में अनुकरण करते रहे। ये तीन क्षेत्र राजस्वसंग्रह-प्रणाली, दफ्तरशाही और पुलिसराज से संबंध रखते हैं। कालांतर में मुसलमानों ने इस संगठन को जिस रूप में पाया उसी में अपना लिया। अंग्रेजों ने भी उसी पथ का अनुसरण किया। यदि अंग्रेजों के भारतीय प्रशासन की तह में जाकर उस की छानबीन की जाए तो स्पष्ट होजाएगा कि उन्होंने भी इस देश में चाणक्य के सिद्धांतों और आचारनीति का प्रयोग किया था।

चंद्रगुप्त का उत्तराधिकारी उसका बेटा बिंदुसार था। उसके समय में मौर्य-सत्ता दक्षिण में

भी स्थापित होगयी। दक्षिण को उसने कदाचित् विजय से अथवा अधिक संभव यह है कि स्थानीय राजाओं को संतुष्ट करके अपनी राजसत्ता के अंतर्गत लेलिया था। यह साम्राज्य दक्षिण में मैसूर तक फैलाहुआ था। कलिंग को छोड़कर समस्त भारत या तो मौर्यों के प्रत्यक्ष प्रशासन के अंतर्गत आगया था या मौर्यों की प्रभुसत्ता की छत्रच्छाया में था। सेल्यूकस के बाद उसके पुत्र ऐंटीओकस ने मौर्यों के दरबार में अपनी दौत्य प्रथा बनाये रखी जो उसके पिता ने मूलतः चलायी थी। मिस्र के राजा तोलेमी फिलाडेल्फस ने अपना राजदूत दिओनाइसियस को पाटलिपुत्र भेजा। बिंदुसार ने एंटीओकस से, वास्तव में, एक उत्तम यूनानी दार्शनिक भेजने की प्रार्थना की थी। यह शांति का युग था जिसमें साम्राज्य की श्रीवृद्धि दिन दूनी और रात चौगुनी हुई और जब २६९ वर्ष ई. पू. बिंदुसार का पुत्र अशोक सिंहासनारूढ़ हुआ तब साम्राज्य केवल समृद्धिशील और शक्तिशाली ही नहीं था प्रत्युत उसमें आंतरिक शांति भी छायीहुई थी।

पहले राजकुमार अशोक सीमावर्ती प्रांत तक्षशिला और फिर उज्जैन का उपराज रहचुका था। उसके शासन के प्रारंभिक वर्ष शांतिपूर्वक बीते। २६१ वर्ष ई. पू. वह कालिंग के युद्ध में फंस गया। कालिंग राज्य उस समय एक बड़ी समुद्री शक्ति था और उसका प्रदेश महानदी तथा कृष्णानदी के बीच में फैलाहुआ था। केवल कलिंगों ही ने उस समय तक मौर्य प्रभुत्व स्वीकार नहीं किया था। हमें युद्ध के कारणों का ज्ञान नहीं है। किंतु हमें शिला पर अंकित १२ वीं राजघोषणा से ज्ञात होता है कि एक भीषण नरमेध के बाद अशोक को कलिंग पर विजय मिली थी और उसने उस प्रदेश को अपने साम्राज्य में मिलालिया था।

इस निरर्थक रोमांचकारी रक्तपात से अशोक का हृदय द्रवीभूत होगया। उसने एक सच्ची मानवीय घोषणा द्वारा अपना प्रायश्चित्त किया: उसने कहा कि सच्ची विजय तो आत्मविजय होती है। उसने संसार में धर्मराज्य की स्थापना का बीड़ा उठाया और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने एकतार अनेक घोषणाएं कीं जिन्हें साम्राज्य के विभिन्न भागों में शिलाओं पर खोदवाया गया। वह केवल एक धर्मप्रचारक राजा ही न था, प्रत्युत वह असंदिग्धरूप से पहला व्यक्ति था जिसके दिमाग में यह बात आयी कि सरकार की ओर से प्रचार-कार्य का कितना महत्त्वपूर्ण परिणाम निकलसकता है। उसकी सार्वजनिक शिक्षाओं, नियमों, तथा पशु, पक्षी या प्राणिमात्र के प्रति दया बरतने के धार्मिक आदेशों, और पहाड़ी आदिमजातियों तक में उसके उत्साहपूर्ण धर्म-प्रचार को देखकर यह कहा जासकता है कि राजा के कर्त्तव्यों के बारे में उसकी परिकल्पना बेजोड़ थी। उसके विचार से राजा शक्ति का पुतला न-होकर संसार में शांति, सद्भावना और दया की स्थापना करने का साधन था।

अशोक ने अपने साम्राज्य में और सीमावर्ती आदिमजातियों में जो धर्म प्रचार किया उससे उसे संतुष्टि नहीं हुई। उसके बाप और दादा के जमाने में विदेशों ने भारत के साथ जो दौत्य संबंध जोड़ रखे थे वे उसकी इच्छानुसार सुदूर देशों में बौद्ध सिद्धांतों का प्रचार करने के लिए उपयोगी सिद्ध हुए। उसने सीरिया, मिस्र, मकदूनिया और एपीरस में धर्म-प्रचार-मंडलियां भेजीं। हमें इन प्रचार-मंडलियों के बारे में न-बराबर मालूम है। लंका का बौद्धधर्म ग्रहण करना इस महान सम्राट की एक बड़ी सफलता मानी जासकती है। लंका के

बौद्धधर्म में दीक्षित होने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। सम्राट के भाई महेंद्र के नेतृत्व में पहली धर्म-प्रचार-मंडली लंका गयी थी। महेंद्र स्वयं भिक्षु बनगया था। लंका के तत्कालीन राजा ने 'अष्टांगिक मार्ग' स्वीकार कर लिया। उसने स्वयं महेंद्र से धर्म की दीक्षा ली थी। दूसरी प्रचार-मंडली सम्राट की बहिन संघमित्रा के नेतृत्व में लंका गयी थी। वह भारत के पूर्वी तट के सहारे समुद्री मार्ग से लंका पहुंची थीं। वह अपने साथ पवित्र बोधवृक्ष की डाली लेगयी थीं जो अबतक लंका में एक हरेभरे पेड़ के रूप में अपनी कहानी बतारही है। सांची की प्रस्तरमूर्त्तियां लंका में 'बोधवृक्ष' के जाने की साख भर रही हैं।

अशोक को बौद्ध सम्राट पुकाराजाता है और भारतीय इतिहास में उसका शासनकाल बौद्धकाल कहलाता है। भारत में बौद्धमत और हिंदूमत केवल एक सामुदायिक विभेद था। उन क्षेत्रों में इतना ही मतभेद था जितना शैव और वैष्णव मतों में कहा जासकता है। धार्मिक सिद्धांतों में मतभेद के कारण किसी को अलग कर देने की परिकल्पना मानव सभ्यता की एक शैशवकालीन प्रवृत्ति है और भारत दीर्घकाल तक इससे बचारहा। अपने जीवन-काल में स्वयं बुद्ध को एक हिंदू संत अथवा अवतार मानाजाता था और उनके अनुयायी विशाल आर्यपरंपरा के एक संप्रदाय के अंगमात्र थे। जिस प्रकार हर्ष बौद्ध था या कुमार पाल जैन था, उसी प्रकार अशोक भी एक बौद्ध था। परंतु उस काल के हिंदुओं की दृष्टि में वह एक गण्यमान्य हिंदूसंप्रदाय का अनुयायी हिंदू राजा था। स्वयं उसके शिलालेखों से इस बात का पर्याप्त प्रमाण मिलता है। यद्यपि स्वयं उसके सिद्धांत मध्यम मार्ग का अवलंबन करते थे, फिरभी उसकी दृष्टि में ब्राह्मण, श्रमण, आदि सभी बराबर थे और वह सबको समानरूप से उपहार दियाकरता था। उसने स्वयं अपना नाम 'देवानांप्रिय' अर्थात् देवताओं का लाड़िला रखा था। ये कौनसे देवता थे ? निश्चय ही ये आर्यों के देवता थे। बौद्धधर्म में तो अपने देवता हैं ही नहीं। राजधर्म बनाने के नाते चौथी शताब्दी के रोमन सम्राट कांस्टेंटाइन का ईसाई मत में जो स्थान है वही बौद्धमत में अशोक का है—इसे ईसाईमतावलंबी यूरोप की भ्रांत धारणा के सिवा और कुछ नहीं कहा जासकता। अशोक वास्तव में उतना ही हिंदू था जितने बौद्धमत के जन्मदाता बुद्ध स्वयं हिंदू थे।

भारतीय संस्कृति की अशोक ने अप्रतिम श्रीवृद्धि की है। उसने समस्त उत्तरी भारत में जगह-जगह अनेक स्तूप बनवाये, विशद स्थापत्यकला के प्रतीक प्रस्तरस्तंभ जगह-जगह गड़वाये और अपने समूचे साम्राज्य में प्रत्यक्ष सांस्कृतिक एकता की भावना का संचार किया। उसके शिलालेखों में नियम-विनियम, शिक्षा और उपदेश लिखे पायेजाते हैं जिनको देखकर तत्कालीन साहित्य के गौरव का आभास मिलता है। यह साहित्य निश्चय ही उस काल की जनता के लिए एक प्रबल प्रेरणा-स्रोत रहा होगा। अपने साम्राज्य की सीमा से बाहर के राजाओं और चार दक्खिनी राजाओं—अर्थात् चोल, पांड्य, सत्यपुत्र और केरल—के साथ उसके अटूट मैत्री-संबंध थे। लंका के धर्मपरिवर्तन से यह दक्खिनी टापू निश्चय ही भारतीय जीवन की छत्रच्छाया में आगया था।

इन शिलालेखों से हमें अशोक के साम्राज्य की प्रांतीय शासनपद्धति का कुछ कुछ ज्ञान होता

है। जिन चार प्रांतों में उपराज शासन-सूत्र का संचालन करते थे वे ये हैं: कलिंग, जिसकी राजधानी तोसली थी; अवंती, जिसकी राजधानी उज्जैन थी; उत्तरापथ (पंजाब, इत्यादि), जिसकी राजधानी तक्षशिला थी; और मध्यप्रदेश, जिसकी राजधानी सुवर्णगिरि थी। मगध और गंगाघाटी के क्षेत्रों पर केंद्र का सीधा शासन था। यह प्रदेश विषयों (जिलों) में विभक्त था जिनपर विषयपति (जिला-अधिकारी) शासन करते थे। सीमांतीय क्षेत्र सामंतों के अधिकार में थे जो सम्राट की प्रभुसत्ता की अधीनता स्वीकार करते थे।

अशोक के बुढ़ापे में घरेलू कलह ने अशांति पैदा करदी थी। कारण यह था कि उसने परंपरा के अनुसार अपने से बहुत अल्प आयु की एक स्त्री से विवाह करलिया था। राजप्रासाद के षड़यंत्र का शिकार होकर, वयोवृद्ध सम्राट ने अपने पुत्र कुणाल को दंड दिया, किंतु बाद में जब उसे कचा चिट्ठा मालूम पड़ा तब उसकी आंखें खुलगयीं और उसने राजकुमार को फिर अपना स्नेहभाजन बना लिया। अशोक के बाद उसका पौत्र राजसिंहासन पर बैठा और उसका साम्राज्य एक शताब्दी तक संगठित बनारहा। १८३ वर्ष ई. पू. में मौर्यों के अंतिम राजा बृहद्रथ की उसके प्रधानमंत्री पुष्यमित्र ने हत्या करदी। इसप्रकार, भारत में साम्राज्य की स्थापना करनेवाले प्रथम महान राजवंश का सूर्यास्त होगया।

अध्याय ४

मौर्यकाल का जीवन

मौर्य शासनकाल में भारतीय जीवन का सिंहावलोकन करने के लिए हमारे पास विभिन्न प्रकार के प्रचुर प्रमाण हैं। जिसप्रकार धर्मशास्त्रों से, विशेषतः मनु की रचना से, हमें जिस जीवन का चित्र प्राप्त होता है वह निःसंदेह उस काल के विधानशास्त्रियों के दृष्टिकोण का दर्पण है, उसीप्रकार अर्थशास्त्र में जिस समाज का वर्णन कियागया है वह एक प्रशासक के दृष्टिकोण से निखित हुआ है, जो अपने समय की समस्याओं में मुख्यरूप से उलझा हुआ था। वात्स्यायन के कामसूत्र में हमें तत्कालीन सामाजिक जीवन का वर्णन मिलता है। अब जो थोड़ेबहुत विदेशी स्रोत उपलब्ध होने लगे हैं उनके आधार पर इस सर्वांगीण चित्र की परीक्षा और उसमें संशोधन किया जासकता है।

हम पिछले अध्याय में पढ़चुके हैं कि मौर्यराज्य में ऐसे शासन-यंत्र की स्थापना हुई थी जिसने विशाल क्षेत्रों पर सीधा शासन करने और कृषि, उद्योग, व्यापार, पशुपालन, आदि के बारे में नियम-विनियम लागू करने का प्रयास किया था। यद्यपि यह प्रत्यक्ष है कि ये नियम सीधे केंद्र या उपराज द्वारा प्रशासित प्रदेशों को छोड़कर अन्य क्षेत्रो में अच्छी तरह लागू नहीं किये जासके फिरभी इस समय सरकार का काम केवल राजस्व संग्रह करने ही तक सीमित नहीं था अपितु उसने देश के उत्पादन और व्यापार की हलचलों पर भी अपना नियंत्रण कर रखा था। प्राचीन काल की शासनपद्धतियों की तुलना में इस काल का यह परिवर्तन महत्त्वपूर्ण कहा जासकता है।

जानपड़ता है कि संगठनों और श्रेणियों के कारण औद्योगिक जीवन का विकास पहले ही से होने लगा था। श्रेणियां या व्यापार संघ उस समय शक्तिशाली संस्थाएं मानीजाती थीं। उदाहरण के लिए सांची के स्तूप से पता चलता है कि विदिशा में हाथीदांत के शिल्पकारों की श्रेणियां पच्चीकारी और नक्काशी का काम करती थीं जुन्नर की गुफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि यह गुफा अनाज के सौदागरों की श्रेणी ने दान में दी थी। सोनारों और रेशमी कपड़ा बुननेवाले जुलाहों की श्रेणियों का भी उल्लेख मिलता है। नासिक की कंदरा के लेख (लगभग २०० वर्ष ई. पू.) से विदित होता है कि एक मंदिर को जो संपत्ति दान में मिली थी वह बुनकरों की दो श्रेणियों को व्याज पर दे दीगयी थी। इनसे मंदिर को व्यय के लिए ब्याज के रूप में सदा द्रव्य मिलता रहता था। कदाचित् यह सामूहिक बैंक-पद्धति का सबसे प्राचीन लिखित उदाहरण है जो इस दृष्टि से यहां उल्लेखनीय है।

औद्योगिक श्रेणियों की रचना से शिल्पकारों के हाथ में एक बड़ी राजनीतिक औ रआर्थिक

शक्ति आगयी। इसने स्मृतिकारों द्वारा निर्धारित जाति-पांत व्यवस्था के प्रतिबंधों को भी शिथिल कर दिया। ये श्रेणियां बहुतकुछ सरकारी काम किया करती थीं। किंतु भारत के अनेक सामाजिक इतिहासकारों ने स्मृतिकारों की क्रमबद्ध वर्णव्यवस्था पर अपना ध्यान केंद्रित करके अपना अभिमत प्रकट कर दिया है और इन श्रेणियों की शक्ति को कम कूतने की प्रवृत्ति दिखायी है। वास्तव में, तब भी इन श्रेणियों की शक्ति का अपना स्थान था। शिल्पकारों का, समाज में सदा ही सम्मान होता था किंतु वर्णव्यवस्था के पाखंड ने उनको शूद्रों की श्रेणी में ढकेलदिया था। स्मृतियों द्वारा थोपीगयी निर्योग्यताएं उन शिल्पकारों का बाल बांका न कर सकीं जो श्रेणियों में संगठित होगये थे, जिन्हें राजाश्रय प्राप्त था, जिनके पास प्रचुर साधन थे और जो प्रभावशाली शक्ति का उपभोग कररही थीं।

भीटा के उत्खननों से उपर्युक्त श्रेणियों के अनेक ठप्पे मिले हैं जिन्हें आजकल की भाषा में निगम कहा जासकता है। सर जोन मार्शल के अनुसार, इन पक्की मिट्टी के ठप्पों में से एक ठप्पे पर "तीसरी या शायद चौथी शताब्दी ई. पू. के अक्षर" अंकित हैं। मार्शल का दावा है कि उन्हें जो भवन उत्खनन में मिला था वह शिल्पकारों के किसी संघ का मुख्यालय रहा होगा। डा. ब्लाक भी इस निर्णय पर पहुंचे हैं कि पाटलिपुत्र-जैसे बड़े केंद्रों पर 'आधुनिक व्यापार संघ से मिलतीजुलती संस्थाएं' रही होंगी।

औद्योगिक शिल्पकारों के संगठन के मुकाबले में चातुर्वर्ण्य को नीचा देखना पड़ा। किंतु जो शिल्पकार अनुत्पादक व्यवसाय करते थे उनको समाज में फिरभी हेय दृष्टि ही से देखा जाता था। जानपड़ता है कि अभिनेताओं अर्थात् नाटक करनेवालों या स्वांग भरनेवालों, नटों, जादूगरों, भांड़ों, विदूषकों, पक्षीपालकों, सपेरों, आदि को समाज में कभी मान्यता नहीं दीगयी। उस समय रंगरेजों, जुलाहों, महायंत्रप्रवर्तकों, खनकों, स्थापत्यकारों, बढ़इयों, धातुकर्मियों, संगतराशों, रत्नजड़ियों, इंजीनियरों, नाविकों, आदि का समाज में बड़ा ही मान था और लोग प्रायः इन व्यवसायों में बड़ी अभिरुचि रखते थे।

बुद्ध के समय में भी पूंजीवाद का अभ्युत्थान होरहा था, इसकी चर्चा पहले की जाचुकी है। शिलालेखों से पता चलता है कि मौर्यकालीन भारत में संपत्ति की बड़ी वृद्धि हुई। सांची के स्तूप से धनकुबेर व्यापारियों के दान का लेखा मिलता है। इनके लिए श्रेष्ठिन् शब्द का प्रयोग कियागया है। जिस सेठों ने पुनरुद्धार के काम के लिए धनराशि दी उनके भी नाम दियेगये हैं। विहारों और मंदिरों के लिए दान देना सामान्य बात होगयी थी। जैन और बौद्ध मतों के ग्रंथों में भी अपने प्रारंभिक समय के व्यापारी वर्गों की समृद्धिशीलता का वर्णन मिलता है।

देश में सामान्य शांति होने और आंतरिक व्यापार तथा वाणिज्य बढ़ने के अतिरिक्त, समुद्री गमनागमन और व्यापार के कारण कदाचित् भारतीय भौतिक समृद्धि बढ़चली थी। अशोक के समय तक मगध राज्य के पास समुद्री यातायात के प्रचुर साधन नहीं थे। निःसंदेह, चंद्रगुप्त ने पृथक नौसैनिक विभाग की स्थापना की थी जिसका काम बंदरगाहों की देखभाल करना नदियों में नौकानयन को चालू रखना और यथासंभव जहाजी

यातायात को प्रोत्साहन देना था। किंतु साम्राज्य की भौगोलिक स्थिति देखकर यह कहना असंदिग्ध नहीं कि चंद्रगुप्त और बिंदुसार की रुझान समुद्री यातायात की ओर थी। चंद्रगुप्त का नौसैनिक विभाग गंगानदी के नौका घाटों की देखभाल रखता था और नावों द्वारा माल ढोने के लिए नदियों का उपयोग कियाजाता था। जानपड़ता है कि इन अंतर्वर्ती घाटों में जितना नौकानयन संभव था उसे यथेष्ट प्रोत्साहन देने में कसर न उठा रखीगयी थी। परंतु कलिंग की विजय के कारण उसके समुद्री बंदरगाहों पर मौर्यसाम्राज्य का नियंत्रण होगया जिससे उसके समुद्री यातायात की हलचलों में बहुत उन्नति हुई। इसका प्रमाण यह है कि सम्राट अशोक की बहिन संघमित्रा समुद्री मार्ग से लंका गयी थीं। यदि समुद्री मार्ग अच्छी तरह से विदित और चालू नहीं होता तो सम्राट अपनी बहिन को जहाज से इतनी लंबी यात्रा करने की अनुमति कदापि नहीं दे सकते थे। इसके अतिरिक्त हमें मालूम है कि कलिंग के लोग परंपरा से सुयोग्य नाविक चले आरहे थे और मौर्यसाम्राज्य की सीमा में उसी कलिंग के समुद्रतट का समावेश होने से उस समय के व्यापारियों की समृद्धिशीलता में बढ़ोतरी होना स्वाभाविक ही था।

देश के भीतरी व्यापार पर पूरा ध्यान दियाजाता और उसे प्रोत्साहित कियाजाता था। नदियों के आरपार जाने के लिए नावें चलती थीं और देशभर में सुरक्षापूर्वक गमनागमन की पद्धति का विकास होचुका था। चाणक्य ने जो नियम-विनियम निर्धारित किये थे उनका स्पष्ट उद्देश्य व्यापार को उन्नत करना था; और सुरक्षित गोदामों तथा परिवहन-प्रणाली से संकेत मिलता है कि उत्तर भारत में एक सत्ता की स्थापना होने से आर्थिक जीवन में मार्के की प्रगति हुई। हाथीगुंफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि पहले किसी राजा ने जो नहर बनवायी थी उसका विस्तार खारवेल ने किया। सरकार की देश के आंतरिक परिवहन में दिलचस्पी थी और व्यापारमार्गों की रक्षा के लिए विशेष प्रबंध कियागया था।

पाटलिपुत्र मुख्य नगर था। छठी शताब्दी ई. पू. में अजातशत्रु ने गंगा के एक मोड़ पर इस नगर की नींव डाली थी, किंतु धीरे धीरे यह ससार का एक अत्यंत प्रसिद्ध नगर बन गया। भारतीय ग्रन्थों में जिस राजप्रासाद का नाम सुगांगय प्रासाद मिलता है उसमें मौर्यसम्राट निवास करता था। वह नगर के केंद्र में स्थित था। मेगास्थनीज के शब्दों में यह राजप्रासाद सूसा और एकबातन के प्रासादों से कहीं अधिक तड़कीला-भड़कीला था। यहां उत्खननों से उसका विवरण प्रकाश में आया है। नगर के सामने नव मील से भी अधिक दूर तक नदी फैलीहुई थी। उसकी बन-वाटिकाओं और भव्य भवनों के सौंदर्य की कहानी भारत भर में कहीजाती थी। कथासरित्सागर में गुणाढ्य के समय (प्रथम शताब्दी ई. पृ.) अभिमतों का संकलन है जिनमें पाटलिपुत्र को संस्कृति, विद्या और ललित कलाओं के केंद्र के रूप में अंकित कियागया है और उसे संसार के नगरों में शिरोमणि बतायागया है। यहां यह बात जानने के योग्य है कि पाटलिपुत्र को नंदनगर भी कहाजाता है। वह विद्या और धन का भंडार था। इसे पुष्पनगर की भी उपाधि प्राप्त थी और उस साम्राज्यकाल में इसकी शान का मुकाबला करना असंभव था। जानपड़ता है कि इस नगर में सब जातियों और

प्रदेशों के विविध लोग बसते थे। इसमें संदेह नहीं कि यह नगर शताब्दियों तक भारत के बौद्धिक जीवन के क्षितिज पर, शुक्रनक्षत्र की भांति चमकता रहा, क्योंकि हमें इस बात के विपुल प्रमाण मिलते हैं कि पाटलिपुत्र में विद्याध्ययन के लिए चारों दिशाओं से छात्रों का तांता बंधारहता था। स्वनामधन्य महर्षि पतंजलि ने इसके दुर्गों का वर्णन किया है, और इसका सुगांगेय प्रासाद भारतीय साहित्य में उसी प्रकार विख्यात है जिस प्रकार यूरोपीय साहित्य में वार्साई, क्वीरीनल या विंडसर। खारवेल के हाथीगुंफा-शिलालेख में इस राजप्रासाद के नाम का उल्लेख कियागया है। और उसमें यह भी लिखाहुआ है कि नंद राजा कलिंग राजधानी से एक जिन-मूर्ति लेगया जो उसने पाटलिपुत्र में जाकर प्रतिष्ठित की। यह चमत्कारी मूर्ति बाद में यहां वापस आगयी।

जानपड़ता है कि सबका-सब नगर काठ का बनाहुआ था। इसी कारण जब इस नगर को विध्वंस कियागया तब वह इतनी बुरी तरह तहसनहस होगया कि बाद में केवल पुरातत्त्ववेत्ता ही उसके मूलस्थल की खोज लगासके। साम्राज्य की राजधानी के अतिरिक्त कुछ अन्य नगर भी थे जो उस समय के वैभव से चकाचौंध पैदा करदेते थे। यद्यपि ये पाटलिपुत्र के समान महत्त्वपूर्ण नहीं थे फिरभी साम्राज्य की समृद्धि की छाया उनपर भी पड़ी थी। लिच्छवियों की वैशाली, अवंती की राजधानी उज्जैन, जहां अशोक कभी उपराज या मांडलिक था, और अमरपुरी वाराणसी साम्राज्य के प्रसिद्ध नगर थे। तक्षशिला में सुप्रसिद्ध विद्यापीठ ही न था प्रत्युत वह स्वयं एक महत्त्वपूर्ण प्रादेशिक राजधानी भी थी। वैशाली तो पाटलिपुत्र से भी पुराना नगर था। रामायण में इसका प्रसंग आया है और कहागया है कि इसकी आधारशिला राम के पूर्वज इक्ष्वाकु ने रखी थी। महावीर को भी वैशाली का एक नागरिक मानाजाता है और बुद्ध का तो इस नगर से घनिष्ट संबंध था। प्रारंभिक जैन और बौद्ध साहित्यों में चैत्यों, नगरों और आरामों का वर्णन नगर के संदर्भ में बहुधा उपलब्ध होता है। जातक के अनुसार बुद्ध के समय में इस नगर के तीन परकोटे थे जिनमें अनेक फाटक और बुर्ज बनेहुए थे। जहां राजप्रसाद थे, उन नगरों के अतिरिक्त अन्य नगरों का विकास मंथर गति से हुआ। इस विषय में भीटा का एक ज्वलंत उदाहरण है। यहां के उत्खनन से सिद्ध होगया है कि यह नगर एक बड़ा व्यापारिक और औद्योगिक केंद्र था और वहां संभवतः गंगा के किनारे एक पत्तन भी था।

नगरों के विकास और वहां जीवनोपयोगी वस्तुओं की सुलभता के कारण अमीर लोगों में नागर जीवन लोकप्रिय हो गया। उस समय किसी नागरिक के प्रमुख लक्षण ये थे : उसकी रुचि परिष्कृत होती थी, उसकी विशेष आचारसंहिता थी, वह तड़क-भड़क का जीवन बिताता था और प्रायः सुख-लोलुप होता था। वात्स्यायन ने नागरिक जीवन का वर्णन करतेहुए तत्कालीन नागर संस्कृति का सजीव चित्र अंकित किया है। उनके मतानुसार धनी और शिष्ट आदमी के रहने के लिए केवल नगर ही उचित स्थान है। उनका यह अभिमत बौधायन के दृष्टिकोण के नितांत प्रतिकूल है जिसने लिखा है कि भले आदमी को शहरों से बचना चाहिए। वात्स्यायन का कथन है कि जिस आदमी को सभ्य जीवन पसंद है उसे अपना

मकान नगर या कस्बे के निकट बनाना चाहिए ताकि वह अपने वर्ग के लोगों से हिलमिल सके। कामसूत्र के अनुसार नगर-निवासी का घर दो भागों में विभक्त होता था—एक भाग स्त्रियों के लिए और दूसरा पुरुषों के लिए । ये दोनों भाग भारत में अब तक चले आरहे हैं। इस घर के आसपास बगीचा होता है जो फूलदार पौदों और फलदार पेड़ों से हराभरा दीखता है। इस बगीचे के बीच में साधारणतः जलाशय होता है। इस बगीचे का उपयोग गृहस्थी और मनोरंजन दोनों के लिए कियाजाता है क्योंकि वात्स्यायन ने चबूतरों और कुंजों दोनों का उल्लेख किया है जहां बैठकर नागरिक आराम और मनबहलाव कर सकें। धवल चांदनी छिटके भवनों की खुली छत या चबूतरों पर बैठकर लोग सुहृद्-गोष्ठियां या संलाप किया करते थे।

तरुणों के कमरों के वर्णन से उस समय के इस वर्ग के आत्मीय जीवन की झांकी मिलती है। ये कमरे आराम और विहार की उत्कृष्ट सामग्रियों से भरपूर थे। रंगमंजूषाएं, वाद्ययंत्रों, आदि को रखने के लिए घरों में हाथीदांत के दीवारगीर और सौंदर्यप्रसाधनों के लिए सिंगारदान होते थे। उस समय कुर्सियां नहीं थीं और लोग धरती पर कालीन बिछाकर या आसनी डालकर बैठते थे। कमरों की सजावट फूलों से कीजाती थी और उनके बाहर दालानों में शुक-सारिका आदि के पिंजड़े टंगे रहते और पालतू जानवर रखेजाते थे।

इस प्रकार ठाठबाट से रहनेवाला नागरिक अपना समय उचित मनोविनोदों और मनभावते काम-धंधों में बिताता था। उसके शृंगारिक प्रसाधनों का विस्तृत विवरण मिलता है जो विशेषरूप से मनोरंजक है। प्रति दिन स्नान के बाद युवक अपने शरीर पर अंगराग लगाता था। उसके पहिनने के वस्त्रों में भीनी-भीनी सुगंध बसी रहती थी। वह अपनी आंखों में काजल आंजा करता था। उसके ओंठों पर मोम से रगड़कर लाली का लेप कियाजाता था ताकि उसका रंग जल्द ही फीका न पड़जाए। उसकी पोशाक में दो वस्त्र होते थे। पहला वस्त्र उत्तरीय था जो शरीर के कमर से ऊपर के भाग को ढकता था। धर्मशास्त्र में लिखा है कि ब्रह्मचर्य अथवा छात्रजीवन पूर्ण करने के बाद युवक को यह उत्तरीय धारण करना चाहिए। हमें लिच्छवी युवकों का उल्लेख मिलता है जो नीले, पीले और लाल रंग के उत्तरीय पहनेहुए बुद्ध के दर्शन के लिए आये थे। यह उत्तरीय लैसदार या सादा रंगीन रेशमी कपड़े का, जो प्रायः महीन होता था, बनायाजाता था। कपड़ा बहुधा मनुष्य की संस्कृति और सामाजिक स्थिति की कसौटी बनारहा है। उदाहरण के लिए भासकृत नाटक की नर्तकी वसंतसेना अपने निर्धन प्रेमी के कपड़ों को देखकर ही ताड़ गयी थी कि वह किसी समय एक फ़ैशनदार आदमी रहा होगा।

शरीर की मालिश का बहुत चलन था; और नागरिक उन शारीरिक व्यायामों की अवहेलना नहीं करता था जिनसे शरीर में स्फूर्ति बनीरहती है और वह सुगठित बनारहता है। वह दिन में दो बार मुख्य भोजन करता था। वात्स्यायन ने विलासी लोगों के षड्रस-व्यंजनों का वर्णन किया है। चावल, गेहूं, जौ और दूध तो प्रमुख भोज्य पदार्थ थे ही, वात्स्यायन ने मांस को भी एक महत्त्वपूर्ण आहार बताया है। शोरबे की शकल में, भुनाहुआ या अन्य ढंग से लोग मांस

का सामान्य प्रयोग किया करते थे। यह नहीं भूलना चाहिए कि महाभारत में द्रौपदी-स्वयंवर के अवसर पर प्रीतिभोज के लिए विविधप्रकार के पशुओं, यहांतक कि भैंसों, का वध कियागया था। बौद्ध साहित्य में भी प्रायः मांसाहार का उल्लेख मिलता है। विविध प्रकार के मद्यों, मधु और कसैला (आसव), का सामान्य प्रयोग होता था। उस समय शराब पीने का आम रिवाज जानपड़ता है और इसीलिए चाणक्य को मदिरालयों पर अंकुश रखने के लिए निश्चित नियम बनाने पड़े होंगे।

वात्स्यायन ने जो चित्र हमारे सामने उपस्थित किया है वह स्पष्टतः भोग-विलास में डूबे हुए तरुण समाज का है जिसके पास मौज उड़ाने के लिए पैसा और समय दोनों ही थे। इस समाज को जीवन की रंगरेलियां भाती थीं। उसका चित्त उत्सवों की धूमधाम में फंसा रहता था। मुरगों की लड़ाई और दांव लगाने में उसका जी लगता था। संगीत कला में उसकी चित्तवृत्ति रमती थी और वह सार्वजनिक आमोदप्रमोद के स्थलों को संरक्षण देता था। उपर्युक्त तरुण समाज के जीवन से गांव के जनसाधारण के जीवन का कोई संबंध नहीं था। किंतु वात्स्यायन का यह वर्णन नगरों की उस उच्च कोटि की परिष्कृत सभ्यता की झांकी उपस्थित करता है जो शताब्दियों के वैभव और सुस्थिर शासन के कारण यहां अपना घर करचुकी थी।

जनता अपने उत्सव-समारोह कैसे मनाती थी, इसके वर्णन भी उपलब्ध होते हैं। संयुक्त निकाय में लिच्छवियों के सब्बारत्तिवार उत्सव का विस्तृत उल्लेख मिलता है। सारी जनता मानों उसमें भाग लेती थी। हिंदू ऋतु-उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाते थे। उनके प्राचीन साहित्य में इसकी झलक मिलती है। वसंतोत्सव, आदि का उल्लेख तो प्राचीनकाल से चला आरहा है। जैनियों का दावा है कि महावीर के निर्वाण के समय जो अठारह राजे उपस्थित थे उन्होंने मशालें जलायी थीं और तभी से उनके मतानुसार दीपावली की वर्तमान परंपरा चली आरही है। हिंदू परंपरा के अनुसार प्रथम दीपावली तब मनायीगयी थी जब भगवान राम बनवास से लौटकर अयोध्या में पधारे थे। दीपावली का प्रादुर्भाव कैसे भी हुआ हो, वह बहुत प्राचीन काल से भिन्न-भिन्न नामों से मनायी जारही है। हमें और भी स्थानीय त्यौहारों के उल्लेख मिलते हैं, जैसे यादवों की गिरिपूजा। यादवलोगों की उत्सवों में बड़ी अभिरुचि जानपड़ती है। वे उत्सव मनाने के लिए लोगों को बड़ी संख्या में निर्दिष्ट भूमि पर लाकर इकट्ठा करते थे। पुष्पोत्सवों का भी वर्णन मिलता है। वस्तुतः प्रत्येक ऋतु-परिवर्तन के अवसर पर उचित रूप से आमोदप्रमोद मनायाजाता था।

नृत्यक्रीडा में तो सभी की अभिरुचि थी। अर्थशास्त्र के अनुसार, द्यूतगृहों को सरकारी अनुज्ञापत्र लेना पड़ता था और उनपर प्रशासन का नियंत्रण होता था। वात्स्यायन ने नागरिक के कमरे में द्यूत के पांसों के होने का उल्लेख किया है और उस समय गांवों में भी पिछड़े प्रकार की द्यूतक्रिया बहुत ही प्रचलित जानपड़ती है। रमणियों को कंदुकक्रीडा पसंद थी और स्त्रियों के मनोरम उद्यानों में इस कंदुकक्रीडा का प्रसंग प्रायः मिलता है। कुलीन युवक आखेट भी किया करते थे। हमें ऐसा उल्लेख मिलता है कि जब बुद्ध वैशाली में एक पेड़ के नीचे विश्राम कर रहे थे तब कई लिच्छवी युवक वहां आये जिनके पास शिकारी कुत्ते भी मौजूद

थे। राजाओं और राजकुमारों की दृष्टि में मृगया उनके कर्त्तव्य का एक अंग समझीजाती थी जिससे कि हिंस्र पशुओं के उपद्रवों से लोगों की रक्षा की जासके। किंतु मृगया मनोरंजन का भी एक लोकप्रिय उपकरण बनगया था। नाव-खेना, पानी में तैरना और तीर-चलाना हस्तलाघवता के खेल थे जिनमें तरुण एक-दूसरे-से प्रतिस्पर्धा कियाकरते थे।

लोगों को संगीत और नृत्य का बहुत शौक था। नागरिक अपना मनोरंजन संगीत से करता था। वात्स्यायन ने लिखा है कि नागरिक को अपनी वीणा एक विशेष टांड़ पर धरनी चाहिए। जाति की दृष्टि से नाट्याचार्य को समाज में नीच मानाजाता था किंतु मालविकाग्निमित्र नाटक में लिखा है कि राजा के नाट्य-शिक्षकों को राजदरबार में ऊंचा और प्रभावशाली स्थान दिया-जाता था। स्मरण रहे कि अज्ञातवास के दिनों पांडवश्रेष्ठ अर्जुन विराट राजा की कन्या को नाट्य और संगीत सिखाया करते थे। भास के पंचरात्र नाटक में इस व्यवसाय को सामाजिक दृष्टि से कितना निंद्य मानाजाता था, इसका उल्लेख है। एक पढ़ेलिखे आदमी को जो चौसठ कलाएं आनी चाहिए उनमें नृत्य और संगीत का ऊंचा स्थान था। बौधायन (५०० वर्ष ई. पू.) ने नाट्याचार्य का उल्लेख किया है। भरत के नाट्यशास्त्र की प्राचीनता असंदिग्ध है। उसमें नृत्य और संगीतकला को सीखने की एक सुदीर्घ पद्धति का वर्णन कियागया है। भरत के समय तक ये पेशेवर कलाकर सामाजिक बदनामी के शिकार होचुके थे। उनकी उस समय कितनी निम्न सामाजिक स्थिति थी, इसपर प्रकाश डालने के लिए अभिनेताओं को शाप देने की एक लंबी कहानी कही गयी है। किंतु स्वयं इन कलाओं को बड़ी ऊंची निगाह से देखा-जाता था और सभी वर्गों के स्त्री-पुरुषों से उन्हें सीखने के लिए अनुरोध कियाजाता था।

शिक्षा का काफी व्यापक प्रचार था। धर्मशास्त्रों में अपढ़ ब्राह्मण की निंदा कीगयी है। वर्णाश्रमधर्म के नियमों में तीनों द्विजातियों के लिए गहन अध्ययन की अवधि नियत थी। ब्राह्मणों का मुख्य कार्य अध्ययन था, किंतु जानपड़ता है कि बुद्ध के समय के बाद बौद्ध भिक्षुओं ने विहारों में जो सुविधाएं उन्हें दीगयी थीं उनके अनुसार जनता को शिक्षित करने में बहुत सराहनीय योगदान किया। परंतु सनातन पद्धति यह थी कि एक सुयोग्य गुरु के चरणों में बैठकर अध्ययन किया जाए, और राजा तथा सरदार लोग तो अपने बच्चों की शिक्षा के लिए निजी अध्यापक रखते थे। कुलीन लोग साक्षरता को जीवन का आवश्यक अंग मानते थे। तक्षशिला, उज्जयिनी और वाराणसी विद्यापीठ प्राचीन काल से प्रसिद्ध थे। राजा प्रसेनजित स्वयं दूरस्थ (तक्षशिला) विद्यापीठ में पढ़ने गये थे। धम्मपद में महाली नामक एक लिच्छवी युवक का नाम आया है जिसने विद्याध्ययन समाप्त करने के बाद अपना शेषजीवन जनता को शिक्षित करने में बिता दिया।

विद्यालयों और विद्यापीठों में शिक्षा मुख्यतः साहित्यिक और धार्मिक थी। धर्मशास्त्र, व्याकरण, लक्षणग्रंथ, और अर्थ तथा वार्ता (अर्थशास्त्र तथा राजनीति) का व्यापकरूप से अध्ययन कियाजाता था। ये विषय आवश्यक पाठ्यक्रमों में दियेगये हैं। कम-से-कम महर्षि पाणिनि के समय (छठी शताब्दी ई. पू.) से व्याकरण को बहुत महत्त्व दियाजाने लगा और वह पाठ्यक्रम का प्रारंभिक अंग बनगया। सामान्य शिक्षा का आधार महाभारत और पुराण

थे। पाणिनि के समय में भी इन ग्रंथों के प्राचीन संस्करण उपलब्ध होंगे क्योंकि उनके व्याकरण में महाभारत की कई घटनाओं के उल्लेख मिलते हैं और पुराणों के प्रसंग धर्मशास्त्रों में आते हैं। मेगास्थनीज के अभिलेखों से पता चलता है कि मौर्यकाल में शिक्षा का व्यापक प्रसार था और इतने बड़े साम्राज्य की राजकीय सेवाओं के लिए जिन प्रचुर कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती थी वे इसी शिक्षित मध्यवर्ग से प्राप्त हुए होंगे।

स्त्रियों की शिक्षा की क्या स्थिति थी, इस बारे में हमारे पास काफी स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं। फिरभी भिक्षुणियों और साधुनियों के मठों ने स्त्री-शिक्षा में भारी योगदान किया होगा क्योंकि जनता परिव्राजकों का बड़ा ही मान करती थी और वे लोग गांवों तक शिक्षा का प्रकाश फैलाने में निश्चय ही सफल हुए होंगे।

प्राविधिक शिक्षा व्यापारसंघों की मार्फत होती थी। यंत्रशास्त्रज्ञों और यंत्रवीक्षकों के उल्लेखों, खानों, धातुभास्कर्य, तथा बुनने, रंगने और बढ़ईगीरी के अतिरिक्त अन्य उच्चकोटि के कला-कौशल के व्यवसायों पर राज्य-नियंत्रण से यह प्रकट होता है कि उच्च कोटि के कला-कौशल के व्यवसायों का प्रशिक्षण बड़े पैमाने पर दियाजाता था। व्यावसायिक प्रशिक्षण पानेवाले के लिए क्या-क्या आवश्यक शर्तें थीं, उनका उल्लेख मनु आदि व्यवस्थाकारों ने किया है। शिल्पकारों के जिन संगठनों का पहले वर्णन किया जाचुका है उनको प्रशिक्षणार्थिओं, नवसिखुओं और अंतेवर्तिओं के बारे में यह कहने का अधिकार था कि उनमें अमुक स्तर की योग्यता अपेक्षित है।

इस काल में आयुर्वेद अथवा चिकित्साशास्त्र का भी विकास हुआ। वैद्यक भारत की एक पुरानी विद्या है और बौद्धग्रंथ भिषकों के दृष्टांतों से भरे पड़े हैं। बौद्ध और जैन मतों का जीव पर दया करना प्रधान लक्षण है। इसलिए इनसे चिकित्साशास्त्र के संगठन को बहुत प्रोत्साहन मिला और रोगियों की सेवा करने में अशोक के अस्पतालों ने एक नया रिकार्ड कायम किया।

मौर्यकाल में स्त्रियों की दशा के बारे में ठीक-ठीक कहना नामुमकिन है। किंतु उनको पर्याप्त स्वतंत्रता दीगयी जानपड़ती है क्योंकि स्त्रियां स्वच्छंदतापूर्वक बौद्ध और जैन, दोनों धर्मों में दीक्षा ग्रहण करती और देश भर में राजप्रासादों से लेकर पर्णकुटी तक घूमाफिरा करती थीं। गुणाढ्य की कहानियों में सभी वर्गों की स्त्रियां द्वारा स्वतंत्रता भोग करने के प्रमाण मिलते हैं। स्त्रियों का पहिरावा-ओढ़ावा विशेष चित्ताकर्षक था। हमें यह पता नहीं कि साड़ी का पहिरावा कबसे आरंभ हुआ किंतु अरिकमेडु के अर्वाचीन उत्खनन में एक महिला-आकृति का अर्द्धभाग मिला है जो आजकल की हिंदूनारी की भांति साड़ी धारण कियेहुए है। यह स्थल और यह मूर्ति पहली शताब्दि ई. पू. की है। इससे स्पष्ट होता है कि दक्षिण भारत की नारियां बहुत प्राचीन काल से साड़ी पहनना जानती थीं।

मौर्यकाल में मध्यवर्ग के व्यक्ति का जीवन सभ्य, संतुलित और भौतिक दृष्टि से संपन्न था। वह आरामदायक घरों और सुसंस्कृत वातावरण में रहता था। वह धर्मशास्त्रों के नियमों का परिपालन करता था जिससे उसे आध्यात्मिक शांति मिलती थी और समाज में उसकी

मान-मर्यादा अक्षुण्ण रहती थी। वह अपनी हैसियत के अनुसार शास्त्रोक्त पद्धतियों पर आचरण करता था। उसके घरेलू और सामाजिक जीवन पर सर्वमान्य आचारसंहिता का नियंत्रण रहता था। भौतिक दृष्टि से एक अत्यंत समृद्धिशाली साम्राज्य का नागरिक होने के नाते उसे उसके सभी लाभ प्राप्त थे। जीवन की आवश्यक वस्तुएं और विलास-सामग्री—बढ़िया मलमल, उत्तम भोजन और मदिरा, और सभ्य जीवन के साधन—बाग-बगीचे, खेल-तमाशे और सैर-सपाटे की सुविधाएं, सब उसे प्राप्त थीं।

बुद्ध के निर्वाण-काल से मौर्यों के पतन तक हिंदूसमाज एक प्रकार से संगठित रूप में था। लिच्छवि, मल्ल, आदि प्रबल अनार्य आदिमजातियां, जिनके हाथ में सत्ता थी, हिंदुत्व के संगठन में क्षत्रियों की श्रेणी में आमिलीं। जो इतिहासकार आर्यवाद के प्रभाव में रहे हैं उन्होंने बड़े प्रयत्न से यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि उक्त आदिमजातियां आर्य थीं। मनु ने उन्हें व्रात्य क्षत्रिय बताया है जिससे साबित होता है कि वस्तुस्थिति के साथ सिद्धांत को समझौता करनापड़ा था। इन आदिमजातियों की राजनीतिक शक्ति की उपेक्षा नहीं की जासकी। फिरभी इस सचाई पर पर्दा नहीं पड़सका कि वे व्रात्य थे और वे विवाह के सूत्र द्वारा बड़े साम्राज्यों के साथ जोड़ेगये थे। मद्र निःसंदेह एक आदिवासी जाति के लोग थे। महाभारत में एक सूत (कर्ण) ने उन्हें इस आधार पर गाली भी दी है। वे विवाह-बंधन द्वारा ही सभी बड़े राजवंशों से घनिष्ठता से जुड़ गये थे। आज की तरह तब भी हिमालय की अधोवर्ती पहाड़ियों की स्त्रियों की, भारतीय राजाओं के हरम या अंतःपुर में, बहुत चाह थी। नव्य-आर्य समाज में इन आदिमजातियों का घुलन-मिलन धीरे धीरे बढ़ता गया और इस काल के अंत तक इन लोगों का आर्यजीवन के अधिकारों का दावा सामान्यतः स्वीकार करलिया गया।

इस काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि नये देवताओं की प्राणप्रतिष्ठा की गयी। पुराने देवता केवल पूरीतरह विलुप्त ही नहीं होगये प्रत्युत नये देवताओं का आविर्भाव होने लगा और उनके प्रति लोगों की श्रद्धा बढ़ चली। पाणिनि ने वासुदेव का उल्लेख किया है और यद्यपि अभी कृष्ण-संप्रदाय नहीं चला था फिरभी उनके भाई बलराम की पूजा तीसरी शताब्दी ई. पू. में होने लगी थी। श्री काणे (हिस्टरी ऑफ धर्मशास्त्र, प्रथम भाग, पृष्ठ १०३) के अनुसार, मौर्यकाल में स्कंद की पूजा होती थी। शिव को अपना उच्च स्थान फिर मिलगया था। पुराणों और महाभारत के प्राचीन संस्करणों में जो उल्लेख मिलते हैं उनसे सिद्ध होता है कि पुराणों के देवता इस काल में लोकप्रिय होगये थे।

मौर्यकाल भारतीय सभ्यता का एक विशाल स्तंभ इसलिए मानाजाता है कि इसमें संस्कृत का विकास हुआ। महर्षि पाणिनि (लगभग छठी शताब्दी ई. पू.) की अष्टाध्यायी ने संस्कृत वाङ्मय में एक नया मोड़ पैदा करदिया। इस वाङ्मय के पूर्ण संस्कार होजाने से वह परिपूर्ण और सुसंस्कृत भाषा होगयी। यह सत्य है कि पाणिनि ने संस्कृत को एक ऐसा व्याकरण दिया जो आज भी व्याकरणाचार्यों के लिए एक आदर्श बनाहुआ है। फिरभी, यह प्रश्न उठ सकता है कि भाषा को नियमोपनियमों के चौखटे में जकड़ने का यह प्रयास ही अंततोगत्वा

साहित्यिक काल के बाद संस्कृत के विकास के परिसीमित मार्ग का एक रोड़ा बन गया। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, 'अ-पाणिनीय' प्रयोग भाषा में एक भारी भूल मानाजाने लगा। यह बहुत बाद की घटना है। ५०० और १५० वर्ष ई. पू. का काल कात्यायन और पतंजलि की कृतियों का समय है जिन्होंने अपने बीच में पाणिनि की महत्ता को प्रतिष्ठित किया और संस्कृत को वह रूप-रंग दिया जो आजभी उसकी अपनी निधि बनाहुआ है। इसके परिणामस्वरूप इस काल में संस्कृत साहित्य की प्रगति हुई, जिसके बारे में अब हमें बहुत कम पता है। यदि हम कालिदास को इसीके परिवर्ती समय अर्थात् अग्निमित्र के राज्यकाल में रखते हैं तो भास और सौमिल्ल, जिन्हें मालविकाग्निमित्र में प्राचीन साहित्यकार और महाकवि कहागया है, इसी काल में उत्पन्न हुए जानपड़ते हैं। कम-से-कम स्वप्नवासवदत्ता इसी काल की रचना जानपड़ती है और इस आशय के संकेत मिलते हैं कि पंचरात्र और उरुभंग महाभारत के उस संस्करण पर आधारित हैं जो आजकल से भिन्न रहा होगा।

मौर्य-कला के विषय में हम अपेक्षाकृत अधिक निश्चयात्मक ढंग से विचार प्रकट कर सकते हैं। अशोक ने साम्राज्य के विभिन्न भागों में जो रमणीक खंभे बनवाये, और भरहुत तथा सांची के स्तूपों और गया के समीप की आजीवक गुफाओं पर जो शिल्पकारी दिखायीगयी है, वे सब मौर्य-कला के अतीत वैभव की कहानी कहरहे हैं। एक गण्यमान्य विद्वान के अनुसार, ये खंभे "अपनी आकृति की सौष्ठवता, अपनी सुसंस्कृत अभिव्यंजना के रूप तथा अपने अत्युत्तम प्राविधिक कौशल की छटा से विशिष्ट कोटि के प्रतीत होते हैं"। अजंता, बाग आदि की गुफाओं से पहले आजीवक गुफाओं का निर्माण हुआ और वे शिल्प-सौंदर्य की दृष्टि से उनकी पूर्ववर्ती मानी जासकती हैं। वे तत्कालीन शिल्पकला के आश्चर्यजनक नमूने हैं। जैसाकि हम शिलालेखों से जानते हैं, वे स्वयं सम्राट की आज्ञा से उत्कीर्ण कियेगये होंगे। हैवेल का विचार है कि भरहुत और सांची के स्तूपों की शिल्पकला में आर्यों और अनार्यों की कलाओं का रोचक सामंजस्य पायाजाता है।

स्तूपों को छोड़कर, हमारे पास इस काल की स्थापत्यकला का बहुत न्यून प्रमाण है। नंद राजाओं के बनवाये सुगांगेय प्रासाद की वास्तुकला के सौंदर्य का वर्णन हमें उपलब्ध है। निःसंदेह, इस राजप्रासाद के निर्माण, पुनरुद्धार और परिवर्धन का काम शताब्दियों तक चलतारहा होगा। प्रासाद का खंभेवाला भवन उत्खनन में प्राप्त हुआ है जो इस विशाल राजसौंध की अक्षय्य कीर्ति की साक्षी देरहा है। संक्षेप में यह कहा जासकता है कि मौर्य-राजकाल के १५० वर्षों में सभ्यता, कला और संस्कृति की जो उन्नति हुई उसके सहारे भारत संसार के तत्कालीन महानतम देशों के बीच एक प्रतिष्ठित देश मानाजाने लगा।

अध्याय ५

साम्राज्यकाल (ख)

जैसाकि हम पहले लिख चुके हैं, प्रधानसेनापति पुष्यमित्र ने अंतिम मौर्यसम्राट का बध कर दिया। किंतु इस अप्रत्याशित कांड से साम्राज्य का आकस्मिक अंत नहीं होगया। कलिंग को छोड़कर शेष हिंदुस्तान के साम्राज्य का भाग्य-विधाता स्वयं पुष्यमित्र बन बैठा। उसने सम्राट की उपाधि धारण नहीं की और जानपड़ता है कि वह सेनापति की उपाधि ही मे संतुष्ट रहा। किंतु उसका बेटा अग्निमित्र भेलसा का उपराज था और उसने महाराजा की उपाधि धारण कररखी थी। यद्यपि सेनापति पुष्यमित्र ने राजकीय उपाधि धारण नहीं की फिर-भी उसने एक अश्वमेध यज्ञ किया जिसने उसकी महाराजाधिराजोचित सत्ता का ढिंढोरा पीट-दिया। यह घटना इतनी महत्त्वपूर्ण थी कि पतंजलि और कालिदास भी अपनी कृतियों में इसका उल्लेख किये बिना नहीं रह सके। यद्यपि यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जासकता फिरभी ऐसा प्रतीत होता है कि कालिदास ने विदिशा (भेलसा) में अग्निमित्र के दरबार में रहकर अपनी रचनाएं की थीं। अनेक विद्वानों का इस बारे में मतभेद है और उनका कहना यह है कि अबसे चार शताब्दियां बाद सुविख्यात सम्राट चंद्रगुप्त विक्रमादित्य के दरबार में कालिदास नामक महाकवि विद्यमान थे। किंतु आजकल इस मत के अनुसमर्थकों की संख्या कम-सी हो-गयी है। बाद में, अग्निमित्र के उत्तराधिकारी भी इस साम्राज्य पर राज करते रहे, किंतु उनके राज्य की सीमा गंगा की घाटी और पंजाब ही तक परिमित थी।

पुष्यमित्र द्वारा राजबध से पहले ही पूरबी प्रांतों, विशेषकर कलिंग, ने मौर्य-सत्ता का जुआ उतारफेंका था। अबकी बार कलिंग पहले से भी अधिक शक्तिशाली साम्राज्य बनगया। १८३ वर्ष ई. पू. खारवेल नामक एक राजा कलिंग की राजगद्दी पर बैठा। इस समय कलिंग अपने वैभव की चरम सीमा पर पहुंचगया। हाथीगुंफा के शिलालेखों पर इस राजा की सफलताओं के वर्णन लिखे हैं जो हमें अबभी उपलब्ध हैं। अपनी चौबीस वर्ष की अवस्था में खारवेल कलिंग का राजा बनगया। उसने सबसे पहले अपने राज्य की सीमाएं बढ़ाने का संकल्प किया और अपनी सेना लेकर दक्षिण की ओर कूच करदिया जहां श्री सतकर्णि के नेतृत्व में आंध्रभृत्य एक बड़ी शक्ति के रूप में फलफूलरहे थे। जानपड़ता है कि खारवेल ने लगातार कई युद्ध किये जिनके परिणामस्वरूप संपूर्ण दक्षिण पर उसका वर्चस्व स्थापित होगया। १७१ वर्ष ई. पू. में खारवेल ने मगध पर आक्रमण करके पाटलिपुत्र पर अधिकार करलिया जहां पर तब अग्निमित्र के पुत्र बृहस्पतिमित्र का शासन था—वह संभवतः अपने पिता के आदेश से वहां राज्यपाल की भांति शासन कररहा था। खारवेल जैनियों का पृष्ठपोषक था, ऐसा जानपड़ता है।

इस बीच उत्तर-पच्छिमी सीमांत पर युद्ध की काली घटाएं छायी रहीं। यहां विदेशियों के आक्रमण होते रहे। हूण विजेता गियू ने एक बर्बर जाति यू-ची को काओर्सू और सिंक्तांग के अपने मूलस्थानों से खदेड़दिया। गियू की मार खाकर यू-ची लोग एक ओर हटने लगे और अपनी बारी आने पर उनका दबाब शकों पर बढ़गया जिससे शकों का टिड्डीदल प्रथम शताब्दी ई. पू. में भारत पर आगिरा और ऐसा जानपड़ने लगा कि अब स्वयं उज्जैन भी उनके हाथ में चला जाएगा। किंतु समय ने करवट बदली और एक ऐसी घटना हुई जिसने शकों के भाग्य का निबटारा करदिया। उज्जैन के महाप्रतापी सम्राट विक्रमादित्य ने ५७ ई. पू. में शकों की शक्ति को कुचलडाला और उन्हें भारत की सीमा से निकाल बाहर करदिया। वीर विक्रमादित्य की इस सफलता पर हिंदू परंपरा का मस्तक सदैव उन्नत रहेगा। विक्रमादित्य ने इस ऐतिहासिक घटना को चिरजीवी रखने के लिए शकारि की उपाधि धारण की और विक्रम संवत् चलाया जो आज भी हिंदुओं में अत्यंत लोकप्रिय बनाहुआ है। यद्यपि शक भारत से खदेड़ दियेगये थे फिरभी जो यू-ची लोग हिंदूकुश की घाटी में आडटे थे वे भारतीय सीमांत पर उत्पात करने लगे। उत्तर भारत में साम्राज्य छिन्नभिन्न होजाने के कारण विदेशियों को इस अवसर से लाभ उठाने की सूझ पड़ी इस समय कुषाण जाति का शासन-सूत्र कनिष्क जैसे सुयोग्य राजा के हाथ में था। उसने अपना राज्य कम से-कम मथुरा तक फैलादिया। हिंदूकुश की घाटी में बसकर स्वय यू-ची जाति में परिवर्तन होगया था। ये लोग बौद्धधर्म और कनिष्क के प्रभाव में आगये थे। कनिष्क, जिसने अपने राज्य का विस्तार गंगा की घाटी तक करलिया था, स्वयं बौद्धधर्म का पक्का अनुयायी और उत्साही प्रचारक था। उसकी शक्ति का केंद्र मध्येशिया था। यद्यपि उसने बौद्धधर्म अपनालिया था और वह उसका एक ध्वजवाही भी बनगया था फिरभी भारतीय इतिहास में उसका नाम नगण्य है। उसके बेटे हुविष्क के इतिहास पर तो अंधकार का आवरण पड़ाहुआ है और वसुदेव के राज्यरोहण से साम्राज्य निश्चय ही हिंदू साम्राज्य बनगया।

इस बात पर जोर देना यहां आवश्यक है कि भारत में कुषाणसाम्राज्य का अर्थ इससे अधिक और कुछ नहीं था कि भारत के कुछ प्रांतों को कुषाणसाम्राज्य में मिला लियागया था। इसके अंतर्गत, एक जाति की विजय दूसरी जाति पर नहीं हुई थी। जो राज्य अफगानिस्तान में पहले ही स्थापित होचुका था सिर्फ उसकी सीमाएं, पाटलिपुत्र की साम्राज्यीय सत्ता छिन्नभिन्न हो जाने के कारण, बढ़कर भारत में आधंसी थीं। वासुदेव के सनातन हिंदूधर्म ग्रहण करने से उक्त राजतंत्र का रहा-सहा विदेशीपन भी काफूर होगया। यही बात तथाकथित यूनानी राजाओं के बारे में भी लागू होती है। यूनानियों ने भारत पर कोई विजय प्राप्त नहीं की। सिकंदर के धावे के बाद, किसी यूनानी सेना ने सिंधु के इस पार पांव नहीं रखपाया। बैक्टरिया के कुछ राजाओं ने भारतीय सीमांतों पर अपनी सत्ता स्थापित करली थी और कम महत्त्वपूर्ण शासकों ने, जो मूलतः राज्यपाल थे, अपने को स्थानीय राजा घोषित करदिया था। हमें यूनानियों की जनसंख्या का भारत में कहीं भी बसने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है और एकमात्र इसी आधार पर यूरोपीय लेखकों का भ्रम-निवारण होजाना चाहिए

जोकि वे यह दावा करते हैं कि भारत में मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद कम-से-कम दो शताब्दियां तक उत्तर भारत यूनानी और कुषाण राजाओं के अधीन रहा।

पहली शताब्दी ई. पू. में शुंग राजवंश के पतन और भारशिव राजवंश के अभ्युदय के मध्यवर्ती काल में भारत में किसी केंद्रीय सरकार या साम्राज्य का अभाव खटकता है। कुषाणवंश की सत्ता पूरब में इलाहाबाद तक फैलगयी थी, किंतु यह थोड़े समय ही तक रही और दूसरी शताब्दी के बीच में वासुदेव के बाद कुषाण भारत से उतनी जल्दी ही बिदा होगये जितनी जल्दी उन्होंने यहां ख्याति पायी थी। जिसे हम आजकल पच्छिमी राजस्थान कहते हैं, वहां कभी यौधेय नामक एक विशाल गणतंत्रीय आदिमजाति निवास करती थी। उसने कुषाण-शासन के विरुद्ध विद्रोह करदिया और कुषाणों को भारत से निकालकर ही दम लिया। यौधेयों की शूरवीरता की शत्रुओं तक ने मुक्तकंठ से प्रशंसाकी है। इसका प्रमाण रुद्रदमन के शिलालेखों से मिलता है। जानपड़ता है कि यौधेयों ने राष्ट्रव्यापी विद्रोह का झंडा उठाया था, क्योंकि उनके जो सिक्के पंजाब में मिले हैं उनपर 'यौधेयगणस्य जय' की विरदावली लिखीहुई है। मालव और अर्जुनयन जातियों ने भी इस विद्रोह में उल्लेखनीय सहयोग दिया था। जब कुषाणशक्ति पूरी तरह चकनाचूर होगयी तब, जिस प्रदेश को आजकल बुंदेलखंड कहते हैं, वहां भारशिव राजवंश का आविर्भाव हुआ। ये लोग सदा अपने कंधों पर शिव का प्रतीक धारण किये रहते थे। इसलिए, ये लोग अपने को शिव का कृपापात्र बताते थे। इन्होंने उत्तर भारत में एक अपूर्ण साम्राज्योचित सत्ता फिर स्थापित करली। उनके बारे में साधिकार रूप से कहाजाता है कि उन्होंने दस अश्वमेधयज्ञ किये थे। अश्वमेधयज्ञ करने की परंपरा उन्हीं राजाओं में प्रचलित थी जो महाराजाधिराज की सत्ता प्राप्त करलेते थे। भारशिवों में वीरसेन सबसे प्रतापी राजा था। कुषाणों की शक्ति निरंतर संकुचित होने और उनपर निरंतर प्रहार करने के कारण, इस वंश की विदिशा और मथुरा में दो शाखाएं स्थापित करने की आवश्यकता पड़ी। अंतिम भारशिव या नाग-राजा भावनाग था जिसने वाकाटक वंश की उदीयमान शक्ति देखकर उनके साथ गठबंधन करलिया था। वाकाटक-साम्राज्य की स्थापना औपचारिक रूप से २८४ ई. में हुई। महान वाकाटक राजा प्रवरसेन प्रथम को महाराजाधिराज की उपाधि से समलंकृत कियागया था और हिंदुस्तान भर पर उसकी सत्ता की अच्छी तरह स्थापना होगयी थी। पुराणों में वाकाटकों की धाक का वर्णन कियागया है। वे एक विंध्य-शक्ति के नाम से प्रसिद्ध थे। वाकाटकों की राजधानी नांदीवर्धन थी और यहां से उन्होंने एक सौ वर्ष से भी अधिक काल तक मध्य भारत में शांति कायम रखी। उनके राजकाल में सनातन सामाजिक पद्धति पुनर्जीवित होउठी जिसे पहले कुषाणों और यवनों के प्रहारों से काफी धक्का लगचुका था। पृथ्वीसेन के एक अभिलेख में इस राजवंश के बारे में कहागया है कि इसकी आर्थिक और न्यायांगीय प्रणालियों के विकास में सौ वर्ष लगे हैं। इस उद्घोषणा से वाकाटकों का दंभ भले ही टपकता हो फिरभी वह कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

प्रवरसेन के पुत्र सर्वसेन ने बरसीम में राजवंश की एक शाखा स्थापित की जिसने समय पाकर दक्षिण में कर्नाटक तक अपनी सत्ता फैलाली। वास्तव में मध्यवर्ती भारत में वाकाटकों के

हाथ सातवाहनों का साम्राज्य लगा था और उनका प्रभाव विंध्याचल के उत्तर और दक्षिण में बनारहा और इस दृष्टि से वे विंध्यशक्ति कहलाने के सर्वथा योग्य हैं।

भारशिवों और वाकाटकों को गुप्तसाम्राज्य की स्थापना के लिए केवल एक पृष्ठभूमि तैयार करनेवाला नहीं माना जासकता है। प्रतापी समुद्रगुप्त और उसके सुयोग्य उत्तराधिकारियों के प्रचंड पराक्रम की गाथाओं और ऐश्वर्य के आगे उनके पूर्ववर्ती राजाओं की सफलताएं स्वयं महान होतेहुए भी मलिन पड़गयीं। इन पूर्ववर्ती राजाओं ने भारत वसुंधरा से केवल विदेशियों को मार-भगाने ही का सराहनीय काम नहीं किया था, प्रत्युत उन्होंने कृपाणों के निष्ठुर प्रहारों से क्षत-विक्षत भारतीय साम्राज्यपरंपरा का भी पुनरुद्धार किया था। हिंदुस्तान में हिंदूसमाज और विशुद्ध हिंदू संस्कृति के पुनःसंस्थापन में यदि गुप्तवंश से भी किसीका अधिक योगदान माना जासकता है तो वह इन्हीं वंशों का है। इसका प्रमाण केवल उन बहुत से अश्वमेधों ही से नहीं मिलता है जो उन्होंने किये थे, प्रत्युत उनकी हिंदू सनातनी निष्ठा से भी प्रकट होता है। इस काल में संस्कृत साहित्य भी खूब फलाफूला। इलाहाबाद के स्तंभ पर समुद्रगुप्त के विषय में हरिश्येण की जो प्रशस्ति अंकित है वह उत्कृष्ट काव्यकला के विकास का एक समुज्ज्वल उदाहरण है। कालिदास के बारे में यह कहाजाता है कि वह अग्निमित्र राजा (१५० वर्ष ई. पू.) के दरबार में आश्रय पाते थे। उनके बाद अश्वघोष का आविर्भाव हुआ जिन्होंने बुद्धचरित लिखा है। सौंदरानंद को भी गुप्तपूर्वकालीन मानाजाता है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की ये विभूतियां गुप्तसाम्राज्यकाल से पहले ही हुई थीं।

परिवर्ती वाकाटककाल में लिच्छवियों की शक्ति फिर बढ़गयी। मगध साम्राज्य की स्थापन से लिच्छवि गणतंत्र को ग्रहण-सा लगगया था। जानपड़ता है कि उसने मौर्यो की प्रभुता को स्वीकार करलिया था, किंतु फिरभी वह अपनी गणतंत्रीय प्रणाली की रक्षा करता रहा। चाणक्य ने उनके संघों का उल्लेख किया है। पाटलिपुत्र की साम्राज्यीय सत्ता छिन्नभिन्न होने से लिच्छवि गणतंत्र पर से अधिराट की सत्ता उठगयी और उसकी अपनी प्रादेशिक शक्ति धीरे धीरे बढ़ने लगी। कुछ काल के लिए तो जानपड़ता है कि उन्होंने पाटलिपुत्र तक पर अधिकार करलिया था। इस गणतंत्र की अबाध परंपरा एक हजार वर्ष से भी अधिक काल से चली आरही थी और इसकी शान और धाक इतनी बढ़गयी थी कि विविध राज्य इसके आगे मैत्री का हाथ उत्सुकतापूर्वक बढ़ाते थे। इन लिच्छवियों से मैत्री करके ही गुप्तवंश प्रारंभ में मगध को हथिया सका था। चंद्रगुप्त प्रथम का विवाह लिच्छवि जाति की एक कन्या से हुआ था। गुप्तवंश को इस संबंध का बड़ा अभिमान था। चंद्रगुप्त के महान पुत्र समुद्रगुप्त ने एक बार गर्व के साथ घोषणा भी की थी कि मैं लिच्छवियों का दौहित्र अर्थात् लिच्छवि कुल की कन्या के गर्भ से पैदा हुआ हूं।

लिच्छवियों के गणतंत्र को छोड़कर और कोई गणतंत्र इतिहास में एक हजार वर्षों तक स्थायी नहीं रहा। एथेंस अथवा यूनान का कोई नगर-राज्य और वेनिस तथा जेनोआ के विशाल गणतंत्र इस दिशा में लिच्छवियों की बराबरी नहीं कर सकते हैं। यादवों के महासंघ और उत्तर भारत की अनेक सार्वभौमसत्ताधारी जातियों के इतिहास से स्पष्टतः सिद्ध होता है

कि भारत में बिना-राजाके राज्यों की परंपरा बहुत प्राचीन काल से चली आरही थी और उसकी पीठ पर जनता का दृढ़ हाथ होता था। किंतु उन्होंने एक-एक करके उदीयमान साम्राज्यों के सामने घुटने टेक दिये अथवा उनमें स्वयं राजतंत्र की स्थापना होगयी। इस प्रकार अंत में केवल लिच्छवि बच रहे।

जानपड़ता है कि चंद्रगुप्त के पूर्वज छोटे-मोटे स्थानीय राजा थे क्योंकि शिलालेखों में उनके पिता घटोत्कच और उनके पितामह ही का वर्णन मिलता है। किंतु लिच्छवियों की सहायता से गुप्त वंशधरों ने पाटलिपुत्र पर अपना अधिकार करलिया। इतिहासकार जायसवाल का कथन है कि कौमुदीमहोत्सव नाटक में इस घटना का आभास दियागया है और इसी सफलता के आधार पर इतिहास-विख्यात गुप्तवंश साम्राज्य के वैभव से जगमगा उठा था। प्रतीत होता है कि स्वयं चंद्रगुप्त का राज्य डांवाडोल ही बनारहा था। किंतु उसके तेजस्वी उत्तराधिकारी के समय में इस राज्य की नींव सुदृढ़ होगयी। यह उत्तराधिकारी उसके इतिहास-प्रसिद्ध पुत्र समुद्रगुप्त के अतिरिक्त और कोई नहीं था, जो अपने को अभिमानपूर्वक लिच्छवियों का धेवता कहा करता था। उत्तर भारत में गुप्त साम्राज्य का वही प्रभुत्व और वैभव देखने में आया जो कभी उससे पहले मौर्यसाम्राज्य ने उपभोग किया था।

इलाहाबाद के अशोक-स्तंभ पर उत्कीर्ण हरिश्येण के भव्य शिलालेख में महाराजाधिराज समुद्रगुप्त की विजयों और सफलताओं का पूरा विवरण अंकित है। इस संदर्भ का लेखक हरिश्येण स्वयं समुद्रगुप्त के समय का एक प्रमुख राजपुरुष था। इसके अतिरिक्त इन विजयो और सफलताओं के और भी प्रमाण मिलते हैं।

समुद्रगुप्त ने एक के बाद दूसरी विजय प्राप्त करके समस्त उत्तर भारत को और दक्षिण भारत के एक भाग को अपने बृहत् साम्राज्य की सीमा में संगठित कर लिया। दक्षिण में प्रतापी सम्राट समुद्रगुप्त ने पिथापुरम के राजा महेंद्र और कांची के राजा विष्णुगोप को हराया और उनका राज्य अपने साम्राज्य में लिया। इससे समुद्रगुप्त की दक्षिण के प्रदेशों की दिग्विजय पर संदेह करने की तनिक भी गुंजाइश नहीं रहती।

शिलालेखों से यह भी प्रकट होता है कि समुद्रगुप्त ने वाकाटकों के मूल राज्यों—विंध्य और महाराष्ट्र—पर न तो आक्रमण ही किया था और न उनको जीता ही था। समुद्रगुप्त के उत्तराधिकारी के राजकाल में शक्तिशाली वाकाटकों की अप्रतिहत उपस्थिति से इस बात की पुष्टि होती है कि समुद्रगुप्त ने विंध्यवर्ती राजाओं को नहीं छेड़ा था और वह उनके साथ मित्रता करके ही संतुष्ट होगया था। सुप्रसिद्ध चंद्रगुप्त द्वितीय ने एक वाकाटकवंशी राजकुमारी के साथ अपना विवाह किया था और एक अन्य वाकाटकवंशी राजा के साथ उसकी पुत्री प्रभावती का पाणिग्रहण हुआ था। इन प्रमाणों से और अधिक स्पष्ट होजाता है कि गुप्तराजाओं ने विंध्य राज्य में वाकाटकों से साथ मिलजुलकर साम्राज्यीयशक्ति का उपभोग किया था।

समुद्रगुप्त के साम्राज्य को तीन प्रकार के घटकों में विभाजित किया जासकता है: साम्राज्यवर्ती प्रांत, सीमातीय सामंत और अधीन राज्यों के अंतवर्ती राजे। साम्राज्यवर्ती प्रांतों का निर्माण मौर्यकालीन संगठन के आधार पर कियागया था, किंतु पूर्वी बंगाल और असम (कामरूप),

कात्रिपुर (गढ़वाल और कांगड़ा के पहाड़ी जिले) और पंजाब की गणतंत्रीय आदिमजातियां अर्ध-स्वाधीन थीं—वे "सम्राट के आदेशों का परिपालन करतीं और उसे भेंट दिया करती थीं"। शिलालेख में उन देशों का विशेष वर्णन है जिन्हें साम्राज्य की सीमा में मिला लियागया था और उनका भी उल्लेख है जिनके राजाओं को अधीन राज्यों के सिंहासन पर फिर प्रतिष्ठित कर दियागया था। अश्वमेध की परंपरागत पद्धति का परिपालन करके समुद्रगुप्त को औपचारिक रूप से सम्राट उद्घोषित कियागया। उस अवसर जो सिक्के चलाये गये उनपर अश्वमेध-पराक्रम की प्रशस्ति अंकित है जो समुद्रगुप्त की प्रभुसत्ता का डंका बजारही है। सीमांत की शक्तियों का दमन करने के उपरांत इस प्रतापी सम्राट समुद्रगुप्त को रोमन सम्राटों के ऐश्वर्य के अनुरूप उपाधियों और प्रशस्तियों से विभूषित कियागया।

समुद्रगुप्त केवल विजेता न था। उसने ललित कलाओं को भी आश्रय दिया था। उसका सरल हृदय मानवता से आर्द्र रहता था। उसे स्वयं कविकुल-मुकुटमणि कहाजाता है। शिलालेखों में अंकित है कि वह केवल विद्वान ही नहीं था प्रत्युत कवियों और लेखकों के सत्संग में भी उसे बड़ा आनंद आता था। वह अपनी एक मुद्रा में वीणा बजाते हुए दृष्टिगत होता है। यह भी लिखा है कि वह संगीत में इतना प्रवीण था कि उसके सामने गंधर्व भी लज्जित हो जाते थे। उसकी पटरानी का नाम दत्तादेवी था जिसकी कोख को महाभाग अक्षय्यकीर्त्ति चंद्रगुप्त विक्रमादित्य ने उजागर किया। अश्वमेध के सिक्के पर जो चित्र दियागया है वह संभवतः इसी पतिप्राणा पटरानी का है। चंद्रगुप्त के भी एक सिक्केपर राजमहिषी दत्तादेवी की आकृति है जिसमें वह अपने पति से उपहार ग्रहण करने की मुद्रा में दृष्टिगत होती है।

समुद्रगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र रामगुप्त राजसिंहासन पर बैठा। उसके राजकाल में शक उत्तर-पच्छिमी सीमांत पर भारत का द्वार खटखटाने लगे और दिन-पर-दिन उनका दवाब इधर की ओर बढ़तागया। रामगुप्त ने आक्रांताओं को धन देकर लौटाने की कोशिश की, किंतु अपनी इस ढुलमुल नीति के कारण उसको राजसिंहासन से हाथ धोना पड़ा। भारत के लिये यह परम सौभाग्य की बात थी कि इसी समय दत्तादेवी के पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय ने राजसिंहासन पर बलात् अधिकार करलिया जिसका शकारि-रूप में अभिनंदन करने के लिए भारतीय इतिहास अपने हाथ फैलाये प्रतीक्षा कररहा था। रामगुप्त के दुर्बल शासन में साम्राज्य के विध्वंसकारी तत्त्व सिर उठारहे थे। चंद्रगुप्त इस स्थिति से बेखबर न था। उसने विदेशियों को साम्राज्य की सीमा के बाहर खदेड़ दिया और शकारि अर्थात् शकों के विजेता की उपाधि धारण की। अब गुजरात और काठियावाड़ के समुद्री प्रांतों को मिलाकर समस्त उत्तर भारत उसके शासन के अंतर्गत आगया था। जानपड़ता है कि उसने दक्षिण के दूरवर्ती प्रांतों पर से अपनी सत्ता का अंकुश जानबूझकर उठजाने दिया था।

चंद्रगुप्त ने एक वाकाटकवंशी राजकुमारी से विवाह करके अपना नाता ऐतिहासिक साम्राज्यीय परंपरा से जोड़ लिया। उसकी पुत्री प्रभावती गुप्त का विवाह वाकाटकवंशी राजा रुद्रसेन से हुआ था। प्रभावती एक परम सुयोग्य महिला थी और जानपड़ता है कि अपने पुत्र की अल्पवयस्कता में उसने संरक्षक की हैसियत से राजकाज चलाया था। उसके शिलालेखों में से

वाकाटक और गुप्त दोनों वंशों का गौरव टपकरहा है। विंध्य की इस महान शक्ति के साथ गठबंधन होने के बाद, प्रजावत्सल चंद्रगुप्त अपनी दुर्जेय सेना लेकर विदेशी आक्रांताओं से लोहा लेने में समर्थ और सफल हो सके।

चंद्रगुप्त विक्रमादित्य की एक श्लाघनीय मुख्य सफलता यह थी कि उन्होंने भारत की भूमि से शकों को खदेड़ दिया जिन्होंने इस देश के लिए एक भीषण संकट का रूप धारण करलिया था। इसके अतिरिक्त इस प्रजा-पालक सम्राट को, जिसका नाम जनश्रुतियों, लोकप्रिय कथाओं, आदि का एक सजीव विषय बनगया है, शांतिकालीन कलाओं का बड़ा ही चाव था। वह परमभागवत अर्थात् भगवान विष्णु के पक्के उपासक थे। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में इनका नाम सदा अमिट अक्षरों में लिखा रहेगा। उन्होंने पौराणिक हिंदूधर्म की बेल को सींचकर फिर हराभरा करदिया। उसमें इतनी नवस्फूर्त्ति पैदा करदी कि उसने एक शताब्दी में राष्ट्र को फिर से शिक्षित करके उसके दृष्टिकोण को बदलदिया, जिसने नयी प्रेरणा पाकर प्रबल बौद्धधर्म को झकझोर डाला और उचित समय बीतने पर उसे हिंदूधर्म की सर्वग्राह्य, पुनर्रचित व्याख्या की परिधि में समेटकर आत्मसात् करलिया। उनकी राजसभा में साहित्य, विज्ञान और कला की इतनी अधिक श्रीवृद्धि हुई जैसी भारत में इससे पहले कभी देखी-सुनी नहीं गयी थी।

चंद्रगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त प्रथम ने चालीस वर्षों तक शासन किया। उसके इस दीर्घकालिक शासन का प्रारंभिक भाग चंद्रगुप्त के राजकाल से चले आरहे राजवैभव से जगमगाता रहा। बाद में हूणों का दबाब भारत के सीमांतों पर बढ़गया और उनके साथ अनेक रक्तरंजित युद्ध हुए जिनके कारण गुप्तसाम्राज्य की शक्ति काफी शिथिल होगयी। कुमारगुप्त के यशस्वी उत्तराधिकारी वीरपुंगव स्कंदगुप्त के शासनकाल में हूणों ने फिर भारत पर छापा मारा। उधर हूणों ने शक्तिशाली रोमनसाम्राज्य को उलट-पलट डाला और मध्य युरोप की सभ्यता की जड़ उखाड़कर फेंक दी थी किंतु उनके बर्बर प्रहार भारत में वैसी विनाश-लीला उपस्थित नहीं करसके, क्योंकि उन दिनों यहां गुप्तवंशी साम्राज्य की संगठित शक्ति ने उसकी रक्षा के लिए दुर्भेद्य ढाल का काम किया जो स्कंदगुप्त के विशाल भुजदंड पर टिकीहुई थी। भारत के सीमांतों पर निरंतर हूणों के धावे होतेरहे और सौ वर्षों से भी अधिक समय तक उत्तर-पच्छिम में अनवरत युद्ध चलतारहा जिसका धेय हिंदुस्तान की उर्वरा भूमि से बर्बर जातियों की ललचायी आंखों को दूर रखना था। कुमारगुप्त ने अपने शासन के अंतिम वर्षों में प्रथम हूण आक्रमण का प्रतिरोध किया। वास्तव में उसके पुत्र और आगे चलकर इतिहास प्रसिद्ध उत्तराधिकारी स्कंदगुप्त ने इस दुर्जेय प्रतिरक्षात्मक मोरचे का संगठन किया था। भिटारी के शिलालेख में अंकित है कि कुमारगुप्त के शासन के अंतिम वर्षों में किसप्रकार भटार्क स्कंदगुप्त ने रणक्षेत्र की कंकड़ीली-पथरीली भूमि पर रात काटी थी। राजसिंहासनारूढ़ होने पर इस अप्रतिम योद्धा ने अपने साम्राज्य की प्रतिरक्षा की ऐसी सुचारु व्यावस्था की थी कि आक्रमणकारी दलों को उसके सामने मुंह की खानी पड़ी और मैदान से उनके पैर उखड़-गये। इसप्रकार, रोमसाम्राज्य की जो दुर्दशा हुई थी उससे भारत बचगया; और जिस दुर्भाग्य

की लपेट में रोम फंस गया था उसकी पाटलिपुत्र को हवा तक न छू सकी। भारत के बारे में जो यह गप्प हांकी जाती है कि वह जब-तब निरंतर विदेशी आक्रमणकारियों के आगे बलि के बकरे की भांति गर्दन झुकाता रहा, उसका अक्षरशः प्रतिवाद करने के लिए केवल यही एक घटना काफी होगी जिसमें बतायागया है कि किस प्रकार वीर-शिरोमणि स्कंदगुप्त ने इतिहास में अपने ईर्ष्यालु पराक्रम से युद्धों में हूणों के दांत खट्टे किये थे।

सच तो यह है कि गिद्धों की भांति टूटनेवाले बर्बर हूणों पर स्कंदगुप्त की अतुल्य विजय का संसार भर पर बहुत सुखद प्रभाव पड़ा जिसका अनुमान अबतक इतिहासकार नहीं करसके हैं। जब हूणों की प्रचंड शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर थी तब महापराक्रमी स्कंदगुप्त के हाथों उसे भारतीय सीमांत पर इतनी करारी हार खानी पड़ी कि उसकी तूफानी हलचल का मुख मुड़कर पच्छिम की ओर होगया। जब हूण लाख सिर पीटने पर भी भारत की सीमा में न घुससके तब उनका दबाव पूरबी यूरोप पर बढ़गया। दूसरे शब्दों में, वे प्रतापी स्कंदगुप्त के हाथों भारत से टोकर खाकर ही एक बड़ी संख्या में यूरोप की ओर मुड़े थे। इससे पहले हूणों ने चीनी साम्राज्य को भी रौंद डालने का प्रयास किया था जिसमें उन्हें, अंततोगत्वा, भारत की भांति ही नीचा देखना पड़ा। मैकगोवर्न ने अपनी 'अर्ली एम्पायर्स आफ सेंट्रल एशिया' नामक पुस्तक में लिखा है : "तीन सौ वर्षों के युद्ध के पश्चात्, हूणों और उनके तूरानी साथियों को पच्छिम में ढकेल दियागया, जिसका परिणाम दैवयोग से यह निकला कि हूणों और उनके परिवर्ती आक्रांताओं की नंगी तलवारों का शिकार चीनी लोगों को नहीं प्रत्युत रोमन साम्राज्य को होनापड़ा मानों विधाता को यही मंजूर था"। इसके लगभग एक शताब्दी बाद जब हूण पंजाब में आघुसे तब विभिन्न महाद्वीपों में इधर उधर बिखरजाने के कारण उनका वेग पहले ही ठंडा पड़चुका था। इस समय भारत पर तोरमन और मिहिरगुल ने जो चढ़ाइयां की उनको इससे अधिक क्या महत्त्व दिया जासकता है कि हूण इधर भटक पड़े थे।

विदेशियों से निरंतर टक्कर लेते-लेते गुप्तवंश दुर्बल होगया था, और इस पर तुर्रा यह कि स्कंदगुप्त की मृत्यु के बाद कदाचित् उसमें उत्तराधिकार के लिए युद्ध छिड़गये। आपस के विनाशकारी और फूट डालनेवाले संघर्ष के बाद कहीं बुद्धगुप्त राजसिंहासन पर बैठा जिसने गुप्तशक्ति का फिर से संगठन करलिया। वह गुप्तवंश का अंतिम प्रतापी राजा था। उसके बाद गुप्तवंश में फूट की जड़ें गहरी धंस गयीं और उसकी विभिन्न शाखाओं ने उत्तर भारत के विभिन्न भागों में अपने-अपने राज्य अलग-अलग स्थापित करलिये। हमें मालूम है कि लगभग छठी शताब्दी के मध्य (५४४ ई०) में हूण उत्तर भारत में घुसआये थे और तोरमन ने मालवा पर अपना शासन भी कायम करलिया था। परंतु गुप्त-साम्राज्य के दिन तो पहले ही पूरे होचुके थे।

अध्याय ६

गुप्तकालीन प्रशासन

गुप्तवंश के दो सौ वर्षों के राजकाल में हिंदूसाम्राज्य की परंपरा अपनी उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंचगयी। साहित्य, धर्म, ललित कलाओं, स्थापत्यकला, वाणिज्य और उपनिवेश के सर्वतोमुखी विकास की दृष्टि से यह समय भारतीय इतिहास में बेजोड़ महत्त्व का है। गुप्तवंशी राजाओं को पूर्ववर्ती साम्राज्यों की प्रशासनिक पद्धति का लाभ प्राप्त था। उन्होंने उसको यथेष्टरूप से अपनाया। मौर्यकालीन दफ्तरशाही ने पहले ही एकलजातीय रूप धारण करलिया था और आगे चलकर जितने भी साम्राज्य भारत में स्थापित हुए उनमें इस वर्ग ने बड़ी निष्ठा और न्यायपरायणता के साथ काम किया। मौर्यकाल में महामात्रों अर्थात् प्रांतीय राजप्रतिनिधियों की प्रथा का श्रीगणेश हुआ था; किंतु बारहवीं शताब्दी तक इसका तारतम्य चला आया। दफ्तरशाही में महामात्रों का पद अन्य सब अधिकारियों से ऊंचा मानाजाता था। अधिकारियों में कुमारामात्यों का उल्लेख बहुधा मिलता है। किंतु उनकी वास्तविक स्थिति क्या थी, इसका भलीभांति आभास नहीं मिलता क्योंकि वे विभिन्न प्रकार के महत्त्वपूर्ण पदों पर काम करते प्रतीत होते हैं। प्रशासन के सोपानमंडल में सबसे नीची सोपन पर ग्राम्यक अर्थात् गांव का मुखिया प्रतिष्ठित था। प्रांतों में उपरिकों अर्थात् राज्यपालों की नियुक्तियां भी होती थीं। दामोदरपुर के ताम्रपत्र में हमें आरतदत्त नामक एक उपरिक का उल्लेख मिलता है जो पुंड्रवर्धन अर्थात् उत्तर बंगाल पर शासन करता था। पुलिस-प्रधानों, सैन्यभंडारपतियों, महादंडनायकों, आदि अधिकारियों के उपलभ्य ठप्पों से इस बात का कतई संदेह नहीं रहजाता है कि उस समय अधिकारियों की उच्चोच्च परंपरा का एक संगठन व्यवस्थित था, जो देश के विभिन्न भागों में सम्राट की सत्ता के नाम पर शासन चलाता था।

केंद्रीय सरकार सीधी सम्राट के नीचे काम करती थी। उसका प्रशासनिक भार एक मंत्रिमंडल पर था जिसका पहलुवा एक प्रधानमंत्री होता था। निःसंदेह अर्थशास्त्र में इसी व्यवस्था का उल्लेख कियागया है। कुछ प्रमुख मंत्रियों के नाम विस्मृति के गर्त से उभर कर अभी तक हमारे बीच में चले आरहे हैं। इनमें वीरसेन का नाम हमें विदित है। वीरसेन का 'अन्वयप्रतापसचिव्यो...' वाक्यांश में उल्लेख किया गया है, जिसका तात्पर्य है कि वह बपौती के नाम पर मंत्री के पद पर आरूढ़ था। वह हरिदयेग का पुत्र था जो स्वयं मंत्री और कवि था। वीरसेन महासंधिविग्राहक के पद पर था। शीकरस्वामिन एक उपरिक या राज्यपाल था। पर्णदत्त, जिसने स्कंदगुप्त के आदेश के अनुसार अबसे ६०० वर्ष पहले

चंद्रगुप्त-मौर्य द्वारा बनवायी गयी सुदर्शन झील की मरम्मत करवायी थी, सौराष्ट्र का एक उपरिक था। स्पष्ट है कि गुप्तवंशी राजाओं ने अपने दो-सौ वर्षों के राजकाल में साम्राज्य के उस प्रशासनिक यंत्र को और अधिक परिष्कृत और परिमार्जित करदिया जो पहले से चला आरहा था।

गुप्तकाल में देश की सर्वतोमुखी उन्नति हुई। साम्राज्य में चारों ओर समृद्धि फैलरही थी। गुप्तसाम्राज्य में सौराष्ट्र प्रांत के प्रदेशानुबंधन से अरब सागर के बंदरगाहों के द्वार जनता के लिए खुलगये जिनमें से होकर रोमन साम्राज्य का धन पहली बार उत्तर भारत में आना आरंभ हुआ। चंद्रगुप्त की विजय के उपरांत समुद्रतटवर्ती प्रांतों के साम्राज्य में मिलजाने से पहले यूरोप का व्यापारिक संबंध यहां केवल दक्षिण से था। मौर्यसाम्राज्य का माल कलिंग के बंदरगाहों से होकर बाहर जाता था और यह व्यापार मुख्यरूप से पूर्व के साथ था। गुप्तवंशी राजाओं ने पश्चिम के साथ व्यापार का द्वार खोल दिया जिसके कारण भारत में अभूतपूर्व समृद्धि की वर्षा होने लगी। चंद्रगुप्त द्वितीय ने मुद्रासंबंधी सुधार किया और टकसाल ने प्रामाणिक स्वर्ण और रजत-मुद्राएं बनायीं जिससे व्यापार को बड़ी सहायता मिली। रोमन साम्राज्य की छत्रच्छाया में शताब्दियों तक शांति बनीरही जिससे मध्यपूर्व दुनिया के व्यापार का केंद्र बनगया और गुप्तकालीन भारत ने इसके साथ व्यापार विनिमय करके भारी लाभ उठाया।

उत्तर और दक्षिण के बीच व्यापार में भी बढ़ोतरी हुई। इन दोनों भागों में दो स्थलीय मार्ग बहुत चालू थे: पहला मार्ग जबलपुर होकर पूरबी तट को जाता था, और दूसरा मार्ग उज्जैन, नासिक और कारवार होकर पच्छिमी तट पर पहुंचता था। सेनाएं इन्हीं मार्गों से कूच करती थीं। गुप्त राजाओं ने इन मार्गों की पूरी-पूरी देखभाल की और अनेक शताब्दियों तक तीर्थयात्री इनका प्रयोग करते रहे।

गुप्तकालीन ललित कलाओं से तत्कालीन भौतिक समृद्धि का आभास मिलता है। उस समय के स्थापत्यकला के नमूने हमें अब प्राप्त नहीं हैं, फिरभी भूमरा मंदिर और नांछनकुठारा मंदिर अभी तक सुरक्षित हैं। भूमरा मंदिर शिव का मंदिर है और नांछनकुठारा मंदिर अजयगढ़ में है। देवगढ़ का विख्यात दशावतार मंदिर भी गुप्तकाल की रचना कही जासकती है। हमें उस काल की अनेक प्रस्तरमूर्तियां उपलब्ध हैं जिनके सहारे हम तत्कालीन कला का मूल्यांकन करसकते हैं। आर. डी. बनर्जी का निम्नांकित अभिमत बहुत ठीक जानपड़ता है:

> "ईस्वी सन् की चौथी और पांचवीं शताब्दियों में उत्तरी भारत के लोगों के आदर्शों का रूपांतर होने के कारण गुप्तकालीन कला को भारतीय कला का पुनर्जागरण काल कहा जासकता है। इस परिवर्तनकालीन कला का आधार यह था कि अपने प्राचीन तत्त्वों को आत्मसात् कियाजाए, विदेशी स्रोत और विदेश से समागत कला का मूलोच्छेदन कियाजाए और अंततोगत्वा एक पूर्णतया नवीन और मूलतः भारतीय चीज का क्रमिक उत्पादन कियाजाए। कुषाणों के भारत में प्रवेश और उत्तर भारत के विभिन्न भागों में यूनानी राजाओं की स्थानिक शक्ति के कारण गांधार कला, जो अवशिष्ट विदेशी प्रभाव के केंद्र तक्षशिला पर मुख्यरूप से आधारित थी, लोकप्रिय होगयी थी। इससे

विशिष्ट यूनानी प्रभाव का आभास मिलता है और फूचर जैसे प्रतिभाशाली लेखकों ने तो इसी आधार पर भारतीय कला के पुनरुत्थान पर यूनान की प्रभावशाली छाप पड़ने का दावा किया है। कुषाणों के डांवाडोल शासनकाल में यह प्रवृत्ति बहुत उभर आयी थी किंतु यह गुप्तकालिक कला का गला नहीं घोंट सकी। गुप्तकालिक कला की आत्मा तो मूलतः भारतीय परंपरा से ओतप्रोत थी। इस काल की मूर्तिकला विशेष उल्लेखनीय है जो भारतीय तत्त्वों के पुनरुद्धार से अनुप्राणित है।"

मूर्तिकला की मथुराशैली पर उत्तर भारत के अन्य विशाल कलाकेंद्रों—वाणारसी और पाटलिपुत्र—की अपेक्षा विदेशी प्रभाव अधिक काल तक पड़ता रहा। उपर्युक्त दोनों स्थानों में हिंदू परंपराओं ने अपने पांव फिर जमा लिये और समय पाकर यह आंदोलन भारत में देशव्यापी बनगया। नालंदा के उत्खननों से उपलब्ध मूर्तियों से स्पष्टतः पता चलता है कि यूनानियो और कुषाणों का प्रभाव विशेष क्षेत्रों ही तक सीमित रहा, और भारत में एक स्थायी हिंदू साम्राज्य बनने की देर ही थी कि ये सीमांत-पर-छागये विदेशी प्रभाव अपने-आप छूमंतर होगये और भारतीय परंपरा के अंतस्तल में प्रवेश नहीं करसके। गुप्तकालिक कला की समीक्षा करते हुए कोडरिंगटन ने लिखा है : "गुप्त-कला की सराहना उसकी अपनी बौद्धिकता के कारण कीगयी है। इस कला का उद्गम प्राचीन भारतीय कला से मानना ही श्रेयस्कर होगा—उसमें हाव-भाव और चेष्टाओं का आकर्षक निरूपण, आकृतियों और छवि की झांकी, हृदयोद्गार की स्वाभाविक अभिव्यंजनाशक्ति, और स्फूर्त्तिदायी जीवन का आरोहावरोह तथा विविध मुद्राएं और मानसिक सौष्ठवता निखरी पड़रही है।"

गुप्तकाल में उच्चकोटि के संस्कृत साहित्य का सृजन हुआ। इसे संस्कृत साहित्य का श्रेष्ठ युग कहा जासकता है। पाणिनि के पश्चात् पांच सौ वर्ष तक संस्कृत का परिमार्जन और परिष्कार होता रहा और तब कहीं वह कालिदास के समय में अपनी लावण्य साहित्य-सुषमा से अत्यंत मनोरम बनगयी। कालिदास के समय के बारे में विद्वानों में मतभेद है, किंतु हमारे विचार से वे कविकुलचूड़ामणि अग्निमित्र के दरबार को सुशोभित करते थे। यद्यपि अनेक विद्वानों ने अबतक यह ईर्ष्यार्ह ऐश्वर्य गुप्तकालीन राजसभा को प्रदान किया है, किंतु मेरे विचार से उसे यह नहीं मिलना चाहिए। फिरभी गुप्तकाल में जिस प्रचुर मात्रा में संस्कृत साहित्य लिखागया उसके कारण कोई भी युग उसकी बराबरी नहीं कर सकता। इस समय प्रमुख पुराणों और महाभारत के नवीन संस्करण तैयार कियेगये जो निःसंदेह एक बड़ा काम था और अकेला यही काम गुप्तसाम्राज्य को हिंदूसभ्यता के निर्माण में एक ऊंचा स्थान प्रदान कर सकता है। इसमें संदेह नहीं कि महाभारत की कथा बहुत प्राचीनकाल से लोगों को ज्ञात है। धर्मशास्त्रों के लेखकों को ईसा से बहुत पहले ही पुराणों के प्राचीन रूप का ज्ञान था। किंतु महाभारत महाकाव्य का जो रूप आज हमारे सामने है, वह गुप्तकाल की देन है। बड़े-बड़े पुराणों के संग्रह भी तभी तैयार हुए। इस काल में इन ग्रन्थों को फिर से व्यवस्थित, संशोधित और संपादित कियागया। उनमें जोड़-घटाव इस प्रकार कियागया कि वे पूर्णतः नये साहित्य के रूप में परिणत होगये। महाभारत हिंदुओं के लिए एक महाकाव्य से भी कहीं

बढ़चढ़कर है। इसमें भारत की राष्ट्रीय परंपरा की निधि छिपी पड़ी है। यह नीति, आचार और धर्म का, तथा राजनीतिक और नैतिक कर्त्तव्यों का एक बृहद् विश्वकोष है। भगवद्गीता, जो अकेले ही इतना विशद है कि इसे हिंदुओं का सबसे बड़ा धार्मिक ग्रंथ मानाजाता है, इसी महाग्रंथ महाभारत के विराट उदर में निमीलित है।

जिस अतुल्य महाभारत ग्रंथ की आज भी हिंदुओं के जीवन पर अमिट छाप दीखती है उसका संपादन गुप्तकाल में हुआ था। इससे पहले के संस्करण का नाम-निशान भी ढूंढ़े नहीं मिलता है। यही बात पुराणों पर भी लागू होती है। प्राचीनतम परंपराओं का प्रतिनिधित्व करनेवाले श्रीमद्भागवत, स्कंद, शिव, मत्स्य, वायु और ब्रह्मांड पुराण राष्ट्रीय उद्देश्य की पूर्ति के लिए गुप्तकाल में फिरसे लिखेगये। यह उद्देश्य क्या था? कभी लोगों का यह विचार था कि भारत की धरती से बौद्धमत को जड़-मूल से उखाड़-फेंकने की दिशा में जो पहला कदम उठायागया था वह यही था कि संस्कृत का समस्त हिंदू लोकप्रिय साहित्य फिरसे लिखागया। कहाजाता है कि बौद्धों की जातक-कथाओं का जनता के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पड़ा था जिसको मिटाने के लिए ब्राह्मणों ने यह तरकीब सोची थी कि रोचक लोकप्रिय साहित्य की सृष्टि की जाए जो सार्वजनिक मानस को बौद्धमत के चंगुल से छुड़ाकर अपनी ओर आकर्षित करसके। किंतु यह तर्क बिल्कुल खोखला जानपड़ता है और इसका प्रमाण यह है कि इस काल में संस्कृत बौद्धमत की भी मार्के की उन्नति हुई थी और बुद्धचरित तथा सौंदरानंद जैसे बौद्धकाव्यों और बौद्धदार्शनिक विचारधाराओं की लोकप्रियता बढ़ी थी। इसी समय में नालंदा विद्यापीठ का प्रभाव चरमसीमा की ओर अभिमुख था। स्मरण रहे कि अबसे चारसौ वर्ष बाद तक बौद्धमत भारत में स्वतंत्र और परम पूजार्ह धर्म के रूप में फलताफूलता रहा।

इससे स्पष्ट होता है कि महाभारत और पुराणों का नूतन संग्रह नितांत किसी और उद्देश्य से तैयार करवायागया था। कुषाणों, यूनानियों और पार्थियनो के कारण यत्किंचित् अदृश्यरूप से भारतीय जीवन पर विदेशी प्रभाव पड़ा था। इस पुनर्लेखन का उद्देश्य इसी विदेशी और बाहरी तत्त्वों का मूलोच्छेदन करना था। ईसा की पहली शताब्दी से लेकर गुप्तकाल में राष्ट्रीयता के पुनरुत्थान तक हिंदूधर्म में विदेशी आदर्शों ने बहुतकुछ स्थान प्राप्त करलिया था। गांधार कला इसका मूर्तिमान उदाहरण है। बर्बरजातीय आदर्शों के हिंदूधर्म में प्रवेश करने से जितना भीषण संकट भारतीय सामाजिक ढांचे के सामने आखड़ा हुआ उतना कदाचित् भारत पर विदेशी विजयों से भी नहीं आया था। यदि इन विदेशी और आपस में फूट का बीज बोनेवाले तत्त्वों का विनाश करना और उनका उपयोगी अंश एक स्फूर्त्तिमयी भारतीय संस्कृति में मिलाना अभीष्ट था तो पुस्तकों को सरल शैली में फिरसे लिखकर और उनमें लोकप्रिय शिक्षाओं का समाहार करके उन्हें जनता के विस्तीर्ण भागों तक पहुंचाने के सिवा और कोई चारा न था।

गुप्तकालीन प्रयास ने इस दिशा में पूर्ण सफलता प्राप्त की। उस समय जिन ग्रंथों का संपादन हुआ उनका आजतक हिंदू साहित्य में ऊंचा स्थान है। इस विषय में महाभारत के परमविद्वान डॉ० सुखटणकर ने अपना मत अभिव्यक्त करते हुए लिखा है: "महाभारत में पाठ-शुद्धि,

क्षेपक और प्रसंग-विस्तार इस आशय के स्थूल प्रमाण हैं कि यह ग्रंथ केवल फलक पर पड़ा हुआ धूल-धूसरित होनेके लिए नहीं अपितु हमारे जीवन का प्रेरणा-स्रोत और दर्शक है। कदाचित् अपने इन्हीं गुणों के कारण महाभारत विस्मृति के उस अगाध गर्त में गिरने से बचगया है जिसमें गिलगमेश जैसे उसके समकक्ष ग्रंथ डूबकर खोगये हैं।

गुप्तकाल में भारतीय साहित्य और विज्ञान ने जो उन्नति की उसके कारण भी इतिहास में उसका उल्लेखनीय स्थान है। यहां पर स्थानाभाव के कारण गुप्तकालीन काव्यसाहित्य का वर्णन करना संभव नहीं किंतु ईसा की प्रथम चार शताब्दियों में भारतीय साहित्य इतना फलाफूला कि उसकी तुलना किसी दूसरे समय से नहीं की जासकती है। यद्यपि सांख्य-पद्धति असंदिग्ध-रूप से बहुत प्राचीन है फिरभी प्रायः यह मानाजाता है कि इस काल में हम दर्शन-क्षेत्र के एक नये मोड़ पर आते हैं। हमें बौद्ध स्रोतों से पता चलता है कि प्रकांड भाष्यकार वर्षगागण्य और ईश्वरकृष्ण इसी युग के क्षितिज पर प्रकाश फैलारहे थे।

प्राचीन काल में भारत ने विज्ञान के क्षेत्र में जो सफलता प्राप्त की थी वह चौथी और पांचवीं शताब्दियों में उन्नति के एक ऊंचे शिखर पर चढ़ती दिखायीदेती है। इस युग के तत्त्वचिंतकों ने शून्य की उपपत्ति और अंततोगत्वा दशमलवप्रणाली का सूत्रपात किया, जिन्होंने विचार के साम्राज्य में अदृष्टपूर्व क्रांति फैलादी। खगोलविद्या ने मार्के की उन्नति की। आर्यभट्ट का आविर्भाव इसी काल में हुआ जिन्होंने दुनिया को यह बताया कि पृथ्वी अपनी धुरी पर सूर्य के चारों ओर घूमती है। उन्होंने दिनमान की भी गणना की जिसमें केवल बहुत थोड़ी अशुद्धि रह गयी थी। निःसंदेह आर्यभट्ट का नाम खगोलविद्या के गण्यमान्य महापंडितों में है। उनका जन्म ४७६ ई. में पाटलिपुत्र में हुआ था। उन्होंने सूर्यग्रहण और चद्रग्रहण का कारण स्पष्ट शब्दों में बताया। यद्यपि दशमलवप्रणाली का अनुसंधान पहले होचुका था, फिरभी वह सर्वप्रथम गणितशास्त्री थे जिन्होंने इसका प्रसंग दिया है। इस युग के अन्य उद्भट वैज्ञानिक वराहमिहिर थे जिनकी मेधाशक्ति इतनी प्रबल थी कि प्राकृतिक विज्ञान की ऐसी कोई भी शाखा नहीं जिसकी उन्नति में उनका योगदान परिलक्षित न होता हो। सच तो यह कि गुप्तकाल के विद्वानों को जन्म ही से अतृप्त वैज्ञानिक जिज्ञासा प्राप्त हुई थी। इस लिए ज्ञान की खोज में निरंतर आगे बढ़ने की उत्कट अभिलाषा से उनका हृदय परिप्लावित रहता था। उनमें अपने प्रयास के अवश्यंभावी परिणामों का सामना करने का साहस था। यह एक ऐसी बात है जिसके कारण उनके दृष्टिकोण को प्रायः आधुनिक माना जासकता है।

धर्म की बेल फलफूल रही थी। उसमें परिवर्तन होचुका था और वह सजीव तथा प्रेरणा-प्रद बनगया था। हिंदू देवताओं के स्वरूपों में वस्तुतः क्रांतिकारी परिवर्तन होगया था। उनके चिरपरिचित नामों और प्राचीन आकृतियों में स्फूर्तिदायी गुणों का सन्निवेश कर दिया-गया था जिससे जनता के लिए उनकी पूजा में अधिक सजीवता आगयी थी। विष्णु का सबसे अधिक कायापालट हुआ था। त्रिदेवों में विष्णु को जगत का पालनकर्ता कहागया है। वह योगनिद्रा में मग्न बतायेजाते थे जिससे वह गतिहीनता के प्रतीक बनगये थे। किंतु अब

इस सिद्धांत में परिवर्तन कियागया और विष्णु के अवतारों का मत सामने आया जिससे वह जीवन के लिए स्फूर्ति और प्रेरणा के स्रोत बनगये, उनसे मानवीय विश्वासों का ढांढस फिर बंधगया और मानवता की रक्षा की आशा फिर हरीभरी होउठी। ईस्वी सन् आरंभ होने से बहुत पहले ही लोगों में दशावतार की कथा का प्रचार था, किंतु दशावतारों की पूजा लोक-ग्राह्य ईस्वी सन् के आरंभ होने के बाद ही हुई। दशावतारों में सबकी पूजा कभी नहीं की गयी। सबसे पहले दशावतारों में वराह अवतार के मंदिर की स्थापना कीगयी और उसकी पूजा-अर्चा आरंभ हुई। ये आदिवराह के मंदिर अब भी विद्यमान हैं और भक्तगण बड़ी श्रद्धा से उनकी पूजा करते हैं। आदिवराह को यह अपूर्व श्रद्धा क्यों प्राप्त हुई? इसका कारण यह जानपड़ता है कि वराह भगवान ही ने दानवों की शक्ति से पृथ्वी का उद्धार किया था। यद्यपि विविध अवतारों की पूजा की जानेलगी फिरभी सबसे अधिक लोकप्रियता कृष्ण भगवान की पूजा को प्राप्त हुई। कृष्ण को विष्णु का पूर्ण अवतार—सोलहों कला से अवतार—मानाजाता है। कृष्ण वस्तुतः विष्णु का वह अंतिम अवतार है जिससे विष्णु का पूर्ण तादात्म्य कर दियागया है। यह हिंदूधर्म के विकास की एक बड़ी घटना है। कृष्ण वासुदेव के नाम से पाणिनि भी परिचित थे, किंतु भगवान विष्णु के अवतार के रूप में उनकी पूजा प्रथम शताब्दी ई. पू. से पहले आरंभ हुई नहीं जानपड़ती है। कविशिरोमणि कालिदास ने जो स्वयं शैव थे, कृष्ण का उल्लेख किया है। इस प्रकार का प्रसंग उनके ग्रंथों में दो बार आता है। उन्होंने मेघदूत में कृष्ण के बारे में लिखा है कि वह 'गोपाल के रूप में विष्णु' हैं। दूसरीबार उन्होंने कुमारसंभव में विष्णु के लिए कृष्ण पर्यायवाची शब्द प्रयुक्त किया है। लोकरंजनकारी राम का नाम तो आगे चलकर ईश्वर का पर्याय होगया; किंतु इस रामावतार समेत अन्य अवतार सदा ही विष्णु के अंशावतार मानेगये हैं। कृष्ण ही को विष्णु का पूर्णावतार स्वीकार कियाजाता है। ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दियों में कृष्ण को जगत्पालक और परब्रह्म मानाजाने लगा। भगवद्गीता में, जिसका आधुनिक रूप गुप्तकाल से बाद की देन नहीं होसकती है, कृष्ण पूर्ण, अद्वैत और ब्रह्म के रूप में प्रतिष्ठित हैं। कम-से-कम दो गुप्त-सम्राट, चंद्रगुप्त और चंद्रगुप्त द्वितीय, वैष्णव थे। इनमें दूसरा सम्राट तो परम भागवत होने का दावा करता था।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इस काल में भगवान् शिव कम प्रभावशाली या कम लोकप्रिय होगये थे। वास्तव में, भारत के धार्मिक इतिहास की सबसे बड़ी थाती शिव का अविकृत प्रभाव है। शिव योगीश्वर के रूप में अंकित हैं जिससे हिंदू मानस की झलक मिलती है कि योग के सिद्धांतों में उसकी कितनी गहरी और स्थिर अभिरुचि है। रक्त से लथपथ, गजचर्म ओढ़े और नागों के आभूषण धारण कियेहुए योगीश्वर शिव कभी 'लोकप्रिय' देवता नहीं थे—शिव भगवान तो पूजन-अर्चन के लिए थे, प्रेम करने के लिए नहीं। वह कृष्ण की भांति अथवा सुहास मुद्रा में देवी की भांति ही व्यक्तिगतरूप से लोक-रंजनकारी, सुपरिचित देवता नहीं थे। वह तो जगन्नियंता सृष्टि के प्रलयंकर, तांडवनर्तनकारी रुद्र थे। शिव के अवतार भी नहीं होते हैं। उनके भैरव, महाकाल और अर्धनारीश्वर रूपों की तथा इन सबसे बढ़कर उनके प्रतीक लिंग की पूजा श्रद्धापूर्वक कीजाती है।

उन योगियों के अनेक अखाड़े थे जो शैव प्रतीक धारण करते थे। उनमें पाशुपत और कापालिक लोग तो अमानवीय और नृशंस क्रियायें करते थे। भारशिव राजा शिव-भक्त थे, और गुप्त राजाओं में कभी शिव और कभी विष्णु को इष्ट देव मानाजाता रहा। धर्मों में शाक्तमत सबसे प्राचीन है। इस समय सनातनमतावलंबियों के अनुरोध से जगन्माता देवी की भी अर्चना-पूजा आरंभ होगयी। गुणाढ्य की बृहत्कथा की जो तीन संक्षिप्त कृतियां मिलती हैं उनसे पता चलता है कि प्रथम शताब्दी ई. पू. में पूजन की तांत्रिक प्रणालिया प्रचलित थीं। वाममार्गियों की पूजापद्धति तबभी आजकल से भिन्न नहीं थी और उसे कोई अच्छी दृष्टि से नहीं देखता था। दक्षिणमार्गियों को कोई लांछन नहीं लगाता था और वे सनातनधर्म की मर्यादा में पूरी तरह प्रतिष्ठास्पद थे। कालिदास स्वयं देवी के भक्त जानपड़ते हैं। उनके नाम ही से प्रकट होता है कि यह उनका काल्पनिक नाम था जिसका अर्थ है काली का दास। रघुवंश में जो प्रशस्ति लिखीहुई है उससे अभिव्यक्त है कि शाक्तमत में शिव और पार्वती की अभिन्नता ग्रहण की गयी है। महाकवि कालिदास ने भावातिरेक से उज्जैन के भगवान महाकाल की स्तुति की है। कथासरित्सागर में संकलित गुणाढ्य की कहानी से हमें ज्ञात होता है कि महाकाल का पूजन-सेवन तांत्रिक पद्धति से किया जाता था। जानपड़ता है कि गुप्तकाल में देवीपूजा की विभिन्न प्रणालियां ही की नहीं प्रत्युत तांत्रिक पद्धति की विभिन्न शैलियां की भी जड़ें भारतभूमि में अच्छी तरह गहरी होगयी थीं। कभी यह धारणा प्रचलित होगयी थी कि बौद्धधर्म के विकृतरूप से तांत्रिक पद्धति का आविर्भाव हुआ, किंतु खोजबीन करने से यह निर्मूल सिद्ध होती है। इसके विपरीत बौद्धों के गुह्य समाज के सिद्धांतों के प्रेरणा-स्रोत स्वयं भारत के प्राचीन तांत्रिक ग्रंथ हैं।

देवीपूजा शैव और वैष्णव संप्रदायों के मूलाधार में प्रविष्ट होगयी। शिवशक्ति के सिद्धांत से लक्ष्मीनारायण संप्रदाय का आविर्भाव हुआ। गीता में भी 'मे प्रकृतिः' का प्रसंग आता है। इससे जानपड़ता है कि देवीपूजा कोई स्वतंत्र उपासना-पद्धति नहीं थी। किंतु यह एक उभयनिष्ठ पद्धति थी जिसके अनुयायी विना भेदभाव शैव और वैष्णव दोनों ही थे।

एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है। पूजा की उपर्युक्त तीन पद्धतियां थीं—ये तीन विभिन्न धर्म नहीं थे। इसका प्रमाण यह है कि उनके बाह्यरूपों, क्रिया-अनुष्ठानों और प्रतीकों में अंतर भले ही हो, उनकी विचारधाराओं, सिद्धांतों और पूजा के सूत्रवर्गों में वैपरीत्य नहीं था। ये सभी संप्रदाय एक ही विचारधारा अर्थात् वेदांतीय विचारधारा पर अवलंबित थे। तीनों का लक्ष्य भी एक ही—अर्थात् मोक्ष था। तीनों की पूजापद्धति की मुख्य-मुख्य बातें एकसार थीं और वे वेदों ही पर नहीं प्रत्युत आगमों पर आधारित थीं। शैवों के धार्मिक प्रतीक थे रुद्राक्ष, भस्म और लिंग। वैष्णवों के प्रतीक इनसे भिन्न थे। वैष्णवों और शैवों में मतभेद केवल इतना ही था कि दोनों अपने-अपने आराध्य देवों को एक ब्रह्म का स्वरूप मानते थे। इसके अलावा उन दोनों के बीच कोई खाई नहीं थी। यह केवल नाम-संज्ञा का अंतर था—यही सभी ग्रंथों का अभिमत है। ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों एक ही ब्रह्म के विभिन्न रूप हैं। यह सिद्धांत प्रतिपादित कियाजाता था। किंतु साधारण पुजारी के मन में देवता के स्वरूप

और गुण की विभिन्नता गरजती रहती थी और इस कारण वह भेदभाव की भूलभुलैयों में भटकता रहता था।

इस काल की एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि भारत का चीन के साथ संपर्क जुड़ा जिससे बौद्धमत का चीन में पदार्पण हुआ। यू-ची लोगों की राजधानी में च्वानकुन प्रतिनिधि-मंडल के आगमन के साथ भारत के बारे में चीनियों की दिलचस्पी बढ़चली और वे इस देश की भौगोलिक जानकारी प्राप्त करने की उत्सुकता दिखाने लगे। कश्मीर तथा दूसरी जगहों से भारतीय विद्वान अपने साथ केवल बौद्धग्रंथ ही नहीं प्रत्युत भारत की कलात्मक और सांस्कृतिक परंपराएं भी लेकर चांगआन पहुंचे।

निःसंदेह, बौद्धधर्म इस समय अपने यौवनकाल में था। फाह्यान के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि विहारों में भिक्षुओं का जीवन प्रेरणाप्रद, और अष्टांगिक मार्ग की ओर जनता का चित्त आकर्षित था। बहुत से विशद बौद्धग्रंथ इस काल में संस्कृत में लिखेगये जिससे मानव के बौद्धिक पुनरुत्थान में भी बौद्धधर्म ने अपना यथेष्ट योगदान किया। धर्माचार्य संत युवान-च्वान ने अबसे दो सौ वर्ष बाद भारत में आकर जिन एक सहस्र ग्रंथों का संग्रह किया और उन्हें चीन भेजा था उनमें अनेक बहुमूल्य ग्रंथ इसी काल में लेखनीबद्ध कियेगये थे। बहुत से चोटी के प्रतिभाशाली बौद्धतत्त्वदर्शी इसी युग में हुए थे जिनमें चार प्रमुख नाम ये हैं—नागार्जुन, वसुबंधु, परमार्थ और दिङ्नाग। नालंदा की ख्याति पहले ही से दूर दूर तक फैलचुकी थी और उसमें पढ़ने के लिए भारत के कोने-कोने से तथा अन्य बौद्धधर्मावलंबी देशों में से छात्र आकर भरती हुए थे।

गुप्तकाल मे धर्म के सामान्यतः व्यापक पुनरुत्थान और बर्बर जातियों को भारत की सीमा के बाहर खदेड़ देने के कारण राष्ट्रीय जीवन का समेकलन हुआ। इसीलिए भारत के इतिहास मे गुप्तकाल को अद्वितीय स्थान प्राप्त है। बड़े-बड़े व्यापारी सेठों, व्यापारमंडलों और शिल्पकारसंगठनों के दान के जो अभिलेख अब हमें प्राप्त हैं उनसे सिद्ध होता है कि भूमध्यसागरीय देशों और पूर्व के उपनिवेशों में भारत के व्यापार की धाक थी और गुप्त राजाओं के शासनकाल में हमारा आर्थिक जीवन सामान्यतः समृद्धिशाली था। इस काल में भारत की जो औपनिवेशिक हलचलें देखने में आयीं, उनका वर्णन एक पृथक अध्याय में किया जाएगा; किंतु राष्ट्रीय प्रभाव के विस्तार के कारण, जनता की दिनचर्या, स्वभाव और सामाजिक स्थितियों में जो परिवर्तन हुआ उसका उल्लेख संक्षेप में यहां किया जासकता है। लोग प्रायः रेशमी वस्त्र पहनने लगे थे। कालिदास ने चीनी रेशम का निश्चितरूप से वर्णन किया है। धनवान व्यक्ति मादक द्रव्यों का प्रयोग कियाकरते थे। यूं कहिए कि नशा करना उनमें प्रचलित था और इस कारण समाज में उन पर कोई अंगुली नहीं उठाता था। कथासरित्सागर में गुणाढ्य के समय की सामाजिक अवस्थाओं का वर्णन संकलित है। उसमें समाज के सभी वर्गों की अभिरुचि मादक द्रव्यों में बतायी गयी है यहां तक कि स्त्रियां भी इसका अपवाद नहीं थीं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लोगों को उस समय नशा करने की बहुत कुछ आदत-सी पड़ गयी थी। स्त्रियों को उस समय बहुत स्वतंत्रता प्राप्त थी।

कथासरित्सागर में स्त्रियों को पृथक रखने के बारे में एक युवती के उद्गारों का हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है। रत्नप्रभा नायिका कहती है :

"मेरे विचार से स्त्रियों को एकदम अलग रखने की प्रथा एक सामाजिक रूढ़ि है—या यूं कह सकते हैं कि वह एक मूर्खता है जिसके मूल में डाह काम करती है। कुछ भी हो, यह कोई अच्छी बात नहीं है। कुलीन स्त्रियों का रक्षक उनका स्वयं सतीत्व होता है, क्योंकि उनके लिए वही राजप्रासाद का एकमात्र महाप्रतिहार है। व्यभिचारिणी की रक्षा स्वयं ईश्वर भी नहीं कर सकता है।"

इस समय के साहित्य में अफीम और अन्य बेहोश करनेवाले द्रव्यों का नाम ढूंढने से भी नहीं मिलता है। यह भी भारतीयों का एक सद्गुण कहा जा सकता है जिसने उस समय इस देश का मुख उज्ज्वल कर रखा था।

अध्याय ७

दक्षिण भारत

भारत का दक्खिनी भाग, जिसे प्रायः दक्षिण भारत के नाम से पुकारते हैं, भौगोलिक परिभाषा के अनुसार एक प्रायद्वीप है। जानपड़ता है कि प्राचीन काल में इस प्रायद्वीप की सभ्यता के विकास का उत्तर में आर्यावर्त से कोई संबंध न था। अब यह मानाजाचुका है कि विंध्य के दक्षिणवर्ती प्रदेश में सभ्यता का विकास स्वतंत्ररूप से हुआ था। प्रागैतिहासिक कालमें सभ्यता यहां के विभिन्न केंद्रों में एक उच्चकोटि की संस्कृति के शिखर पर पहुंचने के लिए विकास की कुछ निश्चित सीढ़ियां पार करचुकी थी। खनिज खोदने और धातुभास्कर्य कला में निपुण संगठित समाजों का आविर्भाव दक्षिण के विभिन्न क्षेत्रों में उससे कहीं बहुत पहले का जानपड़ता है जबसे संसार के लिखित इतिहास का श्रीगणेश होता है।

कुछ यूरोपीय लेखकों ने यह भ्रांति फैलारखी है कि प्राचीन काल में पहले द्रविड़ लोग बाहर से आकर दक्षिण में बसगये और उन्होंने यहां अपनी सभ्यता का सूत्रपात किया। आश्चर्य यह कि भारतीय विद्वान भी उनके इस प्रचार के शिकार होगये और उन्होंने इस कपोलकल्पित धारणा को स्वीकार करने में उत्सुकता प्रकट की। किंतु इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि द्रविड़ बाहर से आये थे। इस प्रकार की कल्पना से भारतीय जनता के हृदय पर यह चोट करने का उद्देश्य जानपड़ता है कि मानों वह बिना बाहरी सहायता के, स्वतंत्र-रूप से, अपना विकास कर ही नहीं सकती थी। वास्तव में हमें जो प्रमाण मिलते हैं और प्रागैतिहासिक काल की गवेषणाओं से जो निष्कर्ष निकले हैं, उनसे यह बात सुनिश्चित हो जाती है कि जिसे हम द्राविड़ सभ्यता के नाम से पुकारते हैं वह दक्खिनी प्रायद्वीप में, स्वतंत्ररूप से और बिना किसी बाहरी प्रभाव के, उद्भूत और विकसित हुई थी। पहाड़ी क्षेत्रों में जो पिछड़ी आदिमजातियां रहती हैं वे इस बात का प्रमाण हैं कि जिन जातियों की सभ्यता प्रगति करचुकी थी उन्होंने इस दिशा में पिछड़ी जातियों को अपने बीच से खदेड़-दिया और तब उन्होंने कहीं दुर्गम पर्वतों में जाकर अपना सिर छिपाया।

ईस्वी सन् आरंभ होने से कम-से-कम एक सहस्राब्दी पहले जिन देशों ने द्राविड़ सभ्यता के विकास में सहयोग दिया वे समुद्रपार के देश मेसोपोटामिया, मिस्र और फिलस्तीन थे। भारतीय प्रायद्वीप के साथ इन देशों के संपर्क के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। मध्यपूर्व के देशों के साथ दक्षिण भारत का संपर्क कम-से-कम १२०० वर्ष ई. पू. पुराना सिद्ध होचुका है, और भारत के पच्छिमी तट, तथा ईरान-की खाड़ी और लालसागर के बंदरगाहों के बीच व्यापार बड़ी उन्नत दशा में था। मध्यपूर्व सामान्य उपयोग की वस्तुओं का भारत से आयात

करता था और इनके भारतीय नामों ने हीब्रु भाषा में प्रवेश पालिया था। इस बात से स्पष्ट संकेत मिलता है कि जब डेविड और सोलोमन का जुडिया पर राज्य था तब जुडिया और भारत का आपसी व्यापार खूब फलफूलरहा था और ओफिर बंदरगाह वाणिज्य का एक बड़ा केंद्र बनगया था। मुगेर के चंद्रमंदिर और नेबूछद्दा-ए-नज़र के प्रासाद में भारतीय लकड़ी की धरनियां मिली हैं। इस वर्णन से भारत के समुद्री संपर्क पर प्रकाश पड़ता है और उसे ऐतिहासिक महत्त्व का अभिलेख नहीं माना जासकता है। किंतु हमें दक्षिण भारत और पश्चिम के आपसी संबंधों के बारे में जो प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं उनसे यह निष्कर्ष निकालना अनुचित न होगा कि दक्षिण और भारतीय प्रायद्वीप में प्राचीनतम काल से एक स्वतंत्र सभ्यता का विकास हुआ जिसका लगाव उत्तर से नहीं था और मध्यपूर्व के देशों से इसका घनिष्ट व्यापारिक लेनदेन था।

प्रशांत महासागर के द्वीपों के साथ दक्षिण भारत का संबंध इससे भी पहले जुड़गया था। सिलवेन लेवी ने ठीक ही लिखा है कि ईस्वी सन् प्रारंभ होने से कई शताब्दियों पहले ही दक्षिण भारत के बंदरगाहों से पूर्व में समुद्र द्वारा गमनागमन शुरू होगया था। ईस्वी सन् के प्रादुर्भाव से पहले जिन सागरीय मार्गों द्वारा भारतीय सभ्यता धरती के विभिन्न भागों में जा उतरी उनके विषय में यह कहनाा तर्कसंगत प्रतीत होता है कि वे नये मार्ग नहीं रहे होंगे। इससे पहले दक्षिण भारत से लोग एक बड़ी संख्या में बाहरी देशों में चलगये होंगे जिनका प्रभाव अबभी आस्ट्रेलिया-एशियाई जातियों और मेडागास्कर के लोगों पर परिलक्षित होता है।

यह बात ध्यान देने योग्य है कि जब दक्षिण भारत का चित्र सबसे पहले श्रीमद्रामायण द्वारा हमारी आंखों के सामने आता है तब उसमें हमें जावा और सुमात्रा के भी विशिष्ट प्रसंग मिलते हैं। रामायण में लिखा है कि जब राम किष्किंधा (आधुनिक बेल्लारी) पहुंचे तब वहां उन्हें सभ्य जातियां देखने को नहीं मिलीं, जिससे प्रकट होता है कि भारत की उत्तर और दक्खिन की संस्कृतियों में पार्थक्य था। वस्तुतः उन दोनों के बीच कोई सामान्य धरातल नहीं था। बाद में, तीसरी शताब्दी ई. पू. जब अशोक ने शिलाओं पर राजाज्ञाएं खोदवायीं तब दक्षिण भारत को लोग केवल जानते ही न थे अपितु उसपर नव्य-आर्य सभ्यता की धाक भी छाचुकी थी। अशोक के दो प्रारंभिक शिलालेख (लघु राजाज्ञाएं नं. १ और २) मैसूर के चित्तलदुर्ग में हैं। मौर्य साम्राज्य की सीमा दक्खिन में मैसूर तक फैलीहुई थी। उस समय धुर दक्खिन में चोल, चेर और पांड्य ये तीन राज्य थे जो मौर्यों की प्रभुता से बाहर स्वाधीन थे, किंतु उनके साथ मौर्यों का मधुर मैत्री-संबंध था। जैसाकि पहले लिखा जाचुका है, अशोक ने श्रीलंका में धर्मप्रचार के लिए एक प्रतिनिधिमंडल भेजा था।

यह स्पष्ट है कि मौर्य साम्राज्य के अभ्युदय से शताब्दियों पहले नव्य-आर्य सभ्यता ने दक्षिण में प्रवेश करके अपना प्रभुत्व स्थापित करलिया था जिसके सहारे, समय पाकर, मौर्यों ने इस प्रदेश को अपने राजनीतिक अधिराज्य में परिवर्तित करलिया। चोल, पांड्य और चेर राज्य भारत के गण्यमान्य राजतंत्रों में गिनेजाने लगे। यद्यपि दक्षिण भारत की

अधिकांश रुझान समुद्री हलचल और अपनी आर्थिक समृद्धि की ओर बनी रही फिरभी सांस्कृतिक दृष्टि से इस समय उत्तर और दक्खिन के बीच का अंतर घटगया।

पहली शताब्दी ई. पू. में दक्षिण भारत का व्यापार रोमन साम्राज्य के साथ बहुत अधिक बढ़गया था। कैंब्रिज ऐंशियेंट हिस्टरी के लेखानुसार इटली अकेले स्पेन को छोड़कर अन्य सभी देशों की अपेक्षा भारत से सबसे अधिक माल मंगाता था। प्लाइनी ने गणना करके बताया है कि रोम भारत को ५५ करोड़ सेस्टर्स (१ सेस्टर्स = ३/४ रुपया) का वार्षिक भुगतान करता था और इस प्रकार भारत के साथ व्यापारिक चिट्ठा का पूरा चुकता करने में रोम को १० करोड़ सेस्टर्स की क्षति उठानी पड़ती थी। पांडुचेरी के निकट अरिकामेडू के अर्वाचीन उत्खननों से यह बात असंदिग्धरूप से निश्चित होगयी है कि दक्षिण भारत में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति के समुद्रतटवर्ती नगर थे और वे रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार पर मुख्यतः निर्भर रहते थे। पच्छिमीतट (केरल में) पर मुजीरी और पूर्वी तट पर अरिकामेडू बंदरगाह तो भूमध्यसागरीय माल के विशाल विक्रयालय थे। उपर्युक्त उत्खननों से रोमन सिक्कों का जो प्रभूत संग्रह मिला है उससे इस व्यापार का स्पष्ट साक्ष्य सामने आजाता है और साथ ही इन उत्खननों से यह भी प्रमाणित होजाता है कि ईस्वी सन् से पहले ही दक्षिण भारत में भौतिक सभ्यता उन्नति के एक ऊंचे शिखर पर पहुंचगयी थी।

अरिकामेडू के उत्खननों का अभी हाल में प्रकाशित विवरण विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे जहां एक ओर तमिल साहित्य के प्रमाणों की पुष्टि होती है वहां दूसरी ओर ईस्वी सन से पहले द्राविड़ सभ्यता के कुछ मुख्य रूपों का निर्विवाद ढंग से निरूपण भी होजाता है। इन उत्खननों से पता चलता है कि वहां एक विशाल व्यापारिक केंद्र था जहां कभी विदेशी व्यापारियों के बड़े बड़े मालगोदाम या बखार माल से भरे पड़ेरहते थे। अन्य महत्त्वपूर्ण चीजों के साथ कुछ रोमनकालीन मिट्टी के बर्तन-भांडे भी मिले हैं। पहली शताब्दी के तमिल-साहित्य में जिस कावेरीपत्तनम का वर्णन है वह अपने वर्तमान स्थल से कुछ दूर दक्खिन की ओर था। इस बंदरगाह का वर्णन करते हुए तमिल साहित्य में लिखा हुआ है: "सूर्य की किरणें खुली छतों को चूमरही थीं, बंदरगाह के निकट मालगोदामों को ढूंढ रही थीं और हिरन की आंखों की भांति चमकीली कंगूरों की खिड़कियों से झांकरही थीं। पुहार के विभिन्न स्थानों से दर्शकों का ध्यान यवनों के भवन की ओर खिंचजाता था जिसकी समृद्धि में कभी न्यूनता का भाव नहीं खटका। बंदरगाह में देशदेशांतरों के नाविकों के दर्शन होते थे।" यहां रोमन सिक्के भी धड़ाधड़ चलते थे और रोम दक्षिण भारत से अधिकांशतः गरम मसालें, सूती कपड़े, मोतियों और परंपरागत भारतीय उत्पादनों को खरीदता था और बदले में मिट्टी और कांच के बर्तन-भांडे तथा सोना देता था।

इस त्रिराज्य ने पहले ही से द्राविड़ पद्धति की परंपरागत शासनविधि का अनुशीलन कररखा था। महासागरीय व्यापार की नकेल हाथ में होने और भूमध्यसागर तथा प्रशांतीय द्वीपों से घनिष्ट संपर्क के कारण यह प्रदेश शांतिपूर्वक निरंतर उन्नति करतागया और आर्थिक समृद्धि की एक ऊंची चोटी पर चढ़गया। मेगास्थनीज को भी पांड्यों का नाम मालूम था। उस

समय इनके देश पर एक रानी राज कररही थी जिसकी शक्तिशाली सेना में ५०० हाथी, ४००० घुड़सवार और १,३०,००० पैदल थे। निःसंदेह इसी सैनिक शक्ति को देखकर मौर्यों ने उस राज्य को अपनी सीमा में मिलाने का विचार नहीं किया था।

महर्षि पतंजलि (१५० वर्ष ई. पू.) ने कांची (कांजीवरम) और केरल का उल्लेख किया है। पतजलि ने लिखा है कि दक्षिण में बड़ी झीलों के लिए संस्कृत के सरसी शब्द का प्रयोग करते थे जिसका निचोड़ यह कि वहां दो शताब्दियां ई. पू. सस्कृत का प्रचार होगया था। मेगास्थनीज के उल्लेखों और अशोक के शिलालेखों के साथ इन सब बातों पर विचार करने से हम निश्चय ही यह कह सकते हैं कि नव्य आर्य संस्कृति कम-से-कम पांचवीं शताब्दी ई. पू. के अंत ही से दक्षिण में पूरी तरह पैठ चुकी थी।

दक्षिण में समाज का संगठन मुख्यतः आदिमजातियों और विशेषतः अनार्य जातियों पर खड़ा था। जानपड़ता है कि द्रविड़ लोगों ने अपने संगठन अपनी-अपनी चिह्नधारी जातियों के नाम पर किये थे और ये जातियां दीर्घकाल तक अपने वंशमूलक प्रतीकों की पूजा करती रहीं। नायरों में नागपूजा उसी प्रणाली की अवशिष्टस्वरूप अब तक चली आरही है। जो जातियां स्वभावतः अपने निजी ढंग से जीवन बितारही थीं उनपर आर्यसभ्यता लाद दीगयी। जानपड़ता है कि इन देसी धर्मों पर मूलतः हिंदूधर्म ने नहीं, प्रत्युत जैनमत और बौद्धमत ने प्रहार किया। ये दोनों संप्रदाय अपने प्रारंभिक काल ही में दक्षिण भारत में घुसगये। इसका कारण यह कि उनसे पहले आर्यमत का जो प्रभाव वहां स्थापित हुआ था वह अभी तक इतना दृढ़ नहीं था कि उत्साहपूर्वक धर्मप्रचार करनेवाले पर्यटक बौद्ध भिक्षुओं से टक्कर ले सके।

भारत के इतिहास में दक्षिण भारत का सर्वांगीण चित्र दूसरी शताब्दी ई. पू. में देखने को मिलता है। खारवेल के हाथीगुंफा का शिलालेख वह प्रथम सुलभ ऐतिहासिक अभिलेख है जिससे पता चलता है कि किसी शक्तिशाली राजा ने दक्षिण में लड़ाइयां लड़ी थीं। यह कलिंग का राजा था। कलिंग के लोग द्राविड थे। किंतु वे आर्यों के प्रभाव में आकर दक्षिण की अन्य जातियों की अपेक्षा उनमें अधिक घुलमिल गये थे। खारवेल के झंडे के तले इकट्ठे होकर कलिंगों ने दक्षिण के युद्धों में विजय पर विजय पायी और समस्त दक्षिण भारत व्यावहारिकरूप से उनके नियंत्रण में आगया।

खारवेल ने तमिल राज्यों के संघ को (१६५ वर्ष ई. पू.) ध्वस्त करदिया था। उसने अपने शिलालेख में लिखा है कि कलिग के राजा ने पांड्य और केरल का वह विशाल मुक्ता-भडार छीन लिया जिस पर उनकी ख्याति अवलंबित थी। इस प्रसंग से सिद्ध होता है कि त्रिराज्य के रूप में तमिल देश पहले ही संगठित होचुका था और जैसाकि पहले मेगास्थनीज के शब्दों का उल्लेख किया जाचुका है उनके अनुसार वहां एक उच्च कोटि की सभ्यता का दौरदौरा था।

चेरों के जिस प्रथम राजा का वर्णन हमें मिलता है वह उदियान जेरल (१५० ई.) था जिसके पुत्र नेदुम जेरल आदन ने यवनों को समुद्री लड़ाई में पराजित करने और कुछ को बंदी बनाने का दावा किया है। वह सचमुच एक शक्तिशाली योद्धा था जिसने अपनी प्रशस्ति

में यहां तक कहा है कि इस "सत्ताधारी राजा के राज्य की सीमा हिमालयपर्वत से जामिली है"। उसके पुत्र सेरन सेंगुथुवान की गणना दक्षिण भारत के महान राजाओं में कीजाती है। कारीकल चोल (१९० ई.) भी कम महत्त्वपूर्ण व्यक्ति नहीं था। उसने पांड्यों और चेरों को हराकर तमिल देश पर अपना वर्चस्व स्थापित करलिया था। वह एक प्रजापालक उदार शासक था जिसने ऊसर-बंजर भूमि को तोड़वाया, सिंचाई के लिए जलाशय बनवाये और जनता की भलाई के कामों की ओर प्रायः ध्यान दिया।

ईसाकी प्रारंभिक शताब्दियों में तमिल देश में प्रचुर साहित्यिक गतिविधि दीखने में आयी। इस युग में सर्वप्रथम साहित्य-संगम अर्थात् साहित्य अकादमी की स्थापना हुई जिसका सौरभ कालांतर में चारों ओर बिखरता रहा। इसमें संदेह नहीं कि इस युग में सर्वोत्कृष्ट तमिल साहित्य की रचना कीगयी जिसमें सुप्रसिद्ध महाकाव्य सिलप्पादिकारम का नाम उल्लेखनीय है।

इधर त्रिराज्य के अंतर्गत तमिल देश की उन्नति होरही थी, उधर उत्तरी दक्षिण में बड़े-बड़े परिवर्तन होरहे थे। दक्षिणापथ में खारवेल का अल्पकालीन साम्राज्य विनष्ट होगया और उसके स्थान में प्रतिष्ठान के सातवाहनवंश का राज्य स्थापित हुआ जिसने उत्तर और दक्षिण को एक धागे में पिरोने का, कदाचित् सबसे बड़ा काम किया था। इस महान वंश का पहला राजा कृष्ण और अंतिम राजा माधवपुत्र था जिनको भारतीय इतिहास में अद्वितीय स्थान प्राप्त है। कृष्णराज के बाद सुमुख राजगद्दी पर बैठा जिसका उत्तराधिकारी सतकर्णि था। सतकर्णि का राज्य विंध्याचल के उत्तर और दक्खिन दोनों दिशाओं में फैलाहुआ था। जान-पड़ता है कि उत्तरी राज्यों के छिन्नभिन्न होने से और शकों तथा अन्य विदेशी तत्त्वों के भारत में घुस-आने से प्रतिष्ठान के राज्य पर प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा था क्योंकि गौतमपुत्र सतकर्णि की इन विदेशियों को देश से मारभगाने और सातवाहनवंश की धाक फिरसे स्थापित करने की दर्पोक्ति उसके शिलालेखों में मिलती है। ईस्वी सन् के प्रारंभ होने तक सातवाहनों की सत्ता अच्छी तरह स्थापित होगयी थी और इस वंश के विपुल शिलालेखों से पता चलता है कि शुंगों के अधःपतन और वाकाटकों के अभ्युदय के बीच के काल में, मध्यवर्ती भारत में शांति का साम्राज्य रहा और धन्यधान्य की खूब वृद्धि हुई। इतना ही नहीं, इस समय किसी भी विदेशी ने इस प्रदेश पर हमला करने का हौसला नहीं किया। सातवाहनों के हाथ में ७३ वर्ष ई. पू. से २१८ ईस्वी अर्थात् लगभग तीन शताब्दियों तक शासनसूत्र रहा। यह दक्षिण में नव्य-आर्य सभ्यता की उन्नति का सर्वश्रेष्ठ समय था।

सातवाहनवंश की एक उल्लेखनीय बात यह है कि राजाओं के नामों के साथ उनकी मातृवंशी उपाधि का उपसर्ग लगारहता है। उदाहरण के लिए, गौतमीपुत्र सतकर्णि का अभि-प्राय यह है कि सतकर्णि जो माता गौतमी का पुत्र है। इसी प्रकार वाशिष्ठी का पुत्र वाशिष्ठीपुत्र पुलुमयी, गौतमीपुत्र श्रीयज्ञ सतकर्णि, आदि नाम थे। सुदूर पूर्व के उपनिवेशों में कुछ मातृवंशी राजाओं में भी इसी प्रकार की असाधारण रूढि का प्रचलन मिलेगा।

प्रतिष्ठान साम्राज्य सामरिक दृष्टि से एक महत्वापूर्ण विस्तृत प्रदेश में फैलाहुआ था।

भौगोलिक दृष्टि से यह उत्तर की आर्यसभ्यता और दक्खिन की ऐतिहासिक द्राविड़सभ्यता के बीच के आपसी संबंधों की एक प्रयोगशाला था। यह साम्राज्य लगातार तीन सौ वर्षों तक कायम रहा, और इसके बारे में यह दावा करना अनुचित नहीं होगा कि उसने भारत की सांस्कृतिक एकता की कड़ियां जोड़ने में ऐतिहासिक सफलता प्राप्त की थी। मौर्यों ने दक्षिण पर जो विजय पायी थी इससे उत्तर की सत्ता फैलकर दक्षिण तक पहुंच गयी थी। हां, इसके साथ में उत्तर की संस्कृति और विचार भी वहां प्रवेश करगये थे। लेकिन अशोक की मृत्यु के उपरांत मौर्यों का प्रभाव दक्षिण पर शिथिल होगया और आगे चलकर उत्तर तथा दक्षिण को विचारों की एक डोरी में बांधने के लिए मौर्य साम्राज्य की सरकार का प्रभाव भी अधिक दिनों तक स्थिर नहीं रहसका। सातवाहन साम्राज्य भारत के मध्य में स्थिर था और सातवाहन राजे बड़े ही प्रभावशाली थे। इसलिए वे अपना ऐतिहासिक उद्देश्य सफलतापूर्वक पूरा करसके। हम देखते हैं कि चौथी शताब्दी में दक्षिण भारत पूरी तरह आर्यों की विचारधारा में रंग गया। कांची के पल्लवों की सत्ता पर संस्कृत-सभ्यता की छाप लगगयी और पांड्य तथा चेर भी पूरी तरह से हिंदू सभ्यता के निर्धारित ढांचे के भीतर आगये। इस महान रूपांतर का श्रेय सातवाहनों को है।

सातवाहनों की राजधानी प्रतिष्ठान अपने युग में सभ्यता का एक विशाल केंद्र थी। तत्कालीन साहित्य में इसकी सर्वांगीण झलक मिलती है। यूनानी भूगोलवेत्ता तोलेमी ने जिस स्थान का नाम पाइथान लिखा है वही पुलुमायी या पोलमाइओस की राजधानी प्रतिष्ठान थी। यहां पर बृहत्कथा का महान लेखक गुणाढ्य निवास करता था। उस समय संस्कृत और बर्बर जातियों की बोली पैशाची में जो द्वंद्व चलरहा था, उसका अभ्यास बृहत्कथा से मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृत सभ्यता और संस्कृति का माध्यम बनने के लिए कितना हाथ-पैर माररही थी।

सातवाहनों के शासनकाल में हिंदूधर्म और बौद्धमत दोनों समानरूप से फलतेफूलते रहे। "हमारे ईस्वी सन् की प्रारंभिक शताब्दियों में," ग्राउसेट लिखता है कि "जब भारत कला और राजनीति के क्षेत्रों में विदेशियों—यूनानियों और सिथियनों की पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ा जारहा था तब आंध्र ने अपनी राजनीतिक स्वाधीनता और भारत की कलात्मक परंपरा को अक्षुण्ण बनाये रखा। दूसरी से चौथी शताब्दी तक अमरावती, गोली और नागार्जुन कोंड में स्तूपपुंज खड़े करदिये गये जिनपर उत्कीर्ण शिल्पकला, सांची की अविकसित बौद्धकला और चौथी से सातवीं शताब्दियों तक की गुप्तकालीन निर्माणशालाओं की कला के बीच संबंध जोड़नेवाली कड़ी का काम देरही है। राजकीय दान से और दान-वीरों की उदारता से देश भर में जगह जगह धार्मिक संस्थाओं, मंदिरों, मठों और धर्मशालाओं की स्थापना की जारही थी। भेलसा के बौद्ध स्मारक के एक गुंबद पर लिखा है कि श्री सतकर्णि के शिल्पकारों के मुखिया ने इस स्मारक के बनाने के लिए धन दिया था। नासिक के शिलालेख से पता चला है कि दानवीर उशवदत्त ने कंदरा का, उत्कीर्ण करवाकर, एक बौद्धमठ बनवाया था और उसने ब्राह्मणों को भी अनेक दान दिये थे। इस धर्मात्मा बौद्ध व्यापारी ने

एक लाख ब्राह्मणों को भोज भी दिया था। इसी प्रकार गौतमीपुत्र सतकर्णि जो अपने को ब्राह्मणों का अप्रतिम संरक्षक उद्घोषित करता था, बौद्धों को दान-दक्षिणा देने और उनकी भलाई करने में कभी पीछे नहीं रहा।

सातवाहनों ने कंदराओं को उत्कीर्ण करवाकर मंदिर बनवाने में बेजोड़ ख्याति प्राप्त की है। एलौरा और अजंता के मनोरम मंदिरों के निर्माण में सातवाहनों ही की परंपरा आगे वेग से चलती रही और मध्यवर्ती भारत के एक के बाद दूसरे राजवंश इस काम को उत्साह-पूर्वक अपने हाथ में लेते रहे और इन ऐतिहासिक गुफाओं की रचना के श्रेय में साझेदार होने का दावा करते रहे। मध्यवर्ती भारत की परंपरा का आधार उसी प्रकार सातवाहन साम्राज्य है जिस प्रकार उत्तर की परंपरा का मौर्यसाम्राज्य था। ऐतिहासिक क्रम की दृष्टि से यह प्रारंभिक तथ्य जानना आवश्यक है कि सातवाहनों ने जिन परंपराओं का सूत्रपात किया वे भारतीय इतिहास में स्फूर्तिदायी बनी रहीं। हम आगे इस विषय पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे।

सातवाहन साम्राज्य की सीमाएं दोनों पार्श्वों पर समुद्र से प्रक्षालित थीं और धुर दक्खिन में पांड्य, चोल और चेर के त्रिराज्य को छोड़कर शेष समस्त दक्षिण भारत उसमें सम्मिलित था और उत्तर में उसके भीतर भेलसा तथा मध्यभारत का एक बड़ा भाग आजाता था। उड़ीसा स्पष्टतः इस साम्राज्य का अंग था। साम्राज्य का समुद्री तट बहुत लंबा था और उसमें अनेक महत्त्वपूर्ण बंदरगाह थे। इसलिए उसका वाणिज्य और व्यापार दिन दूना और रात चौगुना फलताफूलता रहा। इस समय कल्याण नामक नगर व्यापार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण केंद्र बनगया। हमें कन्हेरी और जुन्नर की गुफाओं के शिलालेखों से पता चलता है कि इस नगर के अनेक व्यापारी सेठों ने सार्वजनिक सेवा और लोकोपकार के लिए मुक्तहस्त होकर दान दिया था। इस समय सेठों की व्यक्तिगत समृद्धि कितनी बढ़ीचढ़ी थी इसका संकेत इस तथ्य से मिलता है कि गोआ के निकट एक महत्त्वपूर्ण व्यापारिक और औद्योगिक नगर वैजयंती के एक उदार सेठ ने अकेले ही कर्ली की विशाल कंदराओं को उत्कीर्ण करवाया था।

सातवाहनों के साम्राज्य के विभिन्न भागों के बीच में संचार-साधनों की सुविधा की उल्लेखनीय अवस्था थी। इस निमित्त सामाज्य के दूरवर्ती भागों में रहनेवाले व्यापारियों ने अनुदान दिया था। इन व्यापारियों द्वारा व्यापार को प्रोत्साहन मिलने और पूंजीपतिवर्ग के निजी प्रभाव के कारण देश में गमनागमन को अधिक सुविधाजनक और सुरक्षित बनाना आवश्यक होगया था। इससे पहले प्राचीन काल में तीर्थाटन से गमनागमन की राष्ट्रव्यापी समस्या का सूत्रपात होगया था और इसमें संदेह नहीं कि तीर्थयात्रियों के कारण इस ओर बहुत ही ध्यान दिया जाता रहा था।

तीसरी शताब्दी के मध्यकाल में विंध्यक्षेत्र में वाकाटक-सत्ता का अभ्युदय हुआ जिसने सातवाहनों की शक्ति का अंत कर दिया। किंतु अपने मूल स्थान में सुदृढ़ होने के कारण यह साम्राज्य इस राजवंश का भाग्य अस्त होते ही दृष्टि से ओझल नहीं हो गया। जिस प्रकार वाकाटकों ने विंध्य के उत्तर में अपना सिक्का जमालिया था उसी प्रकार सातवाहनों के भूतपूर्व मांडलिकों अर्थात् राष्ट्रकूटों और चालुक्यों ने गोदावरी की घाटी में तथा पल्लवों ने दक्खिन में

अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर इस साम्राज्य के उत्तराधिकारी होने का दावा किया। गांगों और कादंबों को भी सातवाहन परंपरा धरोहर के रूप में मिली और विजयनगर के राजे तो अपने को चालुक्यचूड़ामणि की प्रशस्ति से समलंकृत करते थे। इसी प्रकार गुजरात के प्रतापी राजालोग भी चालुक्यो के उत्तराधिकारी होने का दावा करते थे। इस सबका तात्पर्य यह कि इस तरह सातवाहन साम्राज्य की परंपरा कम-से-कम सत्रहवीं शताब्दी के आरंभ तक जीवित बनी रही।

कांची के पल्लव राजवंश के अभ्युदय के इतिहास पर अंधकार का आवरण पड़ाहुआ है। पल्लव और पह्लव नामों में समानता के कारण पहले के इतिहासवेत्ताओं को कुछ भ्रम हो गया और जल्दबाजी में आकर वे दोनों को एक-दूसरे का संबंधी मान बैठे। यूरोपीय इतिहास-कारों की दूसरी प्रवृत्ति यह देखने में आयी है कि जो कुछ भारत में उन्हें अच्छा जानपड़ा उसीको वे विदेशियों की देन मानने का ढोल पीटने लगे। भारतीय इतिहासकार डा. कृष्णस्वामी अय्यंगर ने सभी प्रमाणों की सावधानी से खोजबीन करने के बाद लिखा है :

"अपने समय के किसी भी अभिलेख में कांची के पल्लवों के लिए पह्लव शब्द का प्रयोग कहीं भी नहीं मिलता है। सब से पहली बात यह है कि पल्लव शब्द स्वयं तमिल के शब्द तोंडय्यर और तोंडयन का अनुवाद प्रतीत होता है। कुछ ताम्रपत्रों से इसकी पुष्टि होती है कि किसी स्थान या संस्था का नाम पल्लव रहा होगा जिसका अर्थ बादमें पत्ता या पल्लव लगायाजाने लगा। इसमें संदेह नहीं कि यह अर्थ बाद में परिपोषित कियागया, किंतु इससे यह व्यक्त हो जाता है कि पह्लवों की भांति पल्लवों के विदेशी होने का कोई परंपरागत विचार लोगों के मस्तिष्क में नहीं था। जितनी भी सामग्री की छानबीन कीगयी है उस सबसे हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किसी भी जाति या परिवार के, उत्तर-पच्छिम से होकर दक्खिन की ओर, प्रवास के लिए प्रयाण करने का तनिक भी संकेत नहीं मिलता है जिसने अंततोगत्वा अपने को दक्षिण में राजवंश की मर्यादा में परिणत कर लिया होता। इस भांति केवल संभावना के ढुलमुल आधार पर एक जाति के लोगों को दूसरी जाति के लोगों के साथ जोड़ने की कोशिश कीगयी है। इसके अतिरिक्त जहां तक अनूदित पल्लव शब्द का संबंध है उसके प्रमाण में इतना कहा जासकता है कि जिस प्रकार दक्खिनी शब्द ने रूपांतरित होकर संस्कृत में द्राविड़ या दामिड़ स्थान प्राप्त कर लिया उसी प्रकार पल्लव की भी अपनी कहानी हो सकती है।" वास्तव में, राजशेखर में पह्लव और पल्लव शब्दों का अंतर स्पष्टरूप से जोर देकर समझाया गया है।

जानपड़ता है कि दक्खिनी क्षेत्रों में सातवाहन राजाओं के राज्यपाल थे। प्रतिष्ठान-साम्राज्य के छिन्नभिन्न होने पर वे स्वतंत्र हो गये और जब समुद्रगुप्त ने दक्षिण पर हमला किया तब कांची में उनकी अपनी सत्ता दृढतापूर्वक स्थापित थी जिसे कभी तोंडमंडलम और प्रतापी चोल राजवंश की प्राचीन राजधानी बनने का सौभाग्य प्राप्त रहा था। हरिषेण के शिलालेख में अंकित है कि समुद्रगुप्त ने जिस विष्णुगुप्त को पराजित किया था वह पल्लववंशी राजा था।

किंतु पल्लवों के प्रताप का सूर्य भविष्य में चमकनेवाला था। यद्यपि चोलों को अपनी राजधानी से निकाल दिया गया था, फिर भी वे और पांड्य लोग सातवाहनों के सामने भी अपनी स्वतंत्रता और सत्ता को विनष्ट होने से बचाये रहे।

सातवाहनों के बाद चालुक्य राजवंश की भी धाक छायी रही। उत्तरी दक्षिण में इनका साम्राज्य स्थापित हुआ था। चालुक्य लोग अपने को सूर्यवंशी घोषित करते थे किंतु उनका प्रादुर्भाव एक स्थानीय परिवार से हुआ था जो कुछ समय तक राष्ट्रकूटों से संघर्ष में व्यस्त रहा और उसके बाद अपनी सत्ता स्थापित करने में सफल हो गया। जानपड़ता है कि राष्ट्रकूट सातवाहनों के पतनकाल में उपर्युक्त उत्तरी दक्षिण के भाग्य-विधाता बन बैठे थे। कुछ भी हुआ हो, यह बात शिलालेखों से प्रमाणित होजाती है कि चालुक्यों के प्रथम प्रतापी राज जयसिंह ने राष्ट्रकूट परिवार के कृष्ण के पुत्र इंद्र को करारी हार दी और अपने राजवंश की स्थापना की।

इस प्रकार तीन सौ वर्षों से भी अधिक समय तक पल्लव और चालुक्य दक्षिण भारत के इतिहास पर छाये रहे।

अध्याय ८

बृहत्तर भारत

ईस्वी सन् आरंभ होने से ठीक पहले भारत की संस्कृति और प्रभाव का जो विस्तार मध्येशिया और दक्षिण-पूर्व के देशों और प्रशांत महासागर के द्वीपों में हुआ वह अपने समय की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अशोक की धर्मप्रचारक मंडलियां पच्छिम दिशा में दूर-दूर तक पहुंच गयी थीं। लेकिन उन्होंने एंटिओच, सिकंदरिया और अन्य दूरवर्ती स्थानों में जो काम किया उसके बारे में अब केवल अटकलें ही लगायी जासकती हैं। उनका बैक्ट्रिया और उत्तर-पच्छिमी सीमांत के यूनानी वंशों पर जो प्रभाव पड़ा था उसका प्रमाण अब भी भलीभांति उपलब्ध है। मिलिद पन्हो अर्थात् मेनांडर या मिलिंद-प्रश्नावली से साफ पता चलता है कि सीमांत के हिंद-यूनानी राजतंत्रों पर बौद्धमत का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता गया और समय आने पर उसने गांधार और उत्तर-पच्छिमी भारत में यूनानी-बौद्ध कला को अंकुरित और पल्लवित किया।

आगे चलकर जब कनिष्क, हुविष्क और वासुदेव के कुषाणवंशी साम्राज्य स्थापित हुए तब भारतीय विचारधारा मध्येशिया में जापहुंची। कनिष्क ने बौद्धमत की महायान शाखा को प्रश्रय दिया और भारत भूमि के बाहर उसके साम्राज्य का जो प्रदेश फैला हुआ था वह भारतीय धर्मप्रचारकों की हलचलों से गूंज उठा। सन् ६८ ईस्वी में जब चीनी राजदूतों ने काश्यप मातंग और धर्मरत्न से भेंट की थी तब वे, वास्तव में, हिंद-सिथियन देशों में धार्मिक प्रचार में व्यस्त थे। इस समय ही से भारत से चीन को जानेवाले विद्वानों, सन्यासियों और धर्म-प्रचारकों का तांता-सा बंध गया जिनमें कुमारजीव, नागार्जुन और वसुबंधु के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। कुमारजीव ने तो अश्वघोष की रचनाओं का चीनी भाषा में अनुवाद किया था। विभिन्न अनुसंधानों से जो बौद्धसाहित्य-राशि उपलब्ध हुई है उससे विदित होता है कि मध्येशिया के खुतान, कुच्छ और अन्य स्थलों पर भारतीय सभ्यता की छाप लग चुकी थी।

अपनी स्थलीय सीमा के उस पार भारत का जो प्रभाव फैला था वह सांस्कृतिक और धार्मिक था, लेकिन समुद्रपार यह प्रभाव राजनीतिक भी था। ईसा की पहली शताब्दी ही से यह विचित्र बात देखने में आती है कि अनाम, कोचीन-चीन और प्रशांत महासागरीय द्वीपों में हिंदूराज्य अथवा हिंदूप्रभाववर्ती राज्य थे। रामायण में जावा और सुमात्रा का उल्लेख मिलता है। ईस्वी सन् प्रारंभ होने से कई शताब्दियों पहले ही दक्षिण भारत के बंदरगाहों और प्रशांतीय द्वीपों के बीच गमनागमन अच्छी तरह जारी था। किंतु लोगों का भारत से इन द्वीपों में जाबसने का ठोस प्रमाण ईसा की पहली शताब्दी ही में मिलता है। भारत से इन द्वीपों में पहुँचने

के दो मार्ग जानपड़ते हैं। पहला स्थलमार्ग था जो मलाया होकर जाता होगा और दूसरा जलमार्ग था जो सिंगापुर की जलप्रणाली से गुजरता होगा। आधुनिक केदाह को उस समय कताहा कहते थे और जलीय मार्ग का वह प्रायः पहला पड़ाव था।

कथासरित्सागर की बहुत-सी कहानियों से ज्ञात होता है कि सातवाहनकाल में जलयान दक्षिण भारत से चलकर सीधे कताहा पहुंचते थे। देवस्मित की कहानी (देखिए-पेंजेर का अनुवाद, पृष्ठ १५४–५५) में यह लिखा है : "गुहसेन (नायक) का पिता मर गया और उसके संबंधियों ने उससे आग्रह किया कि वह कताहा देश चला जाए।" तब उसने अपनी प्रेमिका को अचल प्रेम का वचन देकर कलिंग के बंदरगाह ताम्रलिप्ति से कताहा के लिए प्रस्थान किया जहां वह शीघ्र ही जापहुंचा। वह वहां जौहरी का काम करने लगा और धीरे धीरे बहुत ही समृद्धिशाली बनगया। इसके अतिरिक्त चंद्रस्वामी की कहानी में इस प्रकार उल्लेख मिलता है : "यह सत्य है कि कनकवर्मन नाम का एक व्यापारी दो सुंदर ब्राह्मणबालकों को लेकर यहां आया। उसे ये बालक जंगल में मिले थे। लेकिन वह उन्हें लेकर कताहाद्वीप चला गया।" ब्राह्मण भी एक अन्य व्यापारी देववर्मन के साथ जलयान में सवार होकर उनके पीछे-पीछे कताहा जापहुंचा। वहां से वह उनका पीछा करते हुए करपनद्वीप (कर्पूर-द्वीप) और सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) पहुंचा। क्वारिच वेल्स की अर्वाचीन खोजों से यह भी पता चला है कि भारतीय व्यापारी उपर्युक्त स्थलमार्ग के अतिरिक्त एक दूसरे स्थलमार्ग का प्रयोग भी करते थे। दूसरी शताब्दी में मलाया प्रायद्वीप में तकुओपा नदी के मुहाने पर तकोला बाजार की बड़ी ही ख्याति थी। अब यह प्रमाणित होचुका है कि यह बाजार पूरबी व्यापार का एक विशाल केंद्र था।

दक्षिण-पूर्व के देशों की यात्रा के लिए भारतीय व्यापारी जिन मार्गों का अनुसरण करते थे वे मलाया प्रायद्वीप तथा समुद्र दोनों होकर गुजरते थे। स्थलमार्ग मलाया के तट होकर मेकांग घाटी तक जाता था और समुद्री मार्ग मलक्का की जलप्रणाली होकर गुजरता था जैसाकि अभी ऊपर देववर्मन की कहानी के प्रसंग में बताया जाचुका है। समुद्र में नौकानयन के कारण ही सुमात्रा, जावा और बोर्निओ की खोज हुई और वहां उपनिवेश स्थापित किये जासके। इस साहसिक कार्य का आभास अगस्त्य मुनि की कथा से मिलता है। अगस्त्य मुनि नाविकों और उपनिवेश-संस्थापकों के नायक थे और हिंदनेशिया और जापान में आजतक श्रद्धापूर्वक उनकी पूजा की जाती है। उनके बारे में जो पौराणिक कथा प्रचलित है वह यह है कि उन्होंने समुद्र का जल पी लिया। इसका विवरण इस प्रकार दिया जाता है : दक्षिण भारत के तट के लोगों पर कभी राक्षसलोग रात को हमला करदिया करते थे। ये आक्रांता जहाजों से आकर तट पर उतरते थे और तटवर्ती गांवों को लूट-खसोटकर तहस तहस कर डालते थे। इनके उपद्रवों से उत्पीडित होकर तटवासी अगस्त्य मुनि के पास जाकर 'त्राहि त्राहि' पुकारने लगे। मुनि का हृदय दयार्द्र हो उठा और उन्होंने पता लगाया कि ये राक्षस समुद्र के नीचे के देशों में रहते हैं। अतएव उन्होंने जल सोख लिया जिससे तटवर्ती जनता रात को समुद्री मार्ग से आक्रमण करनेवाले लुटेरों के विरुद्ध युद्ध करने में समर्थ होसकी। सभी उपनिवेशों में अगस्त्य

मुनि की पूजा की जाती है। यदि पौराणिक सभा और अगस्त्य की पूजा दोनों पर गंभीरतापूर्वक विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि प्राचीन काल में भारतीयों की ये समुद्री यात्राएं समुद्री लुटेरों का पीछा करने के उद्देश्य से कीगयी होंगी, क्योंकि ये लोग तटवासियों के जान-माल के लिए खतरा बन गये थे। रामायण में जावा का जो प्रसंग आया है और तोलेमी ने प्रथम शताब्दी ईस्वी में यवद्वीप का जो उल्लेख किया है उससे यह बात साफ तौर से निश्चित होजाती है कि कम-से-कम ईस्वी सन् के प्रारंभ में जावा भारतीय प्रभाव के अंतर्गत आगया था।

प्राचीनकाल में प्रशांतमहासागर से तट पर फूनान में हिंदूजाति के लोगों की एक बसती का उल्लेख मिलता है। फूनान वर्तमान हिंदचीन का एक भाग है जिसकी सीमा तोनकिन से सटी हुई है। चीनी अभिलेखों से पता चलता है कि उपर्युक्त बसती १९२ ई. में खूब फलफूल रही थी। श्रीमार नामक राजा का भी एक शिलालेख हमें मिलता है जो उसी समय का बताया जाता है। इस समय भारतीय उपनिवेश कहां-कहां तक फैले हुए थे इसका निर्णय इस बात से किया जासकता है कि पूर्वी बोर्निओ के एक शिलालेख में अश्ववर्मन नामक राजा के पुत्र मूलवर्मन का उल्लेख आया है जिसने ब्राह्मणों के निर्देशानुसार हिंदू सनातन रीति से विभिन्न प्रकार के बलिदान किये थे। यदि चौथी शताब्दी ईस्वी में बोर्निओ में उपनिवेश स्थापित हुआ था तो इसका अर्थ यह है कि मलाया, सुमात्रा और जावा के बीच में पड़नेवाले प्रदेश पहले ही भारतीय प्रभाव और सत्ता के अंतर्गत आगये होंगे।

पांचवीं शताब्दी के आरंभ में दक्खिनी थाई का जो इतिहास संकलित कियागया है उस में फूनान के हिंदूराज्य (बाद में कंबूजा) की स्थापना का वर्णन कियागया है। यह वर्णन प्राचीन परंपरा के आधार पर कियागया है। इसमें कहागया है कि "प्राचीन काल में इस देश (फूनान) पर एक सर्वसत्ता-संपन्न रानी का राज था जिसका नाम लियू-ये था। की नाम के देश के एक आदमी होयून-तीन को एक स्वप्नादेश प्राप्त हुआ कि वह फूनान जाए। स्वप्न में उसे ईश्वर ने एक धनुष भी दिया और कहा कि वह जलपोत पर सवार होकर समुद्र की यात्रा करे। सवेरा होने पर जब नींद खुली तब होयून-तीन मंदिर में गया और वहां उसे वह धनुष रखा मिला। तब वह धनुष लेकर जलपोत पर सवार हुआ और फूनान की ओर चल पड़ा। जब लियू-ये की दृष्टि इस जलपोत पर पड़ी तब उसने युद्ध का बिगुल बजा दिया। उसने सेना लेकर समुद्र में शत्रु को युद्ध के लिए ललकारा। किंतु होयून-तीन का हौंसला बढ़ाचढ़ा था। उसने अपना धनुष उठाया और बाणसंधान किया जो नौका में घुसकर भीतर किसी को जा लगा। लियू-ये यह दृश्य देखकर कांप उठी और उसने आत्मसमर्पण कर दिया। होयून-तीन ने उसके साथ विवाह कर लिया। उसने उस नववधू को पहनने के लिए वस्त्र दिये क्योंकि वह बिल्कुल नंगी थी।"

कौंडिन्य का नाम ही दूसरी लिपि में होयून-तीन हो गया है। विभिन्न शिलालेखों में उन्हें बृहत्तर भारत के हिंदू राजपरिवारों का संस्थापक बताया गया है। उदाहरण के लिए ६५८ ईस्वी में उत्कीर्ण चंपा के शिलालेख में इस प्रकार वर्णन मिलता है। "यहीं ब्राह्मण-शिरोमणि

कौंडिन्य ने उस कुंतल को धरती में गाड़ दिया जो उन्हें द्रोणाचार्य के पुत्र अश्वत्थामा की कृपा से प्राप्त हुआ था। इस महान ब्राह्मण कौंडिन्य ने नागा राजा की एक कन्या का पाणिग्रहण किया ताकि वह शास्त्रोक्त संस्कारों का परिपालन कर सकें।"

कौंडिन्य की इस कहानी की तीन बातें महत्त्वपूर्ण हैं। पहली यह कि वह प्रवासी ब्राह्मण थे। दूसरी यह कि वह समुद्री मार्ग से दूरवर्ती प्रदेशों में पहुंचे। और तीसरी यह कि दूसरे देश की भूमि पर उतरते समय एक स्थानीय राजकुमारी ने प्रतिरोध किया जिसको उन्होंने युद्ध में पराजित कर के अपनी पत्नी बना लिया।

उपर्युक्त प्रदेश की स्थानीय जनता अभी तक बहुत कुछ सभ्यता के प्रारंभिक चरण ही में थी। इसका प्रमाण यह है कि जब कौंडिन्य से उस रानी का युद्ध हुआ तब वह बिल्कुल वस्त्रहीन थी और आत्मसमर्पण के अवसर पर कौंडिन्य ने उसे वस्त्र से आच्छादित किया था। पल्लव शिलालेख में एक इसी प्रकार की घटना का उल्लेख है। इसमें कहा गया है कि नागा राजकुमारी के साथ विवाह करने से ब्राह्मण को एक साथ दो लाभ हुए : उसे पत्नी मिली और राज्य भी मिला। उसने इस प्रकार जिस राजवंश की स्थापना की उसने हिंदू संस्कारों और शास्त्रों को अपनाया और वह वस्तुतः हिंदू बन गया। कौंडिन्य के साथी भी विवाह करके फूनान ही में बस गये और इस प्रकार एक हिंदू बिरादरी, जो यथासंभव मातृभूमि की परंपराओं का अनुसरण करती थी, दूर समुद्रपार प्रदेश में बस गयी।

कौंडिन्य ने ठेठ भूमि पर जाकर हिंदूराज्य की स्थापना की थी, लेकिन वह वहां समुद्री मार्ग से पहुंचे थे। क्या वह भारत से वहां गये थे? हम जानते हैं कि ईसा की पहली शताब्दी से पहले ही जावा में हिंदूराज्य स्थापित होगया था। जावा के राजा देववर्मन का राजदूत १३२ ई. में चीन पहुंचा था और इससे भी पहले भूगोलशास्त्री इस द्वीप को संस्कृत में यवद्वीप, जौ का टापू, कहकर पुकारते थे। तीसरी शताब्दी में चीनी राजदूत कांग-ताई फूनान आया था और उसने कौंडिन्य की कहानी का वर्णन करते हुए लिखा है कि यह ब्राह्मण गणद्वीप (आर्किपेलागो) से वहां आया था। इससे स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि गणद्वीप को तीसरी शताब्दी से पहले ही भारतीयों ने अच्छी तरह अपना उपनिवेश बना लिया था।

तेजस्वी कौंडिण्य ने जिस राज्य की नींव डाली थी वह आगे चलकर भलीभांति फूलता-फलता रहा क्योंकि अगली शताब्दी में इसके अधीन राज्यों का वर्णन चीनी इतिहास में मिलता है। इसमें से एक राज्य के बारे में लिखागया है कि "यहां पर व्यापारी बड़ी संख्या में अपना कारबार करते आते हैं...यह बाजार पूर्व और पश्चिम का संगम-स्थल है।" फूनान के एक अन्य अधीन राज्य के बारे में लिखा है: "यहां भारत के एक हजार से भी अधिक ब्राह्मण रहते हैं। लोग उनके सिद्धांतों का अनुशीलन करते हैं और उनके साथ अपनी कन्यायों का विवाह कर देते हैं।"

फूनान के राजालोग भारत के साथ अपना सीधा संपर्क रखते थे। इस आशय का उल्लेख है कि २४० ईस्वी में फूनान के राजाओं ने अपना एक राजदूत भारत भेजा था जो यहां चार वर्ष तक अपना काम करने के लिए रहा था।

चौथी शताब्दी में हमें कौंडिन्य के बारे में एक दूसरी कहानी मिलती है जो बड़ी ही रोचक है। पेलिओट नामक एक सुप्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान ने यह कहानी चीनी भाषा से इन शब्दों में रूपांतरित की है : "भारत के एक ब्राह्मण कौंडिन्य ने अपने हृदय में एक अंतर्नाद सुना जिसमें उन्हें आदेश मिला था—'तुम जाओ, और फूनान पर राज करो'। कौंडिन्य यह आवाज सुनकर खुशी से फूले न समाये और उन्होंने दक्खिन में पानपान की ओर कूच कर दिया। जब फूनान के लोगों ने उनके आगमन की बात सुनी तब वे प्रसन्न होकर उसके स्वागत के लिए दौड़ पड़े। लोगों ने उन्हें अपना राजा चुन लिया। कौंडिन्य ने वहां के सभी नियम बदल कर भारतीय पद्धति के सांचे पर ढाल दिये।"

दूसरे आगमन की कहानी पहले से भिन्न है क्योंकि चौथी शताब्दी में फूनान में पहले ही से एक हिंदूराज्य स्थापित था। इसके अलावा अन्य टापुओं और मलाया में भी अनेक छोटे-छोटे राज्य कायम थे। ऊपर अवतरण में जिस पानपान का उल्लेख किया गया है उसका चीनी इतिहास में विशद वर्णन है। यही पानपान फूनान के अधीन एक छोटा-सा राज्य था जहां पर लोग "ब्राह्मणकालीन साहित्य का अध्ययन करते और बौद्ध विधि-विधान के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा रखते हैं। यहां पर बौद्ध भिक्षुओं के बिहार और ब्राह्मणो के मंदिर बने हुए हैं......। राजा की सभा में बहुत से ब्राह्मण भारत से आकर उपस्थित होते हैं ताकि वे राजा की दानवीरता से लाभ उठासकें।" §

दूसरा कौंडिन्य स्थलमार्ग द्वारा तकोला से पानपान आया था। यह घटना बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह विभिन्न द्वीपों के उपनिवेशों के बीच जोड़नेवाली शृंखला की कड़ी का काम देती है। ईस्वी सन् की प्रथम तीन शताब्दियों में जावा, बोर्नियो और कर्पूर द्वीपों में हिंदू राज्य स्थापित होने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते है किंतु जबतक छठी शताब्दी में श्रीविजय के साम्राज्य का अभ्युदय हुआ तबतक वे राज्य विलुप्त हो गये। पर इस समय ठेठ महाद्वीप की भूमि पर फूनान, चंपा और पानपान के राज्य खूब फलफूल रहे थे। जिस समुद्री मार्ग से भारतीय प्रवासी जाकर प्रशांतीय द्वीपों में बसते थे वह किसी कारण संकट में फंस गया था और इसलिए इन द्वीपों में प्रवासियों का आना बंद होगया। इसका परिणाम यह हुआ कि इस बाह्य क्षेत्र के छोटे-छोटे राज्य श्रीहीन होचले। धीरे धीरे वहां की स्थानीय जनता ने प्रवासियों को अपने उदर में पचा लिया और मूलवर्मन के बोर्निओ शिलालेख से जो यह पता चलता है कि इन द्वीपों में संस्कृत का प्रचार हुआ था वह भी मातृभूमि से संबंध टूट जाने के कारण समय बीतने पर स्वप्न की कहानी बन गया। फिर भी मेकोंग घाटी के छोटे-छोटे राज्यों में भारतीय प्रवासियों का आगमन जारी रहा, क्योंकि वे स्थलमार्ग से वहां पहुंचते रहे। यह वही स्थलमार्ग था जिसकी खोज इतिहासकार क्वाट्रिच वेल्स ने अभी हाल में की है।

कौंडिन्य द्वितीय ने फूनान के राज्य में भारतीय विधि-विधानों और नियमों का सूत्रपात किया। जानपड़ता है कि उसने राज्य और समाज का फिर से परिगठन किया। हमें उसके

§ देखिए जी. एच्. लूस का जर्नल ऑफ बर्मा रिसर्च सोसायटी, जिल्द १४ भाग २ पृष्ठ १७०-७२

वंशजों के कुछ अभिलेख मिलते हैं जिनमें गुणवर्मन का एक शिलालेख भी है। गुणवर्मन को कौंडिन्यवंश-कलाधर कहते थे। उसने भगवान विष्णु का एक मंदिर बनवाया था। सन् ४८४ ई. में कौंडिन्य जयवर्मन ने चीन में अपना दूत भेजकर चंपा की उदीयमान शक्ति के विरुद्ध चीन की सहायता मांगी थी। देवपुत्र की एक राजाज्ञा नीचे उद्धृत की जाती है :

"फूनान का राजा कौंडिन्य जयवर्मन महासागर के धुर किनारे पर रहता है। पीढ़ी पर पीढ़ी उसने और उसके पूर्वजों ने दक्खिन के दूरवर्ती देशों पर राज किया है और दूर होने पर भी उनकी निष्ठा में अंतर नहीं आया है। इसके बदले उनके प्रति आत्मीयता प्रकट करना और उन्हें गौरवपूर्ण उपाधि से विभूषित करना उचित ही है। इस अभीष्ट उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्हें सेनापति, फूनान के राजा की उपाधि दी जाती है।"

चीनी स्रोतों से हमें कौंडिन्यों के अधीन फूनान राज्य का वर्णन मिलता है। पेलिओट का निम्नांकित उद्धरण रोचक प्रतीत होगा : "वे सोना, चांदी और रेशम का व्यापार करते हैं। ऊंचे स्तर के लोग किनख्वाब पहनते हैं। स्त्रियां भी अपने सिर पर एक तरह का मुकुट बांधती हैं। गरीब आदमी अपना शरीर ढकने के लिए अंगोछा भर लपेट लेते हैं। वे पेड़ काटकर झोंपड़ी बना लेते हैं और उनका राजा कई मंजिल के महल में रहता है। वे नोकीले डंडे गाड़कर कठघरा बना लेते हैं और उनके मकान की कुर्सी ऊंची होती है। वे नौकाएं बनाते हैं......जब राजा बाहर निकलता है तो वह हाथी पर सवार होता है और स्त्रियां भी हाथियों पर बैठती हैं। ये लोग मुर्गों और सूअरों की लड़ाई से अपना मनोरंजन करते हैं।" धार्मिक कृत्यों का वर्णन इस प्रकार किया गया है : "इन देवताओं की मूर्तियां कांसे की होती हैं। कुछ के दो मुख होते हैं, कुछ के चार और कुछ के आठ भुजाएं होती हैं। प्रत्येक हाथ में कुछ-न-कुछ वस्तु अवस्थित होती है।"

फूनान वस्तुतः पूरी तरह एक हिंदू राज्य था। पांचवीं शताब्दी के आरंभ तब एक नये राज्य चंपा की स्थापना हुई जिसने फूनान के विरुद्ध निरंतर युद्ध जारी रखा। चंपा के आक्रमणों से तंग आकर जयवर्मन ने चीन की सहायता के लिए अपना प्रथम दूत वहां भेजा था।

इससे पहले द्वीपों में जो राज्य स्थापित हुए थे उनका वर्णन हमारे सामने नहीं आया है क्योंकि चीनी अभिलेखों तक हमारी पहुंच परिमित है। कहाजाता है कि जावा में हिंदू उपनिवेश की वास्तविक स्थापना ५६ ई. ही में होगयी थी। इसमें संदेह नहीं कि ईसा की दूसरी शताब्दी में छोटे-छोटे राज्य थे, क्योंकि हम जानते हैं कि यहां के राजा देववर्मन ने १३२ ई. में अपना दूत चीन भेजा था। हमें पूर्णवर्मन का संस्कृत में लिखा शिलालेख मिलता है। उसके पिता महाराजाधिराज की उपाधि से समलंकृत थे। विख्यात चीनी पर्यटक फाह्यान ३९९ से ४१४ ई. तक भारत में रहा था और बाद में समुद्री मार्ग से चीन लौटते समय वह पांच महीने जावा में ठहरा था। तब उसने वहां ब्राह्मणवाद का डंका बजते देखा था।

पांचवीं शताब्दी के आरंभ में सुदूरवर्ती भारत का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार दिया जासकता है : ईसा की प्रथम शताब्दी तक उपनिवेश-संस्थापकों की छोटी-छोटी टोलियां हिंदनेशियाई

द्वीपों और हिंदचीन के तटवर्ती प्रदेशों पर जाकर बसने लगी। उन्होंने वहां छोटे-छोटे राज्य बसाये, वहां की स्त्रियों के साथ ही विवाह किये और उनके राज्यों का व्यापार भारत के साथ धड़ाके से चलने लगा। भारत के पूरबी तट पर ताम्रलिप्ति से लेकर नागपत्तनम तक के बंदरगाह इन राज्यों को माल निर्यात करते थे। महासागर में स्थित दूरवर्ती प्रदेशों के साथ आयातक-निर्यातक माल का केंद्रीय बाजार तकोला था जो मलाया में था। मलाया प्रायद्वीप में बहुत-से हिंदू राज्य स्थित थे जिनमें सबसे विख्यात राज्य नरवों श्री धर्मरत (लिगोर) था। टीन और सोने की खानों का विकास करनेवाले भारतीय उपनिवेश सेलेंसिंग, पंगा, पुकेत और तकुओपा में फैले हुए थे। बंदर में खाड़ी के आसपास की भूमि को वह केंद्रीय प्रदेश माना जासकता है जहां से भारतीय प्रभाव का सौरभ बिखरकर दूर-दूर तक जाता था।

इन द्वीपों में, तीसरी और चौथी शताब्दियों में, भारतीय प्रभाव की ज्योति काफी मलिन पड़गयी। इसका मूल कारण यह था कि भारत और इन द्वीपों के बीच का समुद्री मार्ग निष्कंटक नहीं रहा। इस मार्ग में पड़नेवाली मलक्का जलप्रणाली पर यातो शत्रुओं ने अधिकार कर लिया था या इधर से सामान्य मार्ग में समुद्री लुटेरों का उपद्रव बढ़गया था। बोर्निओ और सेलीबीस की हिंदू जातियों की समृद्धि को जो ग्रहण-सा लग गया वह इस बात का द्योतक है कि इस अवधि में इधर हिंदू वैभव का अधःपतन आरंभ हो गया था। जावा तक में फूनान राज्य की तुलना में कोई उन्नति दिखायी नहीं देती थी। फूनान में हिंदू राज्य की जो आकस्मिक श्रीवृद्धि हुई उससे यह विचार दृढ़ हो जाता है कि तीसरी और चौथी शताब्दियों में भारतीय साहसिक और व्यापारी लोग स्थलमार्ग द्वारा मलाया पार करके सुदूरपूर्व को जाने लगे थे।

हिंदू वर्णव्यवस्था ने, इन क्षेत्रों में काफी पहले से, अपने हाथ-पांव मारने आरंभ कर-दिये थे। लेकिन जिस प्रकार दक्षिण भारत में वर्णव्यवस्था का प्रचार अपने साधारण रूप ही में हुआ था उसी प्रकार यहां भी वह अपने जटिल वितंडावाद से बची रही। ऊपर लिखा जाचुका है कि नरश्रेष्ठ कौंडिन्य ब्राह्मण ने एक वस्त्रहीना राजकुमारी से विवाह किया था और उनकी संतान ने वर्मन की उपाधि से समलंकृत होकर क्षत्रियत्व धारण करलिया था। हमारे पास इस आशय के अनेक प्रमाण हैं कि भारत के ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों ने उस देश की स्त्रियों के साथ विवाह किये थे। वास्तव में, पहले-पहल जो प्रवासी वहां पहुंचे वे वहां के देशवासियों में रचपच गये। बाद में कौंडिन्य द्वितीय के समय में प्रवासी लोग बड़ी संख्या में वहां जापहुंचे। लेकिन तब तक वहां की जनसंख्या मिश्रित हो चुकी थी और अब वहां के लोगों को हिंदूसमाज में रूपांतरित करने का काम सरल होगया था।

सामान्यतः पांचवीं शताब्दी तक भारतीय उपनिवेश बसाने का प्रयास एक लंबी कहानी की भूमिका मात्र है। इस अवधि में जगह-जगह हिंदू जाति ने बसने की कोशिश की और सभ्य जीवन के विकास को प्रोत्साहन दिया। आगे चलकर हमें चंपा, कंबोजा, श्रीविजय और जावा राज्यों का जो वैभव देखने को मिलेगा वह अभी भविष्य के गर्भ ही में परिवेष्टित समझना चाहिए। फिर भी इस काल में फूनान के राजाओं का जो प्रताप और ऐश्वर्य देखने में आचुका है उससे इस क्षेत्र में भावी हिंदू राज्यों के उषःकाल की झलक अवश्य मिल जाती है।

इस समुद्रपार-की हलचल का भारत पर भारी प्रभाव पड़ा। सातवाहनकाल के मंदिरों के शिलालेखों से प्रकट होता है कि सेठ लोग कितनी विशाल स्वर्णराशि दान में दे देते थे। इसका कारण क्या था? ये दानवीर व्यापारी समुद्रपार के क्षेत्रों से प्रभूत संपत्ति कमाकर लाते थे और दान देने में उनका हाथ खुला हुआ था। गुणाढ्य की कहानियों में समुद्री यात्राओं का जो विवरण मिलता है उससे भारतीय व्यापारियों की धनार्जन-क्षमता का आभास मिलता है। ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों के तमिल-साहित्य में, जिनमें शिलप्पादिकारम् और मणिमेखलाई के नाम उल्लेखनीय हैं, इन्हीं सामुद्रिक यात्राओं का वर्णन मिलता है जो व्यापार के उद्देश्य से की जाती थीं। कालिदास की कृतियों में भी कलिंग के बंदरगाहों में उन जहाजों के लंगर डालने का प्रसंग मिलता है जो दूरवर्ती द्वीपों से मसाले लादकर लाये थे।

जानपड़ता है कि कलिंग और दक्खिनी राज्यों की अभिरुचि समुद्री व्यापार में बहुत अधिक थी और उन्हें इस व्यापार का कर्णधार कहना अत्युक्ति न होगी। एक घंटे पर उत्कीर्ण लेख से पता चलता है कि महानाविक बुद्धगुप्त लालमिट्टी के प्रदेश का रहनेवाला था जिसका अभिप्राय वर्तमान मिदनापुर के रंगमयी क्षेत्र से है। इस दृष्टांत से सिद्ध होता है कि जिन दिनों भारत का समुद्री व्यापार अपनी उन्नति के शिखर पर था उन दिनों उसके सभी प्रदेशों ने उसमें अपनी यथेष्ट अभिरुचि दिखायी थी और भारत के प्रभाव के इस अपूर्व विस्तार में अपना-अपना योगदान किया था।

अध्याय ९

साम्राज्यकाल—हर्ष

गुप्तवंश के अंतिम महान सम्राट बुद्धगुप्त के बाद, गुप्तराजाओं की साम्राज्यीय शक्ति ५४४ ई. तक विनष्ट होगयी। जानपड़ता है कि इसके पश्चात् देश के विभिन्न भागों में गुप्त-वाकाटक प्रणाली दीर्घकाल तक प्रचलित रही, क्योंकि आगे चलकर बहुत-से राजाओं ने इन वंशों में उत्पन्न होने का दावा किया। लेकिन फिरभी इन राजाओं की सत्ता देश के किसी बड़े भाग पर स्थापित न होकर विशेष प्रदेशों ही पर सीमित रही। प्रवरसेन द्वितीय और उसके उत्तराधिकारियों के नेतृत्व में वाकाटक लोग विंध्याचल और अरवली की पहाड़ियों में, तथा गुप्तवंश की छिन्नभिन्न शाखाएं मगध में, राज करती रहीं किंतु वे अपने पर साम्राज्योचित शक्ति का लेबुल लगाये रहीं। इन दिनों उत्तर-पच्छिमी भारत हूण आक्रांताओं के हाथ में चलागया था। सन् ४९५ ई. में पंजाब में तोरमन का सिक्का जमगया था और फिर वह आगे बढ़कर मालवा पर हमला करने लगा था। भारत के सीमांत पर शतवर्षीय युद्ध ने हूणों के मौलिक स्वरूप में परिवर्तन करदिया था। तोरमन अब एक घुमक्कड़ बर्बर जाति का पुरुष नहीं रहगया था अपितु उस पर हिंदू रंग चढ़जाने के कारण वह सीमांत का महाराजा प्रतीत होने लगा था जो अपने राज्य की सीमा बढ़ाने की अभिलाषा से उत्तर भारत के जर्जर साम्राज्य पर चढ़ाइयां कररहा था। वास्तव में, अब वह विदेशी भी नहीं रहा था। उसके उत्तराधिकारी मिहिरगुल के क्रूर अत्याचारों की कहानी से इतिहास के पन्ने रंगे पड़े हैं। विगत साम्राज्यभोगी वंश के अंतिम महान राजा बालादित्य को आगे करके, उत्तर भारत के शासक एक बार फिर संगठित होगये और उन्होंने मिहिरगुल पर धावा बोल दिया। इनकी संगठित शक्ति ने मिहिरगुल की खूंख्वार सेना के छक्के छुड़ा दिये और ५२८ ई. में उसकी शक्ति को कुचल डाला। इस पराजय के साथ ही तथाकथित हूणवंश की शक्ति का दीपक, जो मुश्किल से दो पीढ़ियों तक टिमटिमाया था, बुझ गया।

छठी शताब्दी में भारत के इतिहास में कोई ऐसी साम्राज्यधारी सत्ता दीखने में नहीं आयी जिसके अंतर्गत समूचे उत्तर भारत का संगठन किया जासकता। इसके अतिरिक्त, उधर मिहिर गुल ने मालवा को अपने पांव तले रौंद डाला। इन परिस्थितियों के कारण इतिहासकार मान बैठे हैं कि छठी शताब्दी भारत का अंधकारयुग था और भारत में चारों ओर राजनीतिक अराजकता छायी हुई थी। यह बिल्कुल सच है कि मालवा प्रदेश के हाथ से निकल जाने के कारण गुप्तवंशी शक्ति को वहां से पूरब की ओर हट आनापड़ा और स्थानीय राजवंशों पर उसका पंजा ढीला होगया। लेकिन यदि ध्यानपूर्वक देखा जाए तो इस समय उल्लेखनीय घटनाओं

की भरमार रही। परिवर्ती गुप्तवंशी राजालोग मगधराज्य पर फिरभी सातवीं शताब्दी तक अबाधरूप से राज करते रहे। इसका साक्ष्य आदित्यसेन के शिलालेख से मिलता है जिस पर समय अंकित है। इस प्रख्यात हिंदूराजवंश की देखरेख में सुप्रसिद्ध नालंदा विश्वविद्यालय अपने उन्नति और गौरव की चरम सीमा पर पहुंचगया।

छठी शताब्दी में कन्नौज के मौखरि लोग गुप्तवंशी राजाओं के प्रभुत्व से पूरी तरह छुटकारा पागये और उन्होंने सिंधु-गंगा की घाटी पर अपना शासन जमा लिया। इस राजवंश के एक के बाद दूसरे राजा राजसिंहासन पर बैठते रहे, जिन्होंने मगध के गुप्तराजाओं की तनक भी पर्वाह नहीं की और उनके शासनकाल में कन्नौज की दिन दूनी, रात चौगुनी उन्नति हुई जिससे वह उज्जैन और पाटलिपुत्र के वैभव से प्रतिस्पर्धा करने लगा। मगध का एक पड़ोसी कर्ण-सुवर्ण था जिसका प्राचीन राजवंश साम्राज्यीय सत्ता के लड़खड़ाते ही शक्ति-संपन्न होगया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हर्ष का साम्राज्य स्थापित होने से पहले के एक सौ वर्षों में उत्तर भारत में अराजकता का बोलबाला नहीं था। इसके विपरीत इधर उधर कुछ छोटे-छोटे सुव्यवस्थित राज्य स्थापित थे जो अपनी-अपनी प्रादेशिक सीमाओं के भीतर साम्राज्यकालीन परंपराओं का परिपालन कररहे थे। विंध्याचल के आसपास के क्षेत्रों में वाकाटकों की धाक बैठी हुई थी। वे पुरानी साम्राज्यीय परंपराओं की लकीर ही नहीं पीटते थे प्रत्युत उनकी सत्ता इस प्रदेश पर भलीभांति छायी हुई थी। परिवर्ती गुप्तवंशी राजाओं का साम्राज्य क्षेत्रफल में बहुत छोटा होगया था किंतु फिरभी उन्होंने मगध पर अपनी सत्ता को फिर से संगठित कर लिया था और वे ऐतिहासिक परंपरा के आधार पर अपना शासन सूत्र चलारहे थे। गंगा की घाटी में मौखरि राजाओं ने अपना शासन सुदृढ़ करलिया था। वास्तव में, यह वह समय था जबकि साम्राज्यगत परंपरा को ग्रहण लग चुका था, लेकिन समूचेरूप से देश में शांति छायी हुई थी और चारों ओर समृद्धि दीखने में आती थी। इसके विपरीत प्रायः जो यह कल्पना की जाती है कि इस युग में देश में अराजकतापूर्ण उथलपुथल होरही थी वह बिल्कुल निर्मूल है।

इस समय उत्तर भारत ने जो प्रगति की उससे उसकी स्थिति स्वयं स्पष्ट होजाती है। एक शिलालेख में अंकित है कि "कैलाश शिखर की ऊंचाई से होड़ लगाकर, बालादित्य ने यहां नालंदा में शुद्धोदन के प्रतापी पुत्र (बुद्ध) का एक विशाल और अद्भुत मंदिर बनवाया"। यह वही नालंदा विश्वविद्यालय था जिसकी कीर्ति आगे चलकर देश-देशांतरों में फैलगयी। बालादित्य के उत्तराधिकारियों ने इस विद्यापीठ के व्यय के लिए उत्तम द्रव्य-व्यवस्था की जिससे वह छठी शताब्दी में चतुर्दिक् आकर्षण का केंद्र बन गया। इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्मपाल इस विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वह जैसे ऊंचे पद पर आसीन थे वैसे ही दिग्गज विद्वान भी थे। यह निःसंकोचरूप से कहा जा सकता है कि वसुबंधु (४८० ई.) से सातवीं शताब्दी में शीलभद्र तक का समय नालंदा विश्वविद्यालय का स्वर्ण युग था।

इसी प्रकार यह भी कहा जासकता है कि छठी शताब्दी में संस्कृत सत्साहित्य अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया। भारवि, कुमारदास (जानकीहरण के रचयिता) और दंडिन ने इस काल के कविकुल की श्रीवृद्धि की और विशाखादत्त तथा संभवतः कौमुदी-

महोत्सव के लेखक ने नाटककारों के वर्ग को समलंकृत किया। यूरोपीय लेखकों का मत है कि छठी शताब्दी भारत में गणितविद्या और खगोलविद्या की उन्नति का युग था। वराहमिहिर के देहावसान की तिथि ५८७ ई. निश्चित की गयी है। आर्यभट्ट का जन्म ४७६ ई. में हुआ था और वह छठी शताब्दी में जीवित थे। इनके अतिरिक्त इस काल में भारतीय आयुर्वेद ने भी बहुत प्रगति थी।

इस शताब्दी में दर्शन, तर्क, मीमांसा और भाष्य की ओर विशेष ध्यान दियागया। इस समय प्रभाकर की मीमांसा की रचना हुई और न्याय की बौद्ध तथा हिंदू प्रणालियों का तो यह स्वर्णयुग था। इस शताब्दी की एक उल्लेखनीय बात यह है कि इस समय देशी भाषाओं के साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। जानपड़ता है कि इसी काल में प्राकृत भाषा ने साहित्य-क्षेत्र में पदार्पण किया। इस समय विविध प्राकृत भाषाओं के व्याकरणों की रचना कीगयी। अगली शताब्दी में राजशेखर और अन्य लेखक प्राकृत के प्रचुर सत्साहित्य का सृजन कर सके।

प्राचीन भ्रांत धारणा यह है कि छठी शताब्दी अराजकता और अधःपतन का समय था और इसके बाद जो हर्ष-काल आया वह भारतीय वैभव की अंतिम ज्योति थी। लेकिन जब हम उपर्युक्त विवेचनात्मक विवरण को ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं तब हमारी आंखें खुल जाती हैं कि यह संपूर्ण धारणा कपोलकल्पित है और उसको पास न फटकने देना चाहिए। इसके विपरीत हमें ज्ञात होता है कि छठी शताब्दी एक प्रसवकाल था : इस समय सभी क्षेत्रों में उल्लेखनीय सफलताएं प्राप्त हुईं और इसके अतिरिक्त भावी उन्नति का बीज इसी समय बोयागया।

हर्ष (६०६–६४७ ई० तक) के इतिहास के पृष्ठ हमारी आंखों के सामने बिल्कुल खुले हुए हैं। कारण यह, हर्ष के शासन का विवरण हमें देशी और विदेशी दोनों स्रोतों से विस्तृत रूप से उपलब्ध होता है। बाण-कृत हर्षचरित केवल एक असाधारण साहित्यिक पुस्तक ही नहीं, प्रत्युत इसमें प्राचीनकाल की ऐतिहासिक जानकारियों का विशाल भंडार भी सुरक्षित है। बाण की वर्णनशैली बड़ी ही प्रभावोत्पादक है और उसमें दृष्टांतों की भरमार है। उसमें जगह-जगह पूर्वकालीन घटनाओं के प्रसंग मिलते हैं। उदाहरण के लिए उसमें लिखा है कि किस प्रकार चंद्रगुप्त ने ध्रुवस्वामिनी का परित्राण किया था। इन घटनाओं की पुष्टि अब अन्य स्रोतों से होने लगी है। हर्षचरित के अतिरिक्त हमें एक महान् चीनी पर्यटक के बहुमूल्य अभिलेख भी उपलब्ध हैं। यह चीनी पर्यटक युवान-च्वांग था जिसका नाम संसार के इतिहास में एक प्राचीन आख्यान के नायक-जैसा प्रतीत होता है। रहस्यमयी बौद्ध गाथाओं को छोड़कर युवान-च्वांग ने भारत के बारे में जो कुछ लिखा है वह अतिरंजित विवरण नहीं है; वह तो एक निष्पक्ष प्रेक्षक की लेखनी से निसृत हुआ है। उनकी यात्राओं के विवरण में भारत का पूर्ण चित्र अंकित है और वह हमें प्राप्त है।

हर्ष के राजकाल की मुख्य घटनाओं का वर्णन संक्षेप में यहां किया जासकता है। हर्ष का दादा आदित्यवर्धन थानेश्वर का सामंत था। उसके पुत्र प्रभाकरवर्धन ने इस नन्हें-से राज्य को बढ़ाकर बड़ा करलिया और मालवा के शासकों से निरंतर लोहा लेता रहा। प्रभाकर के बाद उसका ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन राजसिंहासन पर बैठा जो गौड़ के राजा शशांक से युद्ध करते

हुए वीरगति को प्राप्त हुआ। इसके बाद उसका छोटा भाई हर्षवर्धन सिंहासनारूढ़ हुआ जिसने समस्त आर्यावर्त को अपने प्रभाव में लेने के लिए अथक परिश्रम आरंभ कर दिया : उसने एक ओर शत्रुओं पर विजय पाकर और दूसरी ओर मगध के माधवगुप्त तथा कामरूप के कुमार से मैत्रीसंधियां करके इस उद्देश्य की प्राप्ति की। नेपाल और कश्मीर भी उसके साम्राज्य की सीमा में सम्मिलित थे।

जब विंध्याचल के उत्तर में हर्ष का सिक्का जमगया तब उसने उसके दक्खिन की ओर बढ़ने की आकांक्षा की, किंतु इस दिशा में उसे पराजय का मुंह देखना पड़ा। चालुक्यों के राजा पुलिकेशिन द्वितीय ने आर्यावर्त के सम्राट की सेना को ताप्ती नदी के किनारों पर रोककर युद्ध में उसके दांत खट्टे कर दिये। हर्ष को विवश होकर पीछे हटना पड़ा और उसका दक्षिण की विजय का स्वप्न धूल में मिल गया। पुलिकेशिन द्वितीय अपनी इस विजय से फूला नहीं समाया और हर्ष पर विजय प्राप्त करने के उपलक्ष में उसने स्वयं सम्राट की उपाधि धारण की। पुलिकेशिन के हाथों हार खाने के बाद उत्तर के सर्वमान्य सम्राट हर्ष ने अपना शेष जीवन शांतिकालीन कलाओं की अभिवृद्धि के लिए अर्पण कर दिया। वह स्वयं प्रतिभाशाली कवि और नाटककार था। इसके साथ ही उसकी राजसभा तत्कालीन श्रेष्ठतम लेखकों से सुशोभित थी जिनमें बाण, मयूर, हरदत्त और जयसेन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। चीनी पर्यटक को भी उसकी सभा में यथेष्ट सम्मान प्राप्त हुआ था। इसलिए उसके जीवन-काल का विश्वसनीय विवरण उपलब्ध है।

अपने तई हर्ष बौद्धधर्म का अनुयायी था। लेकिन अन्य भारतीय बौद्ध राजाओं की भांति वह भी हिंदू ही बना रहा। उसने अपनी पुस्तकों में शिव की स्तुति की है। प्रतिदिन वह पांच सौ ब्राह्मणों को भी एक सहस्र बौद्धभिक्षुओं के साथ ही भोजन कराता था। राजा जिन उत्सवों को मनाता था उन अवसरों पर बुद्ध के साथ ही शिव और विष्णु की भी पूजा बड़ी श्रद्धापूर्वक की जाती थी। चीनी संत ने स्वयं इसका उल्लेख किया है। यद्यपि हर्ष की आध्यात्मिक संलापों में गहरी अभिरुचि थी और उसका हृदय उदात्तकल्पनासंपृक्त कलाओं की कोमल भावनाओं से परिप्लावित था फिरभी इससे उसके राजधर्म-पालन में कोई अड़चन नहीं आती थी। वह राजकीय कर्त्तव्यों के परिपालन में निरालस्य था। युवान-च्वांग को कहना ही है कि वह अपने साम्राज्य में अनवरत गति से दौरा करता रहता था और अपने अधीन बलिदायी सामंतों की हलचलों पर दृष्टि रखता था।

बाण की प्रशस्तियों और चीनी पर्यटक के रोचक वर्णन के कारण हर्ष का शासनकाल पाठकों की आंखों के सामने ऊपरी चकाचौंध पैदा कर देता है। किंतु यह असलियत जानना आवश्यक है कि हर्ष के साम्राज्य में कुछ शक्तिशाली स्वतंत्र राजे भी शामिल थे जिन्होंने हर्ष के वैयक्तिक प्रभाव में आकर उसकी प्रभुता स्वीकार करली थी, अन्यथा वे साम्राज्य के अधीन नहीं थे। मौखरि राजवंश का हर्ष से घनिष्ट संबंध होगया था। किंतु वह, वास्तव में, अपने पूर्वजों के अर्जित राज्य पर शासन करता था। इसी प्रकार मगध का माधवगुप्त भी एक शक्तिशाली राजा था। वल्लभी के मैत्रकवंश और कामरूप के कुमार-भास्कर को इस साम्राज्य का बलिदायी सामंत नहीं माना जासकता है। फिरभी इन लोगों ने

हर्ष के महान व्यक्तित्व के आगे अपने सिर झुका दिये थे और उसे अपना अधिराट मान लिया था। स्वयं हर्ष का व्यक्तित्व बहुत बढ़ाचढ़ा हुआ था। उसके तेज ने राजाओं की आंखों में चकाचौंध पैदा करदी थी और इसी कारण यह सम्राट उस विशाल साम्राज्य की एकता का मेरुदंड बनगया जो पच्छिम में सिंधु से लेकर दूर पूरब में सांपू तक फैला हुआ था।

इकतालीस वर्ष के उज्ज्वल और दीर्घ शासन के बाद ६४७ ई. में हर्ष चल बसा। इस धक्के को साम्राज्य की बनावटी एकता की दीवार सहन न कर सकी और वह तुरंत ही धड़ाम से गिर गयी। जो बड़े-बड़े सत्ताधारी राजालोग हर्ष के पादपीठ पर अपनी मुकुटमणियां रगड़ा करते थे वे अवसर पाते ही सिर उठाने लगे और उन्होंने किसीको भी हर्ष का उत्तराधिकारी स्वीकार करने से इनकार कर दिया। कुछ समय के लिए अब यह देखने में आया कि राज-सिंहासन ही सूनाथा। हर्ष के सीधे शासन के अंतर्गत जो प्रदेश था वह अराजकता का शिकार होगया। इसी समय एक ऐसी घटना हुई जिस पर विदेशियों ने यहां तक रंग चढ़ाया है कि उसे भारत पर चीन की चढ़ाई के नाम से पुकारने लगे हैं। बात यह थी कि हिमालय प्रदेश में तिरहुत के एक प्रांतीय राज्यपाल ने एक चीनी दूत वांग-हुएनत्से का अपमान किया। तब इस दूत ने जाकर नेपाल और तिब्बत का द्वार खटखटाया और उनको अपना बदला लेने के लिए उकसाया। कामरूप के कुमार भास्करवर्मन की सहायता से नेपालियों और तिब्बतियों ने तिरहुत के विरुद्ध युद्ध का डंका बजादिया और उन्होंने अंत में तिरहुत के अशिष्ट राज्यपाल को यथोचित दंड दिया। यह घटना नितांत महत्त्वहीन है, किंतु कुछ इतिहासकारों ने अपनी आदत के अनुसार तिल का ताड़ बनादिया है और यह निष्कर्ष निकाला है कि चीन ने भारत पर चढ़ाई की थी।

युवान-च्यांग के यात्राविवरणों और जीवनचरित से सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत का पर्याप्त वास्तविक चित्र मिलता है। इस चीनी पर्यटक ने वायव्य दिशा से भारत में पदार्पण किया था। वह पहले काश्मीर गया और फिर वहां से सियालकोट और जलंधर होकर कन्नौज आया था। नेपाल में पवित्र बौद्ध तीर्थों और विहारों का परिभ्रमण करने के बाद वह गंगा में नौका पर सवार हुआ और उसने प्रयाग और वाराणसी के दर्शन किये। तत्पश्चात् वह बोधगया की परिक्रमा करने गया। वह दीर्घकाल तक दो बार नालंदा में पड़ाव डाले रहा, बंगाल और असम गया, फिर उड़ीसा होकर दक्खिन की ओर मुड़ पड़ा और धीरे धीरे दक्षिण के वक्षःस्थल को चीरता पल्लवों की नगरी कांची और चालुक्यों की नगरी वतापी में पहुंचा। तदनंतर मालवा होकर वह मुल्तान और सिंध की ओर बढ़ा जहां परिभ्रमण करने के बाद फिर नालंदा लौट आया। नालंदा में उसने लब्धप्रतिष्ठ उपाध्याय शीलभद्र के चरणों में बैठकर अध्ययन किया और कामरूप (असम) के कुमार भास्करवर्मन और महाराजा हर्ष की राजसभाओं में कुछ समय बिताया। इस प्रकार उसने भारत में भीतर घुसकर अच्छी तरह यात्राएं कीं और उसने अपनी आंखों से इस देश को भलीभांति देखा।

उसने अपनी यात्राओं की विवरण-पुस्तिका में सातवीं शताब्दी के भारत के अधिक महत्त्व-पूर्ण नगरों का विस्तृत वर्णन किया है। मिहिरगुल के तूफानी हमलों के कारण उस समय

पेशावर और तक्षशिला के खंडहर बनगये थे। प्रवरपुर जिसे आजकल श्रीनगर के नाम से पुकारते हैं, उस समय खूब फलफूल रहा था। जलंधर और मथुरा पतन के गर्त में थे। कन्नौज उस समय एक साम्राज्य की राजधानी होने के नाते आंखों में चकाचौंध पैदा कर देता था। चीनी पर्यटक ने उसका निम्नांकित वर्णन किया है : "इसकी गगनचुंबी दीवारें और सुदृढ़ खाइयां बनी हुई थीं। चारों ओर कंगूरे, खेमें तथा पंडाल दिखायी देते थे। अनेक स्थलों पर फूलों से लदे पादप-कुंज स्फटिक पत्थर-जैसे स्वच्छ जलाशयों में अपनी परछाईं निहाररहे थे। इस देश में अन्य देशों की दुर्लभ पण्य वस्तुओं के ढेर-के-ढेर दृष्टिगत होते थे।" उस समय भी प्रयाग आज की भांति ही महत्त्वपूर्ण नगर था। यह हिंदूमत का विशाल केंद्र था और अग्रगण्य वाराणसी के बाद ही इसका स्थान था। प्रयाग में तीर्थयात्रियों के जमघट तथा हठयोगियों की यौगिक क्रियाओं को देखकर यह चीनी महात्मा दंग रह गया। वहां पर कुछ योगियों ने कुछ बांसों को एक हाथ से थाम रखा था और उन पर अपना-अपना एक पांव रखे हुए बिल्कुल अधर में लटकरहे थे। इस पर तुर्रा यह कि ये योगी उदय से लेकर अस्त तक निरंतर सूर्य को देखते रहे। इस अद्भुत दृश्य का अवलोकन करके युवान-च्वांग दांतों तले अंगुली दबा उठा। किंतु भारत के लिए कोई काल्पनिक कहानी नहीं थी क्योंकि आज भी इस प्रकार के योगी देखने को मिलसकते हैं।

हिंदुओं का सनातन नगर वाराणसी जैसा आज दिखायी देता है वैसा ही वह सातवीं शताब्दी में भी था। चीनी परिव्राजक की दृष्टि इस नगर की प्रचुर धनराशि और अगणित मंदिरों पर भी पड़ी थी। "ये मंदिर" उसका कहना है "कई कई मंजिल ऊंचे हैं और उनमें नक्काशी और पच्चीकारी का बहुमूल्य काम है। उसके लकड़ी के अंश के इस हुनर के साथ रंगसाजी की गयी है कि उस पर आंख ही नहीं टिकती। इन मंदिरों के चारों ओर छायादार वृक्षों के सघन उद्यान हैं जिनमें जगह-जगह निर्मल जलाशय दर्शकों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित किये बिना नहीं रहते।" इस तीर्थयात्री ने विभिन्न अखाड़ों के योगी-यतिवृंद को भी देखा जिनमें शैवों का बाहुल्य था। वाराणसी वस्तुतः शैवों का पावन तीर्थ है। यहां चीनी यात्री को शरीर सुखाकर कांटा कर देनेवाली दुःसाध्य यौगिक क्रियाएं करते हुए योगी दिखायी दिये। इस कलाकोविद् चीनी पर्यटक की आंखों में वाराणसी की मूर्तिकला की शैली का सौंदर्य समा गया जिसका विकास विशुद्ध हिंदू परिपाटी के आधार पर गुप्तकाल में हुआ था और जो मिश्रित गांधार शैली तथा मथुरा की परिष्कृत शैली से भिन्न थी। जब उसने भगवान शिव की विशालकाय मूर्ति अर्थात् श्री काशीविश्वनाथ की मूर्ति, जिसको आगे चलकर औरंगजेब ने विनष्ट करदिया, के दर्शन किये तब वह उसकी भव्यता और तेज से प्रभावित होगया। उसने लिखा है कि "इस मूर्ति के दर्शन करके भक्त श्रद्धा से विह्वल होजाता है और उसे जानपड़ता है कि मानों वह स्वयं भगवान के सामने खड़ा है।"

खेद का विषय है कि लिच्छवियों की सुविख्यात राजधानी वैशाली उजड़ चुकी थी। जिस प्रतापी समुद्रगुप्त ने लिच्छवियों का दौहित्र होने की अभिमानपूर्वक घोषणा की थी उसीके हाथों इस महान लिच्छविगणतंत्र का विनाश हुआ था। पाटलिपुत्र पहले ही से पतनावस्था

में थी। यह ऐतिहासिक नगर तो कालिदास के समय में पहले ही बरबाद होचुका था क्योंकि महाकवि ने कदाचित् ही इसके नाम का उल्लेख किया है और सो भी अन्य देशों की राजधानियों की नामावली के साथ। नालंदा का वर्णन तो पृथक ही करना श्रेयस्कर होगा।

जहां तक हिंदुओं का संबंध है, युवान-च्वांग ने उत्तर भारत का जो चित्र अंकित किया है क्या वह आज के भारत से सचमुच ही भिन्न है? हम देखते हैं कि आजकल का नागर जीवन तत्कालीन नागर जीवन से पूर्णतः मिलताजुलता है। आजकल के ग्राम्य जीवन में तो तत्कालीन ग्राम्य जीवन से और भी कम परिवर्तन देखने में आते हैं। बौद्धकाल में भी हिंदूधर्म का भारतीय जनता पर से प्रभाव नहीं उठा था और वह आजकल की भांति ही उस समय भी अपने विभिन्न और विलक्षण रूपों में स्फूर्ति और प्रेरणा का स्रोत बना हुआ था। युवान-च्वांग ने वर्णव्यवस्था का गंभीर अध्ययन किया था। उसका कहना है कि उस समय के सामाजिक ढांचे पर वर्णव्यवस्था का पूर्ण नियंत्रण था।

उस समय नालंदा विश्वविद्यालय अपनी उन्नति के शिखर पर था। एक शिक्षाकेंद्र होने के नाते उसकी ख्याति देश-देशांतरों में फैलगयी थी। विचारों की व्यापकता, अध्ययन के विषयों की विविधता और देश-विदेश के छात्रों की उपस्थिति को देखकर उसकी तुलना वर्तमान ऑक्सफोर्ड, केंब्रिज और हार्वर्ड विश्वविद्यालयों से की जासकती है। नालंदा विश्वविद्यालय की संस्थापना परिवर्ती गुप्त सम्राटों में से किसी महाभाग ने की थी। उस समय इसका रूप एक बौद्ध संघाराम का था। किंतु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों परिवर्ती राजालोग और भारत के विभिन्न भागों के सेठों ने मुक्तहस्त होकर इसे आर्थिक सहायता दी। इतना ही नहीं, समुद्रपार के हिंदू उपनिवेशों से भी इसके लिए द्रव्य की थैलियां भेंट में आने लगी। परिणामतः यह सचमुच ही विद्या का अंतर्राष्ट्रीय केंद्र बनगया। युवान-च्वांग और उसीके समान विख्यात उसके उत्तराधिकारी ईत्सिंग के विवरणों के अतिरिक्त हमें पर्याप्त शिलालेखों और पुरातन अभिलेखों की जानकारी का भंडार प्राप्त है जिसके सहारे इस महान संस्था का इतिहास लेखनीबद्ध किया जासकता है।

भारत में, प्राचीनतम काल में, विश्वविद्यालय विद्यमान थे। वैदिक ज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर शिक्षा देने के लिए दो परंपरागत विश्वविद्यालय तो प्राचीन केरल राज्य में अब भी मौजूद है। वेदांतीय विषयों के पठन-पाठन के विद्यालय तो देश के विभिन्न भागों में थे ही, किंतु प्राचीन साहित्य की गंभीर गवेषणा के लिए विख्यात विश्वविद्यालय भी थे। ये प्राविधिक रूप से साहित्यिक उन्नति में तत्पर थे। इस प्रकार के विशिष्ट विद्याकेंद्र तक्षशिला और उज्जैन में थे। पहले में आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली का और दूसरे में गणितशास्त्र, खगोलविद्या जैसे विषयों का विशेष अध्यापन किया जाता था। जब नालंदा का नाम दूर-दूर तक फैल रहा था तब भारत में कई विद्यापीठ और भी थे। दक्षिण में कांची, ध्रुवप्रथम की भतीजी दुद्दा द्वारा स्थापित वल्लभी, जिसे ईत्सिंग ने नालंदा के समय ही का बताया है, और नालंदा के समीप विक्रमशील विद्या के केंद्र थे जिनकी कीर्त्ति कम नहीं थी।

नालंदा के लिए द्रव्य की वर्षा-सी होती रहती थी। राजालोग पीढ़ी-पर-पीढ़ी उसको धन

दान करते रहे। अतएव इस प्रचुर आर्थिक सहायता के कारण नालंदा में गगनचुंबी भवन खड़े होगये। कम-से-कम आठ विद्यालय यहां बने हुए थे जिसमें एक विद्यालय तो श्रीविजय (सुमात्रा) के राजा बालिपुत्रदेव ने बनवाया था। उत्खननों से सिद्ध होता है कि इन विद्यालयों की कतारें बनी हुई थीं और उसके बीच में सुंदर चौक थे। युवान-च्वांग ने निश्चितरूप से लिखा है कि इनमें कम-से-कम एक विद्यालय तो चार मंजिला था। नालंदा में यशोवर्मादेव के शिलालेख में इन भवनों की भव्यता की सराहना कीगयी है और पुरातत्त्व विभाग की गवेषणाओं से इसकी सत्यता की परिपुष्टि होती है।

विश्वविद्यालय का मैदान चारों ओर ईंट की दीवार से घिरा हुआ था। इस बारे में युवान-च्वांग का वर्णन उद्धृत किया जासकता है : "संपूर्ण संस्थान के चारों ओर ईंटों का एक परकोटा है। एक फाटक से होकर हम एक बड़े विद्यालय में पहुंचते हैं जहां से अलग-अलग आठ प्रशालों को मार्ग गये हुए हैं जो बीचोंबीच बने हुए हैं। मनोरम दुर्ग और आकाश से बातें करनेवाले कंगूरे पहाड़ों की नोकीली चोटियों की भांति एक दूसरे से सटे दिखायी देते हैं। वेधशाला सघन कोहरे के कारण आंखों से ओझल जानपड़ती है और उसके ऊपरी कमरे आकाश से भी ऊंचे उठगये प्रतीत होते हैं। बाहरी राजसभाओं में पुरोहितों के भवन बने हुए हैं और इन सबों में चार-चार मचान बने हुए हैं। इन मचानों पर सर्पफण-जैसे छत्र लगे हुए हैं। रंगी-हुई कंदराएं और चमकीले खंभे खोदाई करके बनाये गये हैं तथा उनकी सजावट बड़ी ही रमणीय है। उनके कठघरों की शोभा चित्त को लुभावनी प्रतीत होती है और छतों की खपरेलों से टकराकर रंग-विरंगी प्रकाश-रश्मियां सौंदर्य को ढूंढने के लिए भीतर इधर-उधर बिखर जाती हैं।

केवल ईंट और चूने से विश्वविद्यालय नहीं बनजाता है। हां, विश्वविद्यालय के भवन की सुंदरता का भी अपना स्थान है और उसे कम नहीं कूतना चाहिए। विश्वविद्यालय में विविध विषयों के अध्ययन के लिए प्रत्येक प्रकार की सुविधा थी: तिब्बती अभिलेखों से पता चलता है कि उसमें तीन विशाल पुस्तकालय थे जिनके बारे में यथा नाम तथा गुण की उक्ति चरितार्थ होती थी। उनके नाम क्रमशः रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नरंजक थे। सब श्रेणियों के अध्यापकों समेत दस हजार से भी अधिक छात्र इस विश्वविद्यालय में शिक्षा पाते थे जो भारत के विभिन्न भागों, दूरवर्ती भारत, मध्येशिया, चीन, कोरिया—दूसरे शब्दों में बौद्ध जगत के सभी भागों से आकर यहां एकत्र हुए थे। हम बहुत-से कोरियाई विद्वानों के नाम जानते हैं। उदाहरण के लिए, एक कोरियाई विद्वान हुईह-नीह थे जिनको संस्कृत में आर्यवर्मन कहकर पुकारने लगे थे। हुईह-नीह के नालंदा में होने का प्रमाण ईत्सिंग के वर्णन से भी मिलता है। उसने लिखा है कि "पीलु के पेड़ के नीचे निवास करके कोरियाई पंडित हुईह-नीह ने यह अभिलेख तैयार किया।"

यद्यपि नालंदा में बौद्ध वातावरण अपनी युवावस्था में था फिरभी वास्तव में वहां सहिष्णुता और उदार विचारशीलता का बोलबाला था। विद्यापीठ में प्रविष्ट होने के लिए किसी भी उम्मेदवार को "प्राचीन और नवीन ग्रंथों" से अभिज्ञ होना आवश्यक था। बौद्धमत के

ग्रंथ तो वहां पढ़ाये ही जाते थे, किंतु साथ में हिंदू धार्मिक ग्रंथों, दर्शनशास्त्रों (सांख्य, आदि), व्याकरण, और आयुर्वेद का भी अध्ययन कराया जाता था। युवान-च्वांग की जीवनी से यह प्रकट होजाता है कि विद्वानों को विविध प्रकार के ग्रंथों का अवलोकन करना पड़ता था। तर्कशास्त्र और श्रुतिभाष्य का गंभीर अध्ययन कराया जाता था, क्योंकि विश्वविद्यालय के विद्वानों का आगंतुक विद्वानों से वादविवाद होजाना एक स्वाभाविक बात थी। विद्वानों में सार्वजनिकरूप से विवाद की पद्धति ने यह आवश्यक कर दिया कि इस विद्यापीठ के विद्वान और छात्र भारत की विभिन्न विचारधाराओं का विशेष चिंतन और मनन करें। जिस प्रकार ईसाईमत के नेता विभिन्न धर्मों के विचारों और तत्त्वचिंतन-प्रणाली का, विवाद करने के उद्देश्य से, अच्छी तरह मंथन करने की कोशिश करते हैं उसी प्रकार यहां के विद्वान भी इसी लक्ष्य का परिशीलन करते थे। युवान-च्वांग ने अपनी जीवनगाथा में सांख्यशास्त्र का संक्षिप्त भाष्य दिया है। इससे प्रकट होता कि वह स्वयं अपने प्रतिद्वंद्वी से तर्क में उलझगया था। इस चीनी यात्री ने लिखा है : "जो लोग शास्त्रार्थ में शीघ्रता से ख्याति प्राप्त करना चाहते हैं वे देश के विभिन्न भागों से टोलियां बनाकर यहां इकट्ठे होते हैं।" यह परंपरा अब भी भारत में आम तौर पर पायीजाती है और इसका जो जीवित उदाहरण अभी पिछले दिनों देखने में आया है वह आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानंद का था जिन्होंने इधर उधर केंद्रों में जाकर प्रतिद्वंद्वियों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा और उन्हें अपने तर्क-कौशल से पछाड़ दिया।

इस विश्वविद्यालय के महान उपाध्यायों की सूची देखकर ही यह कहा जासकता है कि इस विद्यापीठ का द्वार सभी जाति के लोगों के लिए खुला हुआ था और वहां पारस्परिक सहिष्णुता का अक्षुण्ण साम्राज्य था। कुलपति शीलभद्र के पहले उस आसन पर धर्मपाल विराजमान थे जो तमिल थे और दक्षिण में कांची के निवासी थे। एक दूसरा प्रख्यात पंडित जिनमित्र आंध्र-वासी था। युवान-च्वांग के गुरु और संत शीलभद्र किसी पूरबी प्रदेश संभवतः असम के रहनेवाले थे। वह जाति-परिवर्तन करके ब्राह्मण बन गये थे। सचमुच में यह विश्वविद्यालय भारतीय बौद्धिक जीवन का केंद्र था जहां भारत के विभिन्न भागों के विद्वान और प्राध्यापक समवेत थे।

नालंदा के बारे में एक और उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें धर्मप्रचारकों को प्रशिक्षण देकर अपने काम के लिए तैयार किया जाता था। ये दूर देशों में जाकर बौद्धमत में निरंतर नये जीवन का संचार करते रहते थे। तिब्बत के अभिलेखों से असंदिग्धरूप से पता चलता है कि नालंदा ने एक के बाद दूसरे विद्वान भिक्षुओं को उस देश में धर्मप्रचार के लिए भेजा था और इन विद्वानों की कृतियां आज तक सुरक्षित हैं। हमें मालूम है कि आठवीं शताब्दी में नालंदा का प्रभाकरसिंह नामक एक पंडित चीन गया और उसने वहां बौद्धग्रंथों का अनुवाद किया। जो विद्वान जावा, श्रीविजय (सुमात्रा) और अन्य भारतीय उपनिवेशों में गये उनके नाम गिनाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि श्रीविजय के सम्राट ने तो नालंदा को मुक्तहस्त दान दिया था और वह स्वयं इस विश्वविद्यालय का एक संरक्षक था। सातवीं और आठवीं शताब्दी में नालंदा से भारतीय संस्कृति का सौरभ उड़कर समस्त बौद्ध एशिया में फैलरहा था।

महायान शाखा के बौद्ध आचार्य वसुबंधु, असंग, शून्यवादी नागार्जुन और अन्य महान बौद्ध पंडितों ने बौद्ध दर्शन के कायाकल्प में प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की। उनका लक्ष्य नालंदा का चरम विकास करना और उसको अविकृत रखना था। तीसरी शताब्दी में बौद्ध विचारधारा में एक नया मोड़ आया और वह यह था कि यह बौद्ध चिंतनप्रणाली आध्यात्मिकता और बौद्धिकता प्रधान होगयी थी। इस संक्रांतिकाल का आभास इससे अधिक और किस बात से मिल सकता है कि अध्यात्मविद्या के अध्ययन के लिए संस्कृत को माध्यम बनाया गया। प्रकांड बौद्ध आचार्य दिङ्नाग के साथ ही तार्किक विचारधारा का विकास होने लगा और योगाचार अपनी प्रौढ़ावस्था में प्रवेश करगया। योगाचार बौद्धों का एक दार्शनिक संप्रदाय है जिसमें बाह्यार्थ का निषेध कियागया है और समग्र प्रपंच को चित्त का वैविध्यपूर्ण विकार तथा परिणाम मात्र माना जाता है। योगाचार संस्कृत बौद्धमत का द्योतक था। दूसरे शब्दों में बौद्धमत हिंदूमत के बिल्कुल निकट जापहुंचा। माध्यमिकों और वेदांतियों के बीच का अंतर है यह तो सूक्ष्मज्ञानी धुरंधर दार्शनिक ही जान सकते हैं, अन्यथा इन क्षेत्रों के बीच सामान्यतः किसी को अंतर दृष्टिगोचर नहीं होता है। बौद्धमत के इस कायाकल्प का मुख्य श्रेय नालंदा को प्राप्त है जिससे आगे चलकर हम देखेंगे कि शाक्य मुनि का मत हिंदूधर्म के उदर में पूर्णतः समा गया।

एक सुदृढ़ साम्राज्य के अंतर्गत जो राजनीतिक एकता स्थापित होजाती है वह हर्ष के रंगमंच से हटते ही विघटित हो चली। हर्ष के पश्चात् जो अराजकता थोड़े दिनों तक फैली रही उस बीच यशोवर्मन के नेतृत्व में कन्नौज का अभ्युदय हुआ। यशोवर्मन का राजकाल आठवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में निश्चित हुआ है। यशोवर्मन हर्ष के साम्राज्य के उत्तराधिकारत्व का दावा करने लगा और उसने उत्तर भारत में दिखावटी साम्राज्यीय सत्ता स्थापित भी करली। लेकिन ७३३ ई. में काश्मीर के ललितापीड़ मुक्तादित्य के हाथों उसकी करारी हार हुई जिससे उसके सभी हवाई किले विनष्ट होगये। इस पराजय के बाद भी ऐसा प्रतीत होता है कि कन्नौज के शासक के राज्य को आंच नहीं आयी। क्योंकि ओऊकांग ने लिखा है कि काश्मीर के शासक की मध्यवर्ती भारत के शासक से मैत्री थी। यशोवर्मन की ख्याति का मूल कारण यह भी है कि उसकी राजसभा में संस्कृत के महान नाटककार भवभूति और प्राकृत के महाकाव्यकार वाक्पतिराज को राज्याश्रय मिला था।

यशोवर्मन के बाद उसके उत्तराधिकारी सिंधु गंगा की घाटी पर राज करते रहे। अंत में ७८५ ई. में राष्ट्रकूटों के राजा ध्रुव ने, जिसका राज्य मूलतः पच्छिमी भारत में था, दोआबे पर आक्रमण किया और उसने "अपने शत्रुओं से गंगा और यमुना का प्रदेश छीन लिया और उस पर अपने सर्वोपरि प्रभुत्व का एक प्रत्यक्ष प्रतीक थोप दिया"। ध्रुव ने गंगा और यमुना के प्रदेश में साम्राज्यीय सत्ता का एक अधिकारचिह्न चालू कर दिया था। इस राष्ट्रकूट राजा का दावा है कि उसने पूरबी भारत के राजा को भी युद्ध में परास्त किया था।

आठवीं शताब्दी में राजनीतिक सत्ता के रंगमंच पर नयी घटना देखने में आयी। सिंध में मुसलमानी सत्ता की नींव पड़ी और सिंध खलीफा के साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया-गया जिससे भारत की सुरक्षा को एक नयी दिशा से खतरा पैदा होगया जिसका उसको स्वप्न

में भी ख्याल नहीं था। ७२६ ई० में जो मुसलमानी सेनाएं सिंधु के मुहाने पर डटी हुई थी उन्होंने जुनैद के नेतृत्व में भारत पर चढ़ाई करदी और वे आगे बढ़कर मारवाड़ और मालवा तक आधमकीं। गुजरात के तट पर तो उनके हमलों का तांता बंध गया। इस खतरे का मुकाबला करने के लिए भारत की प्रतिरक्षा का केंद्र गुजरात बन गया। एक सुयोग्य सेनापति नागभट्ट प्रथम के नेतृत्व में सुदृढ़ प्रतिरक्षात्मक मोरचे का संगठन कियागया जिसने मुसलमानों के तूफान को रोक ही नहीं लिया प्रत्युत उन्हें समुद्र में धकेल दिया। इस योद्धा ने फिलहाल शत्रु के चंगुल से वह सब प्रदेश मुक्त कर लिया जिस पर मुसलमानी प्रभाव स्थापित होगया था। इस प्रकार नागभट्ट ने गुजरात से लेकर ग्वालियर तक अपना राज्य फैला लिया। नागभट्ट प्रतिहारवंश का था और वह इससे पूर्ववर्ती राजवंश के शासनकाल में केवल एक उच्च राज्याधिकारी था। किंतु अब वह राजा बन बैठा। प्रतिहार लोग पहले कुछ भी क्यों न रहे हों, उन्होंने जिस आपातकाल में विदेशी आक्रमणों से देश की रक्षा के लिए नेतृत्व प्रदान किया वह सर्वथा स्तुत्य है और इस आधार पर वे राष्ट्रीय कृतज्ञता के अधिकारी हैं।

प्रतिहारों की शक्ति बढ़ते ही उनके प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रकूट मैदान में उतर आये। जैसाकि पहले कहा जाचुका है, दंतिदुर्ग राष्ट्रकूट और उसके उत्तराधिकारियों ने पच्छिमी भारत में लड़ाई का दोटूक फैसला किये बिना ही दोआब पर धावा बोल दिया। इसका परिणाम यह निकला कि प्रतिहारों का गुजरात में निष्कंटक वर्चस्व स्थापित होगया। नागभट्ट के उत्तराधिकारियों ने गुजरात, मालवा और राजस्थान के विस्तृत प्रदेश पर अपनी धाक कायम करली। जैन-साहित्य से हमें ज्ञात होता है कि ७८८ ई. में वत्सराज प्रतिहार जो रणहस्ति के नाम से विख्यात था, इस प्रदेश पर शासन करता था और उसने उज्जैन में हिरण्यगर्भ यज्ञ किया था। वत्सराज ने कन्नौज की शक्ति को रौंद डाला और ७८३ ई. में वह अपनी सेना लेकर बंगाल पर चढ़ दौड़ा। उसे गुजरात-साम्राज्य का संस्थापक कहा जासकता है।

अपने पिता के बाद नागभट्ट द्वितीय सिंहासनारूढ़ हुआ। उसकी प्रशस्ति इस प्रकार है—परमभट्टार्क महाराजाधिराज परमेश्वर। स्पष्ट है कि वह साम्राज्योचित गौरव से समन्वित था। बंगाल के धर्मपाल के साथ मिलकर उसने उत्तर भारत के स्वत्व में बंटवारा कर लिया था। बंगाल के पाल राजा मगध के गुप्तवंशी राजाओं के दुर्बल उत्तराधिकारियों को आठवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हराकर उत्तर भारत के पूरबी आधे भाग पर अपना राज्य स्थापित कर लिया और इस प्रकार पालवंश का साम्राज्यारूढ़ बंगाल में शक्ति के रूप में अभिनंदन कियाजाने लगा था। नागभट्ट द्वितीय कन्नौज के शासक चक्रयुध को युद्ध में पराजित करके अपनी राजधानी कन्नौज में लेआया। चक्रयुध को कन्नौज के राजसिंहासन पर बंगाल के धर्मपाल ने बैठाया था। इसलिए उत्तर भारत की ये दो साम्राज्यधारी शक्तियां इस बात का निबटारा करने के लिए मुंगेर में इकट्ठी हुईं। इस सम्मेलन का परिणाम यह निकला कि उत्तर भारत के दो टुकड़े—पूरबी साम्राज्य और पच्छिमी साम्राज्य—कर दिये गये।

गौड़ के सामंत के निष्कासन के बाद, प्रतिहारों की नींव कन्नौज में पूरी तरह मजबूत

होगयी। उनका साम्राज्य पंजाब, राजस्थान, मालवा, गुजरात, सिंधु-गंगा की घाटी में विंध्याचल तक फैलगया। नागभट्ट द्वितीय की, ८३३ ई. में, मृत्यु होगयी। उसने अपने जीवन में, वास्तव में, बड़े-बड़े काम कर दिखाये। यद्यपि हर्ष की भांति वह समूचा आर्यावर्त अपने शासन के अंतर्गत लाने में असमर्थ रहा फिरभी उसका साम्राज्य हर्ष की भांति बालू की भीति पर खड़ा हुआ नहीं था। उस पर दिखावटी साम्राज्यीय सत्ता की कलई नहीं पोती हुई थी। अतः उसके पीछे उसके पुत्र के हाथ जो गुजरात साम्राज्य लगा वह हर्ष के साम्राज्य से कहीं अधिक संगठित और समेकलित था और इसके अतिरिक्त उसे यह विशेष राष्ट्रीय गौरव प्राप्त था कि उसने विदेशियों के आक्रमण की कमर तोड़ दी है। इन बातों को दृष्टिगत रखते हुए, उनका यह दावा निर्विवाद प्रतीत होता है कि मौर्यों, वाकाटकों और गुप्तों की साम्राज्यीय परंपरा के इतिहास में उनका भी अक्षुण्ण स्थान है।

इस नागभट्ट के उत्तराधिकारी रामभद्र ने केवल दो वर्ष राज्य किया। अभी कन्नौज का साम्राज्य सुगठित ही होरहा था कि पूरब में बंगाल के देवपाल ने आक्रमण कर दिया और गुजरात के सामंत तो विद्रोह की घात में पहले ही से थे। उन्होंने भी अवसर से लाभ उठाना चाहा और विद्रोह का झंडा खड़ा कर दिया, किंतु रामभद्र के बाद उसका बेटा मिहिरभोज ८३५ ई. में राजगद्दी पर बैठा और उसने ५० वर्ष तक राज किया। उसके दीर्घ शासनकाल में कन्नौज की प्राचीन धाक फिर लौट आयी। मिहिरभोज ने अपने समस्त विस्तृत साम्राज्य में राजसत्ता सुदृढ़ करली। इस समय उत्तर भारत तीन बड़े राज्यों में बंटा हुआ था: पहला, बंगाल राज्य पर पालवंशी राजालोग राज्य करते थे। लगभग ७६५ ई. में गोपाल ने इस राज्य की नींव डाली थी जिसका पुत्र धर्मपाल नागभट्ट का प्रतिद्वंद्वी था। धर्मपाल के पुत्र देवपाल ने पूरबी भारत और मगध पर अधिकार कर लिया था। दूसरा, ठेठ हिंदुस्तान पर कन्नौज के सम्राट राज करते थे; और तीसरा, विंध्य देश राष्ट्रकूटों के अधीन था। सातवाहनों के पतन के बाद राष्ट्रकूटों ने इस सामरिक क्षेत्र पर अपना पंजा दृढ़ कर लिया था और जब चालुक्यशक्ति क्षीण होगयी तब उन्होंने साम्राज्यीय सत्ता हथियाली। वे इस प्रदेश के सम्राट बन बैठे। राष्ट्रकूटवंशी अमोघवर्ष मिहिरभोज का समकालीन था। वह एक सुयोग्य शासक था और उसके राजवंश की परंपरागत धाक ने उसे भारत देश के इस कटि-प्रदेश में ऊंचा उठा दिया था।

मिहरभोज ने देवपाल के विरुद्ध एक-के-बाद दूसरा युद्ध छेड़कर उसकी प्रतिष्ठा को गहरी ठेस पहुंचायी और उसकी शक्ति को न्यून कर दिया। दूसरी ओर, अमोघवर्ष को भी सिर नहीं उठाने दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि समग्र हिंदुस्तान ने प्रतिहारों की प्रभुसत्ता स्वीकार करली थी। इस समय इतिहास में यह मार्के की बात है, क्योंकि तभी सिंध का मुसलमान राज्यपाल इमरान इब्न मूसा ने राज्य-विस्तार की नीति को कार्यपरिणत करने के लिए अपनी कमर बांध ली थी और जानपड़ता है कि उसने कच्छ पर अपना अधिकार भी जमा लिया था। इतना ही नहीं, इस महत्त्वाकांक्षी ने भारत की मुख्य भूमि पर भी अपने हाथ-पांव मारने की कोशिश की। लेकिन मिहिरभोज की नीति के कारण उसकी

योजनाएं धरी रह गयीं। समय ने यहां तक पलटा खाया कि मूसा के मरने से पहले ही सिंध का इस्लाम राज्य दो छोटे-छोटे टुकड़ों में बंट गया।

मिहिर हर्ष की भांति कोरा महाराजाधिराज नहीं था। उसने अपने साम्राज्य में राज्यों को जीतकर मिलाया, उन पर सीधा प्रशासन किया और महत्त्वपूर्ण सीमांतीय नाकों पर शक्तिशाली सेना तैनात की। उसके बारे में भलीभांति कहा जासकता है कि उसने इस्लाम के आक्रमण से बचने के लिए भारत की प्रतिरक्षात्मक शक्ति को संगठित किया जो डेढ़ शताब्दी से भी अधिक काल तक अप्रतिहत बनी रही। मिहिर के बेटे महेंद्रपाल ने साम्राज्यीय शक्ति को बाप की भांति ही अक्षुण्ण रखा, परंतु इसकी आंखें मुंदते ही साम्राज्य लड़खड़ाने लगा।

गुर्जर राजनीतिक संगठन का नाम इतिहास में आता है। यह क्या था? यह पांच राजवंशों का एक महासंघ था। ये पांच राजवंश थे—प्रतिहार, परमार, चहमान, चालुक्य और गुइहिलोत। आजकल जो बड़े-बड़े राजपूत घराने दीखने में आते हैं उनमें कुछ का आविर्भाव इन्हीं राजवंशों से हुआ है। जब प्रतिहारों का सूर्य अस्त होगया तब धार के परमारों का सितारा चमक उठा। उन्होंने साम्राज्यीय सत्ता हथियाली। परंतु, इस बीच में भारत के उत्तर-पच्छिमी सीमांत पर इस्लाम की शक्ति का कोलाहल बढ़रहा था और भारत के साथ उसके भावी भीषण संघर्ष की घड़ियां टलरही थीं।

अध्याय १०

दक्षिण भारत

अपनी कुछ ऐतिहासिक विलक्षणताओं के कारण दक्षिण भारत की कहानी शेष भारत से भिन्न प्रतीत होती है। ये विलक्षणताएं क्या हैं? दक्षिण भारत के सामाजिक संगठन का तार प्राचीन काल से अटूट और स्थायी बना चला आरहा है और इसकी सांस्कृतिक एकता दर्शनीय है। चेर, चोल और पांड्य राज्यों की परंपराएं, युगों की सीमाओं का अतिक्रमण करके, प्राचीन काल से अब तक अक्षुण्ण चली आरही हैं। जिस प्रकार इंग्लैंड में स्टुअर्ट राजवंश की जगह हनोवर राजवंश का शासन होजाने से इंग्लैंड इंग्लैंड ही बना रहा और जब फ्रांस में नेपोलियन ने तुइलेरी में अपनी राजसभा बैठायी तब भी फ्रांस फ्रांस ही बना रहा, इसी प्रकार इन दक्खिनी राज्यों में राजवंशों के बदलने के कारण उनके राजनीतिक सत्त्व पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। एक राजवंश का अधःपतन हुआ उसके स्थान में दूसरा सत्तारूढ़ होगया, किंतु वहां का राजनीतिक जीवन ढाक के तीन पातों की भांति सदा एकरस बना रहा। भूगोल ने पांड्यमंडलम, तोंडमंडलम और केरल को अलग-अलग तीन राज्यों में बांट ही दिया था; किंतु वे राजनीतिक दृष्टि से भी अलग-अलग सुदृढ़ बनगये और इतिहास में अपनी कहानी छोड़ गये। उनका पृथक अस्तित्व इतना जबर्दस्त था कि उनके व्यक्तित्व की छाप अब भी नहीं भुलाई जासकी है। इसके विपरीत, उत्तर भारत में इतिहास प्रायः राजवंशों के भाग्य के साथ झूलता रहा। विभिन्न राजवंशों के उत्थान और पतन की कहानी उसके इतिहास का कलेवर भरती रही। हां, मगध राज्य को इसका अपवाद कहा जासकता है जिसका व्यक्तित्व इतिहास में अलग दिखाई देता है। बाद में इसी श्रेणी में गुजरात और बंगाल के नाम भी सम्मिलित किये जासकते हैं, क्योंकि वहां पर राजवंश बारी-बारी से आये और चले गये फिर भी उनके व्यक्तित्व पर आंच नहीं आने पायी।

पांचवीं शताब्दी के आरंभ तक तोंडमंडलम, जैसा पहले कहाचुका है, एक ऐसे राजवंश के हाथ में आगया था जिसका नाम शिलालेखों में पल्लव लिखा हुआ है। इस पल्लव राज्य की राजधानी कांची थी। वे तोंडाइमन राजे थे। तमिल-साहित्य में उनका इसी नाम से वर्णन मिलता है। कांची सदा ही एक महत्त्वपूर्ण नगर और विद्या का विशाल केंद्र बना रहा। यहां एक विख्यात विश्वविद्यालय भी था। पल्लववंशी राज्य का विस्तार उत्तर में कृष्णा नदी और दक्खिन में पांड्यों के मदुराई के बाह्य अंचल तक होने के कारण कांची वस्तुतः दक्षिण भर की मुख्य नगरी बनगयी।

शिलालेखों के रूप में पल्लवों के अनेक अभिलेख मिलते हैं। इनसे प्रकट होता है कि

प्राकृत को बढ़ावा देने में पल्लव राजाओं ने सातवाहनों का अनुकरण किया था। उनके प्राकृत भाषा के शिलालेख बड़े ही महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें दक्षिण के क्रमिक आर्य-प्रभाव में आने की कहानी मिलती है और जायसवाल के इस अभिमत का प्रतिवाद होता है कि पल्लव दक्षिण में गुप्तराजाओं की परिष्कृत और परिमार्जित संस्कृति के प्रतिनिधि थे।

छठी शताब्दी के आरंभ तक अचानक यह परिवर्तन देखने में आया कि पल्लव संस्कृत भाषा के कट्टर समर्थक बनगये और उस काल में शिलालेख इसी संस्कृत भाषा में उत्कीर्ण कियेगये। कदाचित् इसी समय कांची का विश्वविद्यालय उन आचार्यों की मुट्ठी में आगया जो संस्कृत विद्या के प्रकांड पंडित थे।

पल्लवों का उत्थान धीरे-धीरे हुआ, परंतु ५५० ई. तक दक्षिण में उनकी धाक जम गयी। इस समय उनकी शक्ति का मध्याह्नकाल था। वे अब समानबलशाली चालुक्य राजवंश से अनवरत युद्ध में उलझे हुए थे। चालुक्यों की राजधानी बतायी थी। चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों से शक्ति छीनकर महाराष्ट्र देश पर अपना राज्य स्थापित कर लिया। पुलिकेशिन प्रथम के नेतृत्व में उन्होंने जिस राजतंत्र की स्थापना की उसका गौरवगान भारतीय इतिहास में चिरकाल तक होता रहेगा। इन दोनों राजघरानों में, दक्षिण पर अपनी-अपनी प्रभुता जमाने के लिए, निरंतर तलवार चलती रही। फिरभी यह मानना होगा कि यह संघर्ष दो राजवंशों के बीच में नहीं था। आग की ये लपटें तो भौगोलिक स्थिति के कारण पैदा हुई थीं। इसका प्रमाण यह कि दक्षिण के संगठित राजतंत्र महाराष्ट्र देश से, कृष्णानदी के तटों से लेकर १५६५ ई. में तालीकोट्टा के रणक्षेत्र तक, निरंतर लोहा बजाते रहे।

पल्लव कोई एक वंश नहीं था। चार विभिन्न वंशों का पल्लव नाम पड़गया था। पल्लव वंशों में प्राकृत भाषा का चलन था और वे सातवाहनों के बलिदायी शासक थे जिन्होंने स्वाधीनता प्राप्त करली थी और वे समुद्रगुप्त से पहले भी मौजूद थे। शिलालेखों से कम-से-कम छत्तीस पल्लव राजाओं का पता चलता है जिनका राजकाल अटूट चलता रहा। इतिहास की दृष्टि से यह बात बड़े ही मार्के की है। उनके राजपरिवार का इतिहास महत्त्वपूर्ण नहीं, परंतु पांचवीं शताब्दी के मध्य में पल्लव-साम्राज्य ने जो ख्याति प्राप्त करली वह आठवीं शताब्दी के मध्य तक बनी रही और यह बात भारत के लिए अत्यधिक महत्त्व की है। नरसिंहवर्मन ने ६२५ से ६४५ ई. तक राज किया और वह इतिहास में महामल्ल के नाम से प्रसिद्ध है। उसके राजकाल में पल्लव-साम्राज्य का मार्तंड मध्याह्नकाल में पहुंच गया। सन् ६४२ ई. में उसने स्वयं चालुक्यों की राजधानी वतापी पर धावा बोल दिया और उस पर अधिकार कर लिया। हर्ष पर विजय पाने के कारण गर्वोन्मत्त पुलिकेशिन द्वितीय भी युद्ध में पराजित हुआ और मारा गया। किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि इस युद्ध से चालुक्यशक्ति का सूर्यास्त होगया। पुलिकेशिन के एक उत्तराधिकारी विक्रमादित्य द्वितीय ने ७४० ई. में स्वयं पल्लवों की राजधानी पर थोड़े समय के लिए कब्जा जमा लिया। चालुक्यों के पतन के बाद मराठों के देश पर राष्ट्रकूटों का अधिकार होगया और उन्हें अनिवार्य भौगोलिक कारणों ने दक्षिण की ओर बढ़ने के लिए विवश कर दिया जिससे भीषण संघर्ष छिड़गया। किंतु

उन्हें इस अभियान में अपेक्षाकृत अधिक सफलता मिली। इसका एक कारण परिस्थितियों की अनुकूलता भी था। धुर दक्खिन में इसी समय पांड्यों की शक्ति का पुनरुत्थान हुआ। पल्लव लोग पांड्यों और राष्ट्रकूटों की चक्की के दो पाटों के बीच में पिसने लगे। इस अवसर से पूरा लाभ उठाकर राष्ट्रकूटवंशी कृष्ण ने नवमी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पल्लवों पर घातक प्रहार किया और उनकी शक्ति को अंतिमरूप से विनष्ट कर दिया।

भारतीय संस्कृति के उत्थान में पल्लवों का योगदान प्रत्येक दृष्टि से बेजोड़ है। हम यहां ग्राउसेट के शब्दों को उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर सकते। उसने लिखा है : "उन्होंने (पल्लवों ने) अपने अभ्युदयकाल से अपनी स्थापत्यकला की वह बानगी प्रस्तुत की जो दक्षिण की अन्य कलात्मक शैलियों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गयी। जब उनकी राजधानी मावलीपुरम में चीनी पर्यटक युवान-च्वांग आया था तब उसमें संग्रह के लिए चारों ओर से प्रशंसनीय कलाकृतियों की झड़-सी लगी हुई थी जिसके कारण वह अब भी भारतीय कला का प्रमुख केंद्र प्रतीत होता है......इसका समस्त समुद्रतट एकस्तंभीय मंदिरों से सुशोभित है जिनके नमूने के आधार पर चाम या मलाया गणद्वीप (आर्किपेलागो) के मंदिर बनवाये गये, परंतु वे उतने सुंदर नहीं बनपड़े। यहां की चट्टानों पर विविध पशुओं के परम चित्ताकर्षक और सजीव चित्र अंकित हैं। बहुत-सी पहाड़ियों पर नख-शिख तक भित्ति-चित्रकारी ही दृष्टिगोचर होती है। इन पर ऐसे विशालकाय चित्र बने हुए हैं जिनके हाव-भाव की अभिव्यंजना शक्ति, सुडौलपन और रोचकता की तुलना तत्कालीन भारत में कहीं भी नहीं की जासकती थी।"

इस राजवंश में महामल्ल को भवन बनवाने का सबसे अधिक शौक था। उसकी कलात्मक अभिरुचि बहुत बढ़ी हुई थी। उसीके नाम पर मावलीपुरम का नाम पड़ा। पल्लव कला का सबसे दर्शनीय नमूना गंगावतरण का है। इससे कला टपकी पड़ती है। कलात्मक कृति से पल्लवकालीन दक्षिण ही नहीं, प्रत्युत समस्त भारत सदा गौरव अनुभव करता रहेगा। इसमें गंगा आकाश से पृथ्वी पर उतरती दिखायी देती है। साथ में, देवता, मनुष्य और पशु समेत संपूर्ण सृष्टि गंगा की भक्ति में तल्लीन अंकित कीगयी है।

अनेक पल्लव राजे स्वयं कवि थे और उन्होंने साहित्य को प्रश्रय दिया। महेंद्रवर्मन ने मत्तविलासप्रहसन नामक एक सामाजिक सुखांत नाटक लिखा है। वह प्रसिद्ध नरसिंह पल्लव का पुत्र था। इतिहासकार डा. कृष्णस्वामी अय्यंगर ने यह सिद्ध करने के लिए प्रमाण भी दिया है कि भारवि और दंडिन पल्लव राजसभा को समलंकृत करते थे।

आठवीं शताब्दी में जिस व्यापक धार्मिक सुधार ने भारत को सोते से जगाया उसका आविर्भाव सबसे पहले पल्लव राजसभा में हुआ था। तमिलों का वैष्णव और शैव साहित्य, जो धार्मिक विचारों और भक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति का अगाध किंतु शेष भारत के लिए अब तक अज्ञात सागर है, मुख्यतः इसी काल में विकसित हुआ। दक्षिण भारत में भक्ति के दो प्रधान अंग हैं—वैष्णव संप्रदाय और शैव संप्रदाय। वास्तव में जिन शैव और वैष्णव संतों की जीवन-लीलाएं और कृतियां दक्षिण भारत के धार्मिक क्षितिज पर अब भी प्रकाश फैलारही

हैं वे पल्लवकाल ही में उत्पन्न हुए थे। अंतिम शैव संत सुंदरमूर्ति पल्लव-सत्तावसान के दिनों में विद्यमान थे और शैव संप्रदाय की महानतम विभूतियां नरसिंह की समकालीन थीं। यद्यपि इस आशय के प्रमाणों की कमी नहीं कि दक्षिण की धार्मिक परंपराओं पर कभी जैनियों का सबसे अधिक चटकीला रंग चढ़ा हुआ था फिरभी जब चीनी यात्री युवान-च्वांग ने कांची में पदार्पण किया तब जैन और बौद्ध धर्मप्रचारकों की पहले जैसी धाक नहीं रही थी और धीरे धीरे उनका प्रभाव क्षीण होरहा था। पल्लव सनातनी हिंदू थे। वे प्रायः वैष्णव थे, किंतु कभी-कभी उनमें कुछ शैव भी होगये थे। इन्हींने आठवीं शताब्दी के महान धार्मिक सुधार का बीज बोया था।

पल्लवों के जमाने में दक्षिण भारत आर्यसभ्यता में पूरी तरह दीक्षित होगया। उनके अनुदानों से पता चलता है कि छठी शताब्दी तक दक्षिण पर आर्यों की सामाजिक व्यवस्था का सुदृढ़ पंजा जमगया था। अपर्थंभिय और बौधायन ब्राह्मणों के अनुदानों का विशेषरूप से उल्लेख मिलता है जिनसे सिद्ध होता है कि पल्लव–राज्य उत्तर भारत के धर्मशास्त्रों के अनुशासन में आगया था। संस्कृत ने अपना प्रभाव स्थापित करलिया था। इस कार्य में कांची के विश्वविद्यालय ने निःसंदेह भारी मदद की थी। युवान-च्वांग के अभिलेखों से पता चलता है कि कांची उस समय दक्षिण में शिक्षण का सब से बड़ा केंद्र था। धुरंधर तर्कशास्त्री वात्स्यायन जिन्होंने न्यायभाष्य लिखा है चौथी शताब्दी में जीवित थे और जानपड़ता है कि वह कांची के एक पंडित थे। दिङ्नाग के विषय में भी यह कहाजाता है कि उन्होंने इस दक्खिनी राजधानी में प्रशिक्षण पाया था। मयूरवर्मा के शिलालेखों के अनुसार पांचवीं शताब्दी में कादंबपरिवार उच्च शिक्षण के लिए कांची गया था। वास्तव में यह बात मानना न्यायसंगत होगा कि पल्लवों की कांची नगरी शिक्षा का विशाल केंद्र थी—जहां से दक्षिण में और सुदूरपूर्व के भारतीय उपनिवेशों में संस्कृत का प्रचार सफलतापूर्वक किया गया।

चालुक्य राजवंश का उल्लेख पहले हो चुका है। चालुक्य पल्लवों के साथ दक्षिण के प्रभुत्व में बंटवारा किये रहे। वे सातवाहनों के ऐश्वर्य का उपभोग उनके पीछे तबतक करते रहे जबतक ६४२ ई. में नरसिंह पल्लव ने उनकी शक्ति को नहीं कुचल डाला। छठी शताब्दी के आरंभ में जयसिंह ने राष्ट्रकूटों की उदीयमान शक्ति को विनष्ट करके उस प्रदेश में, जिसे आजकल महाराष्ट्र कहते हैं, अपना राज्य स्थापित कर लिया। इस प्रकार चालुक्यों का सितारा एक बार इस देश के राजनीतिक इतिहास के गगन में चमक उठा। जयसिंह के पुत्र पुलिकेशिन प्रथम ने अश्वमेध यज्ञ किया जिससे स्पष्ट होता है कि वह अपने देश में सम्राट के वैभव का उपभोग करने लगा था। दक्खिन की ओर बढ़ने के सिलसिले में चालुक्यों को पल्लवों की शक्ति का सामना करना पड़ा और इसी प्रकार उत्तर में उन्होंने विंध्यक्षेत्र के वाकाटकों को अपने मार्ग में खड़ा पाया। लेकिन वर्तमान महाराष्ट्र को संगठित करके उन्होंने उसे एक शक्तिशाली राज्य बना दिया। जब हर्ष ने उत्तर भारत को जीत लिया और दक्खिन की ओर बढ़ने का प्रयास किया तब उसने देखा कि पुलिकेशिन द्वितीय ने उसका मार्ग बंद कर रखा है।

नरसिंह पल्लव के हाथों पुलिकेशिन द्वितीय को जो करारी हार खानी पड़ी उससे चालुक्यों

की शक्ति पर वज्रपात होगया। किंतु आगे चलकर वे एक बार फिर संभले और उनके राज विक्रमादित्य द्वितीय ने अपने परंपरागत शत्रु पल्लवों पर दृढ़तापूर्वक आक्रमण कर दिया जिन्होंने उसके पूर्वजों को अपने राज्योचित वैभव से वंचित कर दिया था। विक्रमादित्य द्वितीय की सेना युद्ध करती हुई शत्रु के प्रदेश में घुस पड़ी और ठेठ कांची पर जाकर रुकी जिस पर उसने अपना अधिकार कर लिया। फिर उसने एक प्रतिद्वंद्वी पल्लव राजा को वहां राजसिंहासन पर बैठाया। यह जानकर आश्चर्य होगा कि यह चालुक्य राजा कांची से कुछ "सर्वसिद्धि आचार्य" अर्थात दक्ष शिल्पकार पकड़कर अपने साथ ले आया था। इनमें से एक शिल्पकार ने विक्रमादित्य की रानी के आदेश से लोकेश्वर मंदिर का निर्माण किया।

पल्लव और चालुक्य दोनों बड़ी समुद्री शक्तियां थीं। पल्लवों की समुद्री हलचल का उद्देश्य यह था कि 'अतिविस्तृत भारत', मलाया और हिंदनेशिया के साथ मैत्रीपूर्ण संपर्क जुड़ा रखा जाए। चालुक्यों की नौसेना का प्रमाण एक शिलालेख से मिलता है जिसमें कहागया है कि पुलिकेशिन ने एक सौ जहाज लेकर एक शत्रु के राज्य पर आक्रमण किया और उसकी राजधानी ध्वस्त करदी। युवान-च्वांग चालुक्य राजा की सभा में गया था और उसने उसके देश का वर्णन किया है। उसने पुलिकेशिन के उच्च विचारों और उदारता की सराहना की है और लिखा है कि देश सैनिक बल के आधार पर संगठित था। दक्षिण के राज्यों की भांति महाराष्ट्र देश का इतिहास भी अटूट है। इस राज्य का भाग्य शासनकर्त्ता राजवंशों के साथ नत्थी नहीं रहा। कोई राजवंश कितना ही वैभवशाली और प्रतापी क्यों न रहा हो उसके विनष्ट होने पर महाराष्ट्र के इतिहास का तार नहीं टूटा। अब से दो शताब्दियां पहले चालुक्यों ने राष्ट्रकूटों के हाथ से इस प्रदेश का राज्य छीन लिया था। किंतु अब मैदान साफ पाकर वे फिर सिंहासनारूढ़ होगये। फिर उनके हाथ में साम्राज्योचित सत्ता आगयी। चालुक्यवंश के छोटे-छोटे राजे अब भी इधर उधर बिखरे रहे और एक शताब्दी तक राज करते रहे। अंत में मलखेड़ के दंतिदुर्ग ने उनका सफाया कर दिया। उसके पुत्र कृष्णराज को, "जिसने चालुक्य जाति को विलोडित कर डाला", अधिक महत्त्वपूर्ण सफलता का श्रेय प्राप्त है। उसने एलोरा का भव्य कैलाश मंदिर बनवाया। इस मंदिर के निर्माण से उसका मस्तक गर्वोन्नत होगया। बड़ौदा के अनुदान से प्रकट होता है कि उसने "पहाड़ पर एक आश्चर्यजनक ढंग का मंदिर बनवाया" जिसे जब देवताओं ने देखा तब बोले : "यह शिव का मंदिर स्वयं निर्मित होगया है क्योंकि इस प्रकार का सौंदर्य किसी कलात्मक रचना में दुष्प्राप्य है"। कृष्ण के उत्तराधिकारी भी विशेषकर गोविंद तृतीय और अमोघवर्ष, शक्तिशाली राजे थे। इस प्रकार राष्ट्रकूटवंश ९७३ ई. तक शासन करता रहा जबकि चालुक्यों ने फिर उन्हें राज्यच्युत कर दिया और स्वयं शासक बनबैठे। उनका खोया हुआ राजवैभव एक बार फिर लौट आया और वे बड़ी शान के साथ शताब्दियों तक राज करते रहे जबकि इतिहास ने विजयनगर साम्राज्य के तिरोधान के साथ फिर करवट बदल ली। आज भी राजस्थान और मध्यभारत के स्वाभिमानी राठौर परिवार राष्ट्रकूटों के गौरव की बीती कहानी की याद दिलारहे और अपने पुरखों की ख्याति की साख भररहे हैं।

धुर दक्षिण भारत की कुछ और कहानी कहना शेष है। हमारा अभिप्राय उस प्रदेश से है

जिसका उल्लेख प्रायः चेर अथवा केरल नाम से कियागया है। देश की जो संकीर्ण पट्टी पच्छिमी घाट के पच्छिम में स्थित है और नीचे कन्याकुमारी अंतरीप तक फैली हुई है उसके साथ प्राचीन काल ही से पच्छिम के देशों का व्यापार और गमनागमन चला आरहा है। इसके बंदरगाहों--मुज़रीस और कोल्लम, की ख्याति प्राचीन काल ही में फैलचुकी थी। आद्यशंकराचार्य का आविर्भाव होने से पहले इस क्षेत्र के इतिहास में दो महत्त्वपूर्ण घटनाएं देखने में आती हैं। पहली, यहां पादरी थामस ने पदार्पण किया; और दूसरी, निर्वासित यहूदियों ने आकर यहां शरण ली। यद्यपि पादरी थामस द्वारा यहां धर्मप्रचार-व्यवस्था का कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता है फिरभी उनके बारे में जो ऐतिहासिक चर्चा सुनने में आती है उस पर प्राचीनता की काफी गहरी छाप है और इसलिए उसको यूं ही नहीं टाला जासकता। इसके विपरीत, अरिकामेडु उत्खननों से अब हमारी आंखे खुलगयी हैं कि दक्षिण भारत का यूनानी और रोमन दुनिया से घनिष्ट संपर्क स्थापित था। इस आधार पर पादरी थामस के आगमन की कहानी सत्य होने की संभावना बढ़गयी है। इसके अतिरिक्त, हमारे पास यूसेबियस का सबसे बड़ा प्रमाण है। इसके अनुसार अलेग्जेंड्राइन विचारधारा के अधिष्ठाता पंताएनस, जिसके शिष्यों में सिकंदरिया के ओरीगेन और क्लीमेंट भी थे, भारत पधारे थे और उन्होंने यहां ईसाई संप्रदाय को अपनी आंखों से फलताफूलता देखा था जिसकी देखरेख में पादरी मैथ्यू की कृतियां सुरक्षित रखी हुई थीं। इन प्रमाणों को देखकर ईसाई धर्मदूत के भारत भूमि पर पधारने औ मलाबार में ईसाई गिरिजाघर की स्थापना की परंपरागत कहानी को चुटकी में नहीं उड़ाया जासकता। कना का एक सीरियाई व्यापारी, जिसका नाम थामस था, पांचवीं शताब्दी में भारत आया। उसने मलाबार क्षेत्र में ईसाई जाति की व्यवस्था की। यद्यपि उस समय ईसाई लोग मलाबार क्षेत्र ही तक सीमित रहे फिरभी इस स्वदेशी प्रमाण के आधार पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि जब इंग्लैंड में पादरी आगस्टाइन की धूम मची हुई थी, उससे बाद में नहीं किंतु पहले ही, भारत में ईसाइयों का पदार्पण होचुका था।

इस समय दक्षिण और दक्षिण भारत में शिक्षा एक उच्च स्तर पर पहुंच गयी थी। हम कांची के विशाल विश्वविद्यालय का उल्लेख पहले ही कर चुके हैं जिसकी, उत्तर में नालंदा की भांति ही, दक्षिण के बौद्धिक जीवन पर धाक बैठी हुई थी। सरस्वती के इस विशद मंदिर के अतिरिक्त, दक्षिण भारत में उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए अन्य अनेक महाविद्यालय और विद्यालय भी थे। इनमें सलोगती महाविद्यालय का नाम उल्लेखनीय है जिसका निर्माण राष्ट्रकूटवंशी कृष्ण तृतीय के विदेशमंत्री ने करवाया था और उसके संचालन के लिए यथेष्ट द्रव्य दिया था। इसके अंतर्गत छात्रों के निवास के लिए सत्ताईस घर बने हुए थे जिनका उन्हें कोई भाड़ा नहीं देना पड़ता था। प्राध्यापकों को भरपूर वेतन मिलता था। जनता इस संस्था की हार्दिक सेवा करती थी। महत्त्वपूर्ण उत्सवों के अवसर पर नगर का प्रत्येक गृहस्थ, एक निश्चित प्रणाली के अनुसार, इस संस्था की निधि में अपना अंशदान समर्पण करता था। इन्नयिरम मंदिर के महाविद्यालय में ३४० छात्र विद्याध्ययन करते थे। इस में दस विभिन्न विभाग थे। विद्यार्थियों को पूर्णतः निःशुल्क शिक्षा दीजाती थी। जानपड़ता है कि महाविद्यालय वस्तुत:

बड़े-बड़े मंदिरों के साथ अनुलग्न कर दियेगये थे जहां पर विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा दीजाती थी। कम-से-कम पल्लवकाल के बाद दक्षिण में जिन महाविद्यालयों में शिक्षा दीजाती थी उन पर हिंदूपन का गहरा रंग चढ़ा हुआ था।

यह एक पिछले अध्याय में लिखा जाचुका है कि पांचवीं शताब्दी के अंत में मेकोंग घाटी, मलाया और हिंदनेशियाई द्वीपों में इधर उधर नन्हें-नन्हें हिंदू राज्य छिटके हुए थे, जिनमें फ़ूनान राज्य काफी महत्त्वपूर्ण और समृद्धिशाली बनगया था। हिंदू संस्कृति और संगठन का आधार सुदृढ़ होगया था और स्थानीय लोग, विशेषकर उच्च वर्गवाले, भारतीय प्रवासियों और उपनिवेश-बसानेवालों में घुलमिल गये थे। अगली पांच शताब्दियों में इन क्षेत्रों में भारतीय संस्कृत का महावृक्ष कुसुमित होकर अपना सौरभ बिखेरने लगा। इन क्षेत्रों को भारतीय इतिहास का अंग कहना अनुचित न होगा क्योंकि कम-से-कम बारहवीं शताब्दी तक इधर के लोग अपने को भारतीय जगत का अविभाज्य प्रदेश मानते रहे।

छठी शताब्दी के उषःकाल में अतिविस्तृत भारत में तीन महत्त्वपूर्ण राज्य थे—(१) कंबुजा (अब भी यह देश इसी नाम से पुकारा जाता है, किंतु अंग्रेजी में यह कंबोडिया कहलाता है), (२) चंपा (आधुनिक स्याम) और (३) श्रीविजय जिसमें कभी सुमात्रा और मलाया प्रायद्वीप शामिल थे और एक विशाल समुद्री साम्राज्य था। जावा में इस समय छोटे-छोटे राज्य थे और जानपड़ता है कि बोर्निओ तो अभी बर्बर जातियों का एक ठिकाना था।

कंबुजा के इतिहास का श्रीगणेश फ़ूनान के एक सामंतीय राज्य के रूप में होता है। किंतु चीनी इतिहास के अनुसार छठी शताब्दी के मध्य तक वह स्वयं एक स्वाधीन राज्य बन गया। इस देश के राजवंश का मूलपुरुष स्थिरवर्मन था क्योंकि बाद में जो शिलालेख उत्कीर्ण कियेगये उनमें विभिन्न राजाओं की वंशावली का मूलस्रोत इसी पुरुष से मिलाया गया है। शिलालेखों के आधार पर कंबुजा के शासकों की एक दीर्घ वंशावली मिलती है जिन्होंने इस देश की संपत्ति और वैभव को दिन पर दिन बढ़ाया और जिनके कारण यह देश संस्कृत का एक केंद्र बन गया।

प्रारंभिक शिलालेखों में साहित्यिक संस्कृत का प्रयोग कियागया है और उनमें प्राचीन भारत के प्रसंग भरे पड़े हैं। यह प्रसंग भारत की याद के रूप में आये हैं। यह भावना युगधर्म-सी बनगयी थी। भारतीय जहां कहीं भी होते थे उन्हें अपने देश की याद सताया करती थी। कंबुजा के राजा लोग हिंदू—मुख्यतः शैव—थे क्योंकि यहां पर बहुधा शिवलिंग की स्थापना के प्रसंग मिलते हैं। निम्नांकित शिलालेख से इस आशय की झलक मिल जाएगी कि इधर के राजाओं ने सनातनधर्म की पताका फहराने और अपने देशो को हिंदू संस्कृति का गढ़ बनाने में कोई कसर न उठारखी थी।

"श्रीवीरवर्मन की तनुजा और श्रीभाववर्मन की भगिनी, जो बड़ी ही पतिव्रता और धर्मपरायणा थी, दूसरी अरुंधती प्रतीत होती थी (अरुंधती पुराणों में पूर्णनिष्ठावती पत्नी की सजीव मूर्ति मानीगयी है जो अपने पति के साथ तपस्या में निरंतर तत्पर

रहती थीं)। उन्होंने (श्रीसोमशर्मन ने) इस शुभलक्षणा का पाणिग्रहण किया और सामवेद के अधीत श्रेष्ठ पंडितों ने यहां इन त्रिभुवनेश्वर (सूर्य की प्रतिमा के साथ शिव) की प्राणप्रतिष्ठा की......रामायण और पुराण के साथ उन्होंने संपूर्ण महाभारत दिया और प्रतिदिन अखंडपाठ की व्यवस्था की।"

भारतीय सभ्यता की दृष्टि से भववर्मन की प्रशस्ति और भी रोचक प्रतीत होती है। यह कालिदास के रघुवंश की शैली का अनुकरण करते हुए पद्यबद्ध की गयी है। इन्हीं भववर्मन के पुत्र ने छठी शताब्दी के मध्य में फूनान की शक्ति का समूल विनाश किया था। इस समय अतिविस्तृत भारत में काव्यशैली, विशेषकर कालिदास के महाकाव्य के प्रति जो अभिरुचि दिखायी गयी वह मातृभूमि और उपनिवेशों के बीच घनिष्ट संबंधों की द्योतक है। सातवीं शताब्दी के मध्यकाल तक कंबुजा देश पक्का हिंदूधर्मावलंबी था। किंतु इसी समय इस पर पहली बार बौद्धमत की छाया पड़ी। इस प्रकार भारत की भांति इस देश में भी हिंदूधर्म और बौद्धमत को दोनों सह-अस्तित्व का अवसर मिला। फिर भी इस अवधि में यहां हिंदूधर्म का पंजा ही ऊंचा रहा। बाद में जब बौद्धमत विलुप्त होगया तब भी हिंदूधर्म बना रहा।

आठवीं शताब्दी तक पल्लवों का, कंबुजा में, बोलबाला रहा। दक्खिनी सांचे में ढला शैवमत यहां का राजधर्म था। पल्लवों की लिपि में यहां के शिलालेख उत्कीर्ण किये गये और यहां के लोगों के नाम, जैसे महेन्द्रवर्मन आदि, पल्लवों की परिपाटी का अक्षरशः अनुकरण करते प्रतीत होते हैं। पारमेंटियर ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि कंबुजा की स्थापत्यकला पर पल्लव परंपरा की अमिट छाप है। कंबुजा के राजाओं में स्थापत्य कला का सबसे बड़ा आश्रयदाता यशोवर्मन था जिसके पिता महीपतिवर्मन ने आर्यदेश के ब्राह्मण के कुल में उत्पन्न इंदिरादेवी नाम की एक ब्राह्मण-कन्या से विवाह किया था। इससे स्पष्ट होता है कि भारत और कंबुजा में बहुत ही घनिष्ट सांस्कृतिक संपर्क था।

कंबुजा में संस्कृत का कितना गंभीर अध्ययन कियाजाता था उसकी झलक यशोवर्मन के एक शिलालेख से मिल सकती है। इसमें यशोवर्मन की स्तुति में लिखा हुआ है कि वह अपने सेतुबंध की रचना के कारण वाकाटकवंशी प्रवरसेन से श्रेष्ठ था। वह किसी गुणाढ्य से अधिक विद्वान था क्योंकि गुणाढ्य को प्राकृत से अरुचि थी। वह किसी विशालाक्ष से चतुर था क्योंकि विशालाक्ष नीति का विरोधी था। वह सूर से अधिक उदार था क्योंकि उसने किसी भीमक को अवमानित नहीं किया था। यशोवर्मन ने हर्षकाल के मयूर कवि का भी उल्लेख किया है: "सूर्य मयूर-स्तोत्र सुनकर संतुष्ट होगये, परंतु सूर्य से प्रतिस्पर्धा करने के लिए राजा की पूजा हंस करते हैं।"

इसी प्रकार चंपा (आधुनिक स्याम) भी एक प्राचीन राज्य था। जानपड़ता है कि छठी शताब्दी से पहले यह फूनान को कर भरा करता था। चंपा का पहला महत्त्वपूर्ण राजा रुद्रवर्मन था जो गंगराज से उत्पन्न होने का दावा करता था। अनेक राजवंशों ने, जो कट्टर हिंदू थे, चंपा पर राज किया। यद्यपि उनमें कुछ वैष्णवमतावलंबी थे फिर भी वे प्रायः शैव थे। कुछ तो हरिहर के संयुक्त रूप की उपासना किया करते थे।

कंबुजा की भांति चंपा भी हिंदू संस्कृति का एक विशाल केंद्र था। कहा जाता है कि भृगुवंशोद्भव राजा इंद्रवर्मन तृतीय हिंदू दर्शन की छह पद्धतियों का निष्णात विद्वान था। शैवों के धार्मिक ग्रंथों के अतिरिक्त, उन्होंने बौद्ध दर्शनपद्धति, पाणिनि के व्याकरणशास्त्र और काशिका का पूर्ण अवगाहन किया था। कंबुजा की सरकारी भाषा संस्कृत थी और उसमें अंकित सौ से अधिक शिलालेख अब तक मिल चुके हैं। वेदों और धर्मशास्त्रों का सावधानी से अध्ययन कियाजाता था और एक राजा श्रीजयइंद्रवर्मन सप्तम ने तो नारदीय और भार्गवीय धर्मशास्त्रों का पंडित होने का दावा किया है। सामान्यतः लोगों की रामायण और महाभारत में पर्याप्त अनुरक्ति थी। यहां की स्थापत्यकला में दक्षिण भारत की आत्मा की झलक मिलती थी। इस संबंध में एक गण्यमान्य बंगाली विद्वान का कहना है कि "प्रारंभिक द्राविड़ शैली से चंपा की शैली का संबंध जोड़े बिना नहीं रहा जासकता है।" वास्तव में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि चंपा और कंबुजा दोनों में जिस भारतीय संस्कृति का प्रभाव देखने में आता है उसका मूल संबंध दक्षिण भारत से है।

अन्नाम राज्य और चंपा में कई शताब्दियों तक रोमहर्षणकारी युद्ध चला जिसके परिणाम-स्वरूप चंपा का नाम ही इतिहास से गुम होगया। उस समय अन्नाम चीनी संस्कृति का बाह्य अंचलीय गढ़ बनचुका था। वास्तव में, चंपा और कबुजा भारतीय जनता की हार्दिक कृतज्ञता के विशेष अधिकारी हैं। यदि चीन के साम्राज्य ने दक्खिन की ओर कभी फैलने की कोशिश की तो भी सिंगापुर पर उसकी अपनी सत्ता स्थापित नहीं होसकी; और यदि आज हिंदमहासागर अपने नाम के अनुरूप बना हुआ है तो इसका श्रेय कंबुजा और चंपा ही को देना होगा जो अनवरत चीनी दबाव के सामने छाती ताने खड़े रहे और जिनसे आकर कितने ही तूफान टकराकर रुक गये। कंबुजा आज भी पृथ्वी के मानचित्र पर अंकित है— वह एक छोटा-सा राज्य है। चंपा के समुज्ज्वल इतिहास की धरोहर का उपभोग आज स्याम कररहा है। किन्तु इन दोनों ने चीन की संस्कृति की सीमाबंदी कर दी और उसके साम्राज्य-विस्तार को रोकने में दृढ़ चट्टान का काम किया।

यदि अतिविस्तृत भारत के राज्यों ने एक हजार वर्ष तक चीन को स्थलमार्ग से बढ़ने का मौका नहीं दिया तो समुद्री मार्ग से उसी तरह रोके रहने का श्रेय महान शैलेंद्रवंश को प्राप्त है जिसके साम्राज्य में श्रीविजय-राज्य भी सम्मिलित था। शैलेंद्रों ने अपना राज्य मूलतः श्रीविजय (सुमात्रा का पालमपांग) में स्थापित किया था और धीरे-धीरे उन्होंने इस द्वीप भर पर अपनी शक्ति को सगठित कर लिया। फिर उन्होंने आसपास के द्वीपों को भी जीत लिया और सातवीं शताब्दी के आरंभ में मलक्का मुहाने पर अपना नेतृत्व कायम कर लिया। आठवीं शताब्दी में मलाया प्रायद्वीप भी उनकी सत्ता के अंतर्गत आगया। इस प्रकार उनका एक चरण तो एशिया महाद्वीप की मुख्यभूमि पर और दूसरा विशाल सुमात्रा द्वीप पर धरा हुआ ऐसा जानपड़ता था मानों वे मलक्का-के-मुहाने रूपी घोड़े की पीठ पर सवार हों। वे पांच सौ वर्षों से भी अधिक काल तक उभय पार्श्ववर्ती समुद्रों पर अपना प्रभुत्व बनाये रहे।

ग्यारहवीं शताब्दी में बंगाल-की खाड़ी में चोलों ने शैलेंद्रों की सत्ता को धरललकारा। राजेंद्र चोल का वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। उसने शैलेंद्रों के विरुद्ध शतवर्षीय युद्ध का श्रीगणेश किया और यद्यपि कुछ काल के लिए मलाया प्रायद्वीप में चोलों का साम्राज्य स्थापित होगया फिरभी युद्ध के अंत में, समुद्र शैलेंद्रों के हाथ ही में रहा। बारहवीं शताब्दी के चीनी विवरणों से प्रमाण मिलता है कि मलक्का-के-मुहाने के समुद्री यातायात पर शैलेंद्रों का नियंत्रण था। पूरे सात सौ वर्षों तक अपने द्वीपों के मेखलावर्ती समुद्रों पर उनकी प्रभुसत्ता बनी रही और गणद्वीप (आर्किपेलागो) में भारतीय संस्कृति की पताका फहराती रही।

शैलेंद्रवंशी राजालोग बौद्धमतावलंबी थे और बौद्धमत के प्रचार में उनकी इतनी गहरी अभिरुचि थी कि उन्होंने अपने देश से दूर नालंदा और दक्षिण में नागपत्तनम तक में विहार बनवाये। उनका दक्षिण भारत के चोल और पांड्य राज्यों से घनिष्ट संबंध था और हमें इस आशय के अभिलेख प्राप्त हुए हैं कि दक्षिण भारत के विद्वान शैलेंद्रों की राजधानी का परिभ्रमण करने गये थे। उनके अनेक शिलालेखों में दक्षिण भारत की ग्रंथलिपि का प्रयोग कियागया है। सुमात्रा में बहुत-से कुलों के नाम दक्षिण भारत की नकल करके रखे गये हैं, जैसे चोल और पांड्य।

भारत की विशाल सैनिक हलचलों ने भारतीय उपनिवेशों की कहानी को विस्तृत कर दिया है। इन समुद्री हलचलों को जनता का पूरा सहयोग प्राप्त था। इनके लिए सार्वजनिक निगम बने हुए थे जिनमें मणिग्रामम और नानादेशी निगमों का नाम विख्यात है। मणिग्रामम निगम के पोत सब समुद्रों में आतेजाते थे और उस समय तक अभिज्ञात दुनिया के साथ व्यापार करते थे। इस मणिग्रामम निगम के बारे में शिलालेख मिलते हैं और इसको दियेगये अनुदानों से उसकी वास्तविकता का पता चलता है। उनको व्यापार करने का एकाधिपत्य और विशेष अधिकार प्राप्त था जैसाकि हम आगेचलकर अधिकारप्राप्त व्यापारिक मंडलियों को उपयोग करतेहुए पाते हैं। इन्हें "सर्वोपरि व्यापारी होने की प्रतीक खड्ग" भी प्राप्त थी। नानादेशी—वलांगय और एतांगय—का उल्लेख मैसूर के शिलालेख में मिलता है। नानादेशी निगम में देश के सभी भागों के लोगों का हाथ था। "ये लोग बहादुर थे, मानों उनका जन्म ही देशांतरों में घूमने के लिए हुआ हो। उन्होंने स्थल और जलमार्गों से छहों महाद्वीपों को छान डाला था। वे घोड़ों, हाथियों, रत्नों, इत्र और जड़ी-बूटियों का थोक और खुदरा व्यापार करते थे।" इससे प्रकट होता है कि ये व्यापारिक निगम सचमुच कैसे साहसिक कार्यों में व्यस्त थे और वे अतिविस्तृत भारत के व्यापार और राजनीति का, शताब्दियों तक, पथप्रदर्शन करते रहे।

*

*

अध्याय ११

हिंदूधर्म में सुधार

हिंदू धार्मिक ग्रंथों को फिर-से लिखने का काम शायद गुप्तकाल में समाप्त होगया था। इससे राष्ट्रीय उन्नति में कितनी भारी सहायता मिली, इसका उल्लेख पहले ही किया जाचुका है। किंतु धर्म की दृष्टि से यह प्रयास और भी स्तुत्य था। फिर-से लिखेगये पुराणों और महाभारत में हमें हिंदू जनता के आदर्शों के अनुकूल प्राचीन कथाओं, अतुल्य वीरतापूर्ण काव्यसंग्रहों, लोकप्रिय आचार-विचारों की समुज्ज्वल पद्धति और उस लोकसंग्रहकारी धार्मिक साहित्य के दर्शन होते हैं जो उदात्तापूर्ण भावनाओं से ओतप्रोत होकर हिंदूधर्म की परिधि के भीतर संपूर्ण संप्रदायों के समन्वय की ओर अभिमुख था। इस समय प्रत्येक प्रकार की पूजा और उपासना को हिंदूधर्म में ठौर मिला। छठी शताब्दी तक स्वयं बुद्ध को वस्तुतः विष्णु के अवतारों में गिनाजाने लगा। उन्हें सनातनकालीन देवता उद्घोषित करदिया गया जिनकी पूजा-अर्चना करना हिंदुओं का कर्तव्य मानाजाने लगा। मत्स्यपुराण में बुद्ध का नाम अवतारों में लियागया है और यह उद्धरण प्राचीन लेखकों को ग्राह्य है। श्रीमद्भागवतपुराण में भी बुद्ध को विष्णु का अवतार बतायागया है और ब्रह्मांड में बुद्धजयंती मनाने के लिए आग्रह कियागया है। उसमें लिखा है कि बुद्ध की प्रतिमा का एक विशेष प्रकार से पूजन करना चाहिए। दक्षिण भारत के, सातवीं शताब्दी के एक शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि वहां भी बुद्ध को एक अवतार मानने लगे थे।

वास्तव में, गुप्तकाल में हिंदूधर्म का पुनरुत्थान हुआ। इस समय अवतारवाद के सिद्धांत पर विशेष बल दियागया। यूं तो अवतारवाद का सिद्धांत प्राग्बौद्धकाल की देन है, किंतु गुप्तकाल में वह पल्लवित और पुष्पित होउठा। पाणिनिकाल में कुछ अवतारों की प्रतिष्ठा होचुकी थी और उनकी यथाविधि पूजा भी कीजाती थी, किंतु कृष्ण के मानवरूप में केवल एक देवता-भर होने का नहीं अपितु विष्णु का अवतार होने का निश्चित और स्पष्ट प्रसंग पतंजलिकाल (१५० वर्ष ई. पू.) ही में मिलता है। अवतार का सिद्धांत बिल्कुल सुबोध है और स्वयं गीता में इसकी स्पष्ट शब्दों में व्याख्या कीगयी है। भगवान कृष्ण ने कहा है कि जब धर्म की ग्लानि होती है और पापियों का विनाश करना आवश्यक होजाता है तब मैं विभिन्न अवसरों पर अवतार लेता हूं। हिंदुओं के अब सर्वमान्य सिद्धांत के अनुसार, जब कभी मानव-समाज की अवस्था में सुधार की अपेक्षा होती है तब उस अभीष्ट कार्य की सिद्धि के लिए दिव्य अंशधारी पुरुष पैदा होते हैं। ये अवतार कहलाते हैं। किंतु वे केवल अंशावतार होते हैं और स्वयं भगवान मानवरूप में नहीं होते हैं। मनुष्य केवल उतने ही दिव्य अंश से

परिपूर्ण होता है जितने की आवश्यकता किसी समुत्पन्न विशेष कार्य को पूरा करने के लिए पड़ती है। सृष्टिपालक विष्णु अवतारों के अधिष्ठाता हैं और केवल कृष्ण को उनका पूर्ण अवतार माना गया है। मानवस्वरूप में उनके अन्य अवतार राम दाशरथि, राम भार्गव और बलराम भी हैं। यद्यपि इनकी पूजा करना अभीष्ट है किंतु उन्हें स्वयं भगवान विष्णु के समान नहीं कहागया है।

प्रारंभ ही से अवतार के सिद्धांत की बड़ी लचर व्याख्या कीगयी है। इस कारण, पुराणों में कपिल, दत्तात्रेय और व्यास जैसे महर्षियों को भगवान विष्णु का अवतार मानागया है। जिन मनीषियों ने धर्म के अभ्युत्थान के लिए काम किया उनको अपने-अपने क्षेत्रों में इसी आधार पर प्रायः आंशिकरूप से दिव्यशक्तिधारी स्वीकार कर लियागया है। अवतारवाद के सिद्धांत की एक बड़ी विशेषता यह है कि उससे भक्त का चित्त आराध्य देवता के साकार रूप की ओर आकर्षित होता है और इस तत्त्वदर्शन का उस हिंदूविचारधारा से कोई संघर्ष भी उपस्थित नहीं होता है जिसमें ब्रह्म को निराकार ठहराया गया है और उसको नेति, नेति कहकर पुकारा गया है। हिंदुओं का यही भावगम्य निर्गुण ब्रह्म मानवरूप धारण करके सगुण होजाता है, और इस प्रकार हिंदू दार्शनिक विचारधारा के गूढ़ रहस्य और साकार भगवान की हृदयग्राही भक्ति की लोकप्रिय अभियाचना के बीच अवतार का सिद्धांत सहज ही में एक सुंदर सेतु का काम करता है।

पुराणों और महाभारत के फिर-से लिखेजाने के कारण सामान्य हिंदू जनता का बड़ा उपकार हुआ और उसके हाथ अनायास विशद धार्मिक साहित्य का एक अक्षय्य भंडार आगया। इतना ही नहीं, इस धार्मिक साहित्य के उदधि-मंथन से उसे पुनीत भगवद्गीता रूपी अमृतघट मिला जो जिज्ञासुओं के लिए तत्त्वदर्शन का सर्वकालीन अद्वितीय ग्रंथ है। महाभारत के युद्धपर्व में गीता का संदर्भ मिलता है जो कृष्ण और अर्जुन के बीच संलाप की शैली में लेखनीबद्ध कियागया है। इसमें विशुद्ध तत्त्व गागर में सागर की भांति भरा हुआ है और वह महाभारत का अविकृत सारभूत अंग है। रूडोल्फ ओटो ने "मूल गीता" की खोज की चेष्टा की थी। अंत में वह इसके संबंध में इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि "गीता का जो प्रांजल रूप इस समय हमारे सामने विद्यमान है वह सब-का-सब कभी बाद में चलकर महाभारत ग्रंथ में किसी क्षेपक की भांति नहीं जोड़ दियागया है : सचमुच ही मूलगीता इस महाकाव्य का एक मौलिक अंग था और कृष्ण के श्रीमुख से प्रकट हुआ था। बाद में इसका कलेवर बढ़ा गया और तब इसमें जिस सामग्री का समावेश कियागया वह वैयक्तिक सिद्धांतों के पिष्टपेषण से प्राप्त हुई!" गीता में फिर उपनिषदों के सिद्धांतों को स्थान मिला। इस प्रकार धार्मिक दृष्टि से वह सर्वांगपूर्ण होगया है। इसमें भक्ति, ज्ञान और कर्म की त्रिवेणी बहरही है। यह परम विख्यात धार्मिक ग्रंथ अपने वर्तमान रूप में केवल पांचवीं शताब्दी में हमारे सामने आया।

हिंदूधर्म के सैद्धांतिक पुनर्गठन में गीता का कितना महत्त्व है इसको कम नहीं आंका जासकता है। इस गुटिका को कंठस्थ करने से उपनिषदों के तत्त्व-रसनिधि का आस्वादन किया जासकता है। इसमें उपनिषदों के सिद्धांतों को कूट-कूटकर भरागया है। उनकी स्पष्टतम

शब्दों में अभिव्यंजना की गयी है। जब से गीता की रचना हुई है तब से और किसी हिंदू धार्मिक ग्रंथ का हिंदू विचारधारा पर उसके समान प्रभाव नहीं पड़ा है। इसका प्रमाण यह कि आठवीं शताब्दी में आद्यशंकराचार्य ने अपने अद्वैतमत के प्रतिपादन के लिए इसके प्रमाण का आश्रय लिया और इसका भाष्य लिखा। इतना ही नहीं, जगद्गुरु शंकर के अनुयायियों को भी अपने सिद्धांतों के प्रतिपादन के लिए उन्हीं की तरह गीता का सहारा लेना पड़ा। अलबरूनी के समय तक गीता का प्रमाण अनिर्वाच्य और अकाट्य मानाजाने लगा था, क्योंकि इस मुसलमान लेखक ने जगह-जगह गीता के अवतरण ही नहीं दिये हैं प्रत्युत ब्रह्म के विषय में हिंदू अभिमत का विश्लेषण करने के समय उसने मुख्यतः कृष्ण के प्रवचनों पर ही भरोसा किया है। गीता के माहात्म्य का इससे बड़ा प्रमाण और क्या होसकता है कि, भारत के विभिन्न भागों में प्रत्येक युग में इसके भाष्यों की भरमार बनीरही है। अब भी इस पर प्रतिवर्ष प्रचुर साहित्य प्रकाशित होता है जो इस ग्रंथ की आधुनिक व्याख्या के रूप में प्रस्तुत कियाजाता है। *

इस समय हिंदूधर्म का पुनर्गठन करते समय लोकभावना का पूर्ण समादर कियागया। किंतु पुनर्गठन की कुंजी ब्राह्मणों के हाथ में थी जिनकी धर्म के विषय में शास्त्रोक्त पद्धतियों में अविचल आस्था थी। अतएव वे मीमांसा के महान सिद्धांतों का पृष्ठपोषण करने में कभी नहीं चूके। यही कारण है कि इस युग के साहित्य में वैदिक कर्मकांड का शंखनाद सुनायी देगा। इसमें संदेह नहीं कि सावरसूत्र और उनपर जैमिनीय भाष्य गुप्तकालीन पुनर्लेखन से पहले लिखेगये, किंतु इस धार्मिक विचारधारा का प्रादुर्भाव छठी शताब्दी के अंत में प्रभाकर ही के मंच पर पदार्पण करने से होता है। इस विचारधारा के एक दूसरे उन्नायक का नाम कुमारिल था जो संभवतः सातवीं शताब्दी के धार्मिक गगन में चमक रहे थे। प्रभाकर और कुमारिल दोनों का इस विषय में मतैक्य है कि मीमांसा दार्शनिक प्रणाली में विचार-शैली की व्याख्या कीगयी है, विचारों का अन्वेषण नहीं। यह दार्शनिक प्रणाली सत्यज्ञान की खोज का प्रयास न करके व्याख्या के नियमों और उपादेयता का निरूपण करती है। धर्म के क्षेत्र में इसमें केवल शास्त्रोक्त विधियों का डंका बजरहा है। मीमांसक ईश्वरोक्त वेदों के जगत में निवास करता है और शास्त्रविहित संस्कारों को विधि-विधानपूर्वक संपन्न करना ही उसका एकमात्र ध्येय है। यही कारण है कि जैमिनी ऋषि पर अनीश्वरवादी होने का आरोप लगायागया था जिसका कुमारिल ने जैमिनी का पक्ष लेते हुए प्रबल विरोध किया है। किंतु जब हम कुमारिल के सैद्धांतिक विश्लेषण पर विचार करते हैं तब भी हम इसी निचोड़ पर पहुंचते हैं कि यदि वैदिक कर्मकांड का पूर्णरूपेण परिपालन कियाजाए तो सर्वसिद्धि स्वयं प्राप्त होजाती है और किसी दिव्यशक्ति पर अवलंबित होने की आवश्यकता नहीं।

* आधुनिक काल में गीता के जो भाष्य प्रकाशित हुए हैं उनमें भारत की राष्ट्रीयता के जनक तिलक, पांडुचेरी के संत अरविंद, राष्ट्रपिता महात्मा गांधी और श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य उल्लेखनीय हैं।

मीमांसा-सिद्धांत के प्रवर्तक प्रभाकर और कुमारिल थे। इन दोनों आचार्यों के नेतृत्व में सातवीं और आठवीं शताब्दी में इस सिद्धांत का हिंदूमत पर गहरा प्रभाव पड़ा। वास्तव में मीमांसक सिद्धांत का आविर्भाव पौराणिक धर्म के विरोधस्वरूप हुआ था। तात्त्विक दृष्टि से उपनिषदों और बौद्धमत—दोनों की विचारधाराओं का इससे मेल नहीं बैठता। इसमें ईश्वर के किसी स्वरूप की कल्पना नहीं कीगयी है, जिसका भक्ति अथवा योग मार्ग से साक्षात्कार किया जासके। इतना ही नहीं, बुद्ध के उदानों और प्रवचनों से इसका गहरा मतभेद है। अंत में स्वनामधन्य आद्यशंकराचार्य ने, जो अद्वैतमत के प्रवर्त्तक थे, इस मीमांसा तत्त्वदर्शन की अनुर्वरा भूमि को बढ़ाकर भारतराष्ट्र भर पर छाजने से रोक लिया। उनके अजेय प्रयास ने इसे भारत का राष्ट्रीय धर्म न होने दिया, प्रत्युत इसके स्थान में स्वयं उन्होंने हिंदूधर्म को दार्शनिक सिद्धांतों की एक अक्षय्य निधि भेंट की जो इस्लाम और ईसाई संप्रदायों के भयावह प्रहारों से भी विनष्ट नहीं की जासकी।

शंकर का उदयकाल साधारणतः आठवीं शताब्दी निश्चित कियागया है। प्रातःस्मरणीय शंकर का जन्म केरल के कालडी नामक गांव के नामपुडिरी ब्राह्मण परिवार में हुआ था। केरल दक्षिण भारत के पच्छिमी घाट पर स्थित है। अपनी शिक्षा-दीक्षा समाप्त करने के बाद, शंकर उत्तरी भारत में पधारे और उन्होंने जगह-जगह अपने अद्वैतमत की व्याख्या की। उन्होंने घोषणा की कि अद्वैत वेदांत का सिद्धांत प्राचीन उपनिषदों में, विशेषकर बादरायण के ब्रह्मसूत्र में, बीजरूप से विद्यमान है। उन्होंने फिर भगवद्गीता का भाष्य लिखकर अपने उपर्युक्त मत का विशदरूप से प्रतिपादन कर दिखाया और बताया कि गीता के उपदेशों में अद्वैतवाद का तत्त्व अंतर्भूत है। उपनिषदों का विशुद्ध तत्त्वदर्शन और धार्मिक सत्यता के उच्च कल्पना से अनुप्राणित धार्मिक विश्वासों की मंजूषा लेकर शंकर ने अपने समकालीन धर्माचार्यों—मीमांसा-शास्त्रियों और बौद्धाचार्यों—को शास्त्रार्थ के लिए ललकारा। मंडनमिश्र उस समय वैदिक-कर्मकांडीय विचारधारा के दिग्गज विद्वान थे। शंकर की उनसे टक्कर होने की कहानी भारतीय परंपरा में बड़ी ही प्रसिद्ध है। मीमांसकों ने शंकर पर सीधा यह आरोप लगाया कि वह प्रच्छन्न बौद्ध हैं। जब हम उनके इस आरोप की छानबीन करते हैं तब उसमें इस आधार पर सत्य का अंश मिलता है कि बौद्धों की भांति वह भी उन शुष्क और बेतुके शास्त्रीय विधि विधानों या कर्मकांडों के विरुद्ध थे जिनकी पीठ पर वैदिक सत्ता का हाथ होने का दावा कियाजाता था और जिन्होंने धकापेल द्वारा धर्म का स्थान ग्रहण करलिया था। बौद्ध मतावलंबी भी उन्हें अपना कट्टर विरोधी मानते थे। यह ठीक है कि उनके प्रभाव के कारण ही भारत से बौद्ध विचारधारा का लोप होगया।

यह उचित ही है कि जिस महान आंदोलन ने हिंदूमत में उदार दार्शनिक भावनाओं का समावेश किया और उस ब्रह्म की परिकल्पना की सृष्टि की जो आगे चलकर सभी संप्रदायों की उच्चतम विचारधाराओं के लिए ग्राह्य बन गयी, उसकी जन्मभूमि बनने का सौभाग्य दक्षिण भारत को मिला है। बहुत प्राचीन काल ही से, दक्षिण भारत में ईश्वर की उपासना पर बल दिया जातारहा है। इस भूमि पर भक्ति और ज्ञान दोनों की धाराएं बहती रही हैं

तब भी भगवान शिव और विष्णु दोनों की उपासना कीजाती थी। उस समय तमिलों का शैवमत एक आध्यात्मिक सिद्धांत था। इस संप्रदाय के साहित्य के प्रति तीसरी और सातवीं शताब्दियों के बीच में बड़ी ही श्रद्धा प्रकट कीजाने लगी। इसे आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रमाणों का स्रोत मानाजाने लगा। तमिल शैवों का सबसे प्रमुख ग्रंथ तिरुवाचकम (अर्थात् मणिक्क वाचकर का पवित्र ग्रंथ) कहा जासकता है। किंतु भारत के धार्मिक क्षेत्र में इसके महत्त्व को अभी तक पूर्णतया स्वीकार नहीं कियागया है। यद्यपि इसमें भक्तिरस की निर्मल धारा बहरही है फिर भी इसमें जो तत्त्वनिरूपण हुआ है उसमें हिंदू दर्शन के सनातन सिद्धांतों की हूबहू झलक देखी जासकती है।

अलवर-संतों का वैष्णव आंदोलन इसीका समकालीन था। वह भी भक्ति-प्रधान था। नलयीराम अथवा चतुःसहस्र में संतों की भावातिरेक बानी का संग्रह है। वह तमिल वैष्णवों का कंठहार बनगया है। यह उनका पूजनीय धार्मिक ग्रंथ है जो आचार-विचारों का मार्गदर्शन करता है। वास्तव में दक्षिण के धर्म-मंच पर जब शंकर ने पदार्पण किया तब वहां आध्यात्मिक और दार्शनिक विचारों की तूती बोलरही थी। दक्षिण के इस वातावरण का, शंकर के मानसिक विकास पर, प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। प्रत्यक्ष है कि उन्होंने भावमग्न होकर शिव, विष्णु और देवी के जो भक्तिरसपूर्ण स्तोत्र लिखे हैं उनसे सिद्ध होता है कि यह अद्वैत ब्रह्म का तत्त्वदर्शी, धार्मिक क्षेत्र में, भक्ति-भावना के अजस्र प्रवाह में गहरी डुबकी लगाना जानता था और मानव जीवन में उसके माहात्म्य को खूब पहचानता था।

शंकराचार्य कोई कोरे तत्त्वचिंतक न थे। उनके काम की इतिश्री केवल इतने ही से नहीं होगयी थी कि उन्होंने प्राचीन हिंदू सिद्धांतों और परंपराओं को नयी खराद पर चढ़ा कर हिंदूधर्म के लिए एक विस्तृत पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। वह व्यवहारतः एक सफल सुधारक भी थे। उन्होंने जगद्धात्री देवी की उपासना में से वे सभी अवांछनीय बातें निकाल डालीं जो तांत्रिकों के ऊटपटांग आचरणों के कारण उसमें घुसआयी थीं और जिन्होंने उसका रूप बिगाड़ दिया था। उन्होंने देवी की पूजा को 'समयाचार' का रूप दिया। वह समयाचार-उपासना के प्रवर्तक मानेजाते हैं। उन्होंने परमकल्याणमयी जगन्माता की स्तुति में सौंदर्य-लहिरी स्तोत्र भी लिखा है जिससे भक्ति का प्रवाह उमड़ा पड़रहा है। यह उनकी परम विख्यात कृति है। यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि वाममार्गी भी सौंदर्यलहिरी का पाठ करते हैं और उसकी अपने सिद्धांतों के अनुकूल व्याख्या करलेते हैं।

शंकराचार्य में संगठन करने की अद्भुत प्रतिभा थी। भारत में चार विशाल मठों की स्थापना उनकी इस क्षमता की ओर इंगित कररही है। उन्होंने उत्तर दिशा में दुर्गम हिमालय के अंचल में बदरी में, पूरब में पुरी में, पच्छिमी तट पर जामनगर से कुछ दूर द्वारिका में और दक्खिन में शृंगेरी में मठों की स्थापना की। इन मठों के धर्माध्यक्ष पदेन शंकराचार्य हुआ करते हैं जिनका उद्देश्य अद्वैतमत के सिद्धांतों को अविकृत और उपनिषदों की विचारधारा को समुन्नत बनाये रखना होता है। इसे मानने से इनकार नहीं किया जासकता कि इन मठों और इनकी आनुषंगिक संस्थाओं ने, जिनके धार्मिक गुरु भी कभी-कभी शंकराचार्य

की उपाधि से विभूषित किये जाते हैं, हिंदू जनता पर शंकर की विचारधारा के प्रभाव को अक्षुण्ण रखने में भारी मदद की है।

इन धार्मिक केंद्रों की स्थापना के साथ ही, शंकर ने कुछ अखाड़ों की भी व्यवस्था की। दसनामी (दस अखाड़े के) सन्यासी लोग अपना आध्यात्मिक गुरु शंकर को मानते हैं। यदि शंकर का आंदोलन सफलता प्राप्त करना चाहता था तो उसके लिए प्रशिक्षित धर्मप्रचारकों की आवश्यकता थी जो शंकर के उपदेशों को दूर-दूर तक पहुंचा सकते। भारत में चलफिर-कर धर्मप्रचार करने की प्रणाली बहुत प्राचीन है और द्वार-द्वार जाकर लोगों को जगानेवाले साधुओं की यहां कभी कमी नहीं रही है। फिरभी सन्यासियों के अखाड़ों को मठों के अंतर्गत संगठित रूप में कभी नहीं रखागया। जैनमत और बौद्धमत में इस प्रकार की व्यवस्था अवश्य रही है, जिसे इस दिशा में अपवाद माना जासकता है। हिंदूधर्म में जो भी साधु होते थे वे व्यक्तिगतरूप से गुरुओं के चेले होते थे। किंतु अब शंकर ने उनका संगठन किया और उनके नियमित अखाड़ों की नींव डाली। उनका नियमित संघटन स्थापित किया। यहां यह कहना अत्युक्ति न होगी कि इस सुधार के कारण ही शांकर मत देश भर में बिजली की तेजी से फैलगया। मंदिरों के अंतर्गत जो विद्यापीठ अथवा पाठशालाएं काम करती थीं उनका हाथ इस नयी विचारधारा के सिद्धांतों के प्रसार में बहुत दूर तक है और इस विषय पर पहले ही पर्याप्त प्रकाश डाला जाचुका है। इन विद्यालयों में निःशुल्क शिक्षा दीजाती थी जिस पर धर्म का चटकीला रंग चढ़ा होता था और जो शिलालेख हमें उपलब्ध हैं उनसे विदित होता है कि इनमें बौद्ध विचारधारा के पठन-पाठन का पूरीतरह बहिष्कार कियागया था। यद्यपि नालंदा और अन्य बौद्ध विश्वविद्यालयों में हिंदूविचारपद्धति का चिंतन मनन करने की छूट थी फिरभी हिंदूमंदिरों के विद्यालयों ने अपना संकीर्ण दृष्टि-कोण बनालिया था और अपने पाठ्यक्रम में उन सिद्धांतों के अध्ययन को कोई स्थान नहीं दिया था। जिन्होंने एक लंबे अर्से तक भारत पर अपना सिक्का जमायेरखा था। कहना न होगा कि हिंदूमत के पुनर्गठन में इन विद्यालयों ने बहुत ठोस काम किया।

बौद्धमत ने भारत की कोख से जन्म लिया, किंतु यह इतिहास की एक आश्चर्यजनक घटना है कि वह अपने मूलस्थान ही से विलुप्त होगया। यूरोपीय विचारकों के लिए यह प्रश्न एक पहेली बनगया है जिसका उत्तर देने में वे असमर्थ प्रतीत होते हैं। इसमें लेश-मात्र संदेह नहीं कि नवीं शताब्दी में बौद्धमत धार्मिक दृष्टि से भारत में प्रभावशून्य होगया था। इसका अभिप्राय यह नहीं कि लोग बौद्धमत का नाम ही भूलगये थे। नालंदा विश्व-विद्यालय जैसे एकांतीय विद्यापीठों में दार्शनिक विचारधारा के रूप में उसका पठन-पाठन अब भी होता था और भविष्य में काफी आगे तक होता रहा; किंतु नवीं शताब्दी के आरंभ ही में वह सर्वसाधारण के बीच से उठ गया और लोकधर्म नहीं रहा। वास्तव में, बौद्धमत का अधःपतन सातवीं शताब्दी के प्रथम चरण ही में आरंभ होगया था और चीनी पर्यटक युवान-च्वांग ने अनेक महत्त्वपूर्ण बौद्धकेंद्रों पर अपनी आंखों से उसकी छीछालेदर होते देखी थी। लेकिन जिस मत ने भारतीय विचारों पर तेरह शताब्दियों से भी अधिक समय तक अपना

अधिकार स्थापित रखा वह यहां से कैसे विलुप्त होगया! इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। इसका कारण यही जानपड़ता है कि ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों हिंदूमत और बौद्धमत के बीच की खाई कम चौड़ी होती गयी, यहां तक कि आगे चलकर उनमें अंतर बताना कठिन होगया। जिन लोगों ने शंकर पर प्रच्छन्न बौद्ध होने का दोषारोपण किया था वे किसी सीमा तक ठीक ही थे। अद्वैतवाद में माध्यमिक विचारधारा की गूंज ही सुनायी नहीं देती है अपितु शंकर ने स्वयं मीमांसकों के सिद्धांतों का खंडन करके बौद्ध जनसामान्य और हिंदूधर्म के बीच खड़ी दीवार को हटा दिया। शंकर की दिग्विजय का यही गौरव है कि पुरी के जगन्नाथजी के मंदिर की भांति बौद्ध विहार भी हिंदू मंदिर बनगये और जनसाधारण ने हिंदू धर्म का आलिंगन करलिया जिसका परिणाम यह हुआ कि विहारों के लिए अनुयायी मिलना अधिकाधिक दुष्कर होगया। बौद्धमत के प्रकांड इतिहासकार इलियट ने लिखा है: "सामान्य बौद्ध और साधारण हिंदू के बीच में जो विभाजन की रेखा थी वह धीरे धीरे मिटचली। इन दोनों की विचारधाराओं में क्या भेद था वह तो विहारों में विद्याध्ययन करनेवालों की दृष्टि में भले ही आता था। किंतु इन विहारों में भरती होने के लिए बौद्धमतानुयायी ही कम मिलने लगे थे...इस पर बुरा यह कि अब इन विहारों में जिस सिद्धांत की दीक्षा दीजाती थी वह स्वयं गौतम के मूल उपदेशों से कहीं अधिक हिंदूधर्म के निकट था। जब विरोध करनेवाली भावना का अभाव होजाता है और युगप्रणीत विचारों को अपनाने की लचर भावना का अभ्युदय होता है तब इतिहास करवट बदलने लगता है: यही बात यहां देखने को मिलती है। इसी प्रकार की परिस्थिति ने भारत के बौद्धमत की कमर तोड़ दी जिससे यहां उसका अपना व्यक्तित्व काफ़ूर होगया और पृथक अस्तित्व की कहानी इतिहास के पन्नों पर लिखी रहगयी।"

संक्षेप में, यह कहा जासकता है कि दसवीं शताब्दी के अंत तक हिंदूधर्म का भारत पर सर्वसामान्य प्रभुत्व छागया था। उसके लोकप्रिय सिद्धांतों को फिर से संग्रहीत कियागया। उस में उच्चकोटि की दार्शनिक धारा बह उठी जिसके निर्मल जल से उच्च वर्ग की बौद्धिक पिपासा शांत होउठी। किंबहुना, स्वयं बौद्धमत उसके विराट्-रूप में समागया। काश्मीर की कुंकुमकारियों से लेकर कन्याकुमारी अंतरीप तक भगवान शिव, विष्णु और देवी की पूजा होने लगी। फिर इधर हिंदू दर्शन की पृष्ठभूमि में बिना ननु-नच परमात्मा, जीवात्मा, माया और अवतार के मुख्य सिद्धांत आकर प्रतिष्ठित होगये और उधर हिंदूसमाज वर्णव्यवस्था और धर्मशास्त्रों के आधार पर संगठित होकर खड़ा होगया।

अध्याय १२

मुस्लिम संपर्क से पहले का भारत

जिस एक अन्यतम महत्त्वपूर्ण स्थिति पर इतिहासकारों की दृष्टि नहीं पड़ी है वह यह है कि पांच सौ वर्षों से भी अधिक अर्थात् तोरमन से लेकर महमूद गजनवी के समय तक भारत बाहरी आक्रमण के भय से मुक्त रहा। इस समय सिंध पर बगदाद के खलीफाओं का प्रभुत्व अवश्य स्थापित था। केवल इस दुर्गम मरुस्थली प्रदेश को छोड़कर शेष भारत विदेशी पराधीनता से बचाहुआ था। यदि हम संसार के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम हो जाएगा कि पृथ्वी का कोई भी भाग इतने दीर्घकाल तक आक्रमण के खतरे से निरंतर अछूता कभी नहीं रहा है। उत्तर-पच्छिमी क्षेत्रों और बहुधा गंगा की घाटी में कुषाण, शक और हूण, अतीत में, जो विनाशलीला करते रहे थे, उसके घावों की टीस को इस दीर्घकालिक शांति के कारण सर्वसाधारण पूर्णतः भूलगये थे। इतना ही नहीं, लोगों के मन में यह भ्रांति उत्पन्न होगयी थी कि उनके देशपर कभी आक्रमण स्वप्न में भी नहीं होसकता है। देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए जनता में जागरूकता की भावना निरंतर रहना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, सार्वजनिक जागरूकता राष्ट्रीय स्वतंत्रता की चौकीदार होती है। किंतु इस दीर्घकालीन तंद्रा में पड़कर उसकी चेतना विलुप्त सी हो गयी। जनता के हृदय में उस देशभक्ति का स्रोत सूख गया और उस राष्ट्रीय गौरव की भावना मिट गयी जो केवल बाहरी संकट की छाया में पनपती है। विष्णुपुराण के रचयिता ने भारतवर्ष का गौरव-गान किया है, क्योंकि तब भारत की रक्षा का प्रश्न उपस्थित था और उसके लिए प्राणपण से युद्ध करना अभीष्ट था। किंतु बाण के पश्चात् जो समय आया उसमें यह क्षेत्र भावशून्य होगया, यहांतक कि इस विषय पर व्यापक रूप से साहित्य-सृजन भी बंद होगया। यदि कभी-कभी वीररसपूर्ण उद्गार सुनने में आते थे तो वे क्षेत्रीय ही होते थे। अब देवता का आह्वान या अर्जुन-शिव का युद्ध-जैसे रोमहर्षक प्रसंग केवल इतिहास की युद्ध-कहानी होगये थे।

बाहरी खतरे की अनुपस्थिति का एक अन्य दुष्परिणाम यह हुआ कि भारतीय लोगों में अभिमान की भावना पराकाष्ठा पर पहुंच गयी। अलबरूनी की दृष्टि बड़ी ही पैनी थी। उसने भारतीय स्थिति का गंभीर अध्ययन करके लिखा है : "हिंदुओं का विश्वास है कि उनके देश के समान कोई दूसरा देश नहीं, उनके राष्ट्र के समान कोई दूसरा राष्ट्र नहीं, उनके राजा के समान कोई दूसरा राजा नहीं, उनके धर्म के समान कोई दूसरा धर्म नहीं"...उसने आगे लिखा है कि "यदि वे दूसरे देशों में जाएं और अन्य राष्ट्रों के लोगों को देखें तो उनका यह ख्याल

जल्द बदल जाएगा, क्योंकि उनके पूर्वज इतने ओछे विचारों के नहीं थे जितने ये वर्तमान पीढ़ियों के लोग हैं।" और फिर अलबरूनी ने वाराहमिहिर के शब्दों को उद्धृत किया है जिनका आशय यह है कि यद्यपि यवन अपवित्र होते हैं फिरभी उनका आदर करना चाहिए। वाराहमिहिर ने यह बात तक लिखी थी जब विदेशियों से भारत को खतरा था। किंतु इन पांच शताब्दियों की निष्कंटक शांति ने उस भावना को चौपट कर दिया। अलबरूनी ने भारतीय विद्वानों के उस रुख को भी लेखनीबद्ध किया है जिसके अनुसार वे दूसरों के साथ विज्ञान और साहित्य की चर्चा नहीं करते थे। यह बात निश्चित है कि जब युवान-च्वांग, ई-त्सिंग और अन्य सहस्रों विद्वान भारत घूमने आये थे और उनका जगह-जगह हार्दिक स्वागत कियागया था तबसे अब इस ग्यारहवीं शताब्दी तक यहां जमाने का रंग बहुत बदलचुका था। सातवीं शताब्दी में भारत आनेवाले किसी विदेशी का तिरस्कार नहीं कियागया और न तब किसी चीनी छात्र के मुंह से यह बात सुनने में आयी कि भारतीय विद्वानों में किसी तरह का अक्खड़पन होता है।

अलबरूनी ने एक और चुटकी ली है जो ध्यान देने लायक है। उसका कहना है कि "हिंदू यह नहीं चाहते थे कि जो चीज अपवित्र होगयी है उसे शुद्ध कर लियाजाए और फिर अपना लियाजाए।" यदि हम इस स्थिति पर ध्यान दें तो हमें ज्ञात होजाएगा कि हूण-काल से अब जमाना बहुत बदलाहुआ था। स्पष्ट है कि उस समय हूण भी हिंदुओं में परिवर्तित होजाते थे और यूनानियों को भी हिंदुओं में मिला लियागया था। हेलिओदोरस नामक एक यूनानी का विष्णुभक्त होना तो इतिहास में प्रसिद्ध ही है। जानपड़ता है कि इस काल में हिंदूधर्म की पाचनशक्ति बिगड़ गयी। इसने उसकी नींव को खोखला कर दिया। विदेशों से संपर्क टूटने के कारण उसमें कमजोरी घुसआयी और उसका ढांचा लड़खड़ाने लगा। फिर यही कमजोरी हिंदूधर्म के दमकते हुए कंचन पर सीसे का पतरा बनकर मढ़गयी और उसके वास्तविक स्वरूप को दुनिया की आंखों से ओझल करदिया।

हमारे देश पर संकट नहीं आसकता, क्योंकि ईश्वर की यही मर्जी है! किसी देश के लिए इस भावना से बढ़कर खतरनाक चीज और क्या हो सकती है? कोई भी विदेशी हमारे देश तक नहीं पहुंच सकता, क्योंकि हमारी यह धारणा है! इससे बढ़कर और क्या आत्मघातक बात हो सकती है? सुरक्षा की इस प्रकार की भ्रांतिपूर्ण भावना के कारण राष्ट्रीय स्वाभिमान के उद्वेग में न्यूनता आजाना अवश्यंभावी है। इसके अतिरिक्त, कठोर अनुशासन की जगह शिथिलता का दौरदौरा होजाता है; जनता के हृदय में परंपरागत उपयोगी निधि की रक्षा के लिए कंधे से कंधा मिलाकर खड़े होने की इच्छा नहीं रहती; और लोकसंग्रहकारी विचारों को तिलांजलि देकर लोग अपने-अपने भौतिक स्वार्थों के पीछे पड़जाते हैं। हूण और महमूद गजनवी के मध्यवर्ती काल में भारत में चारों ओर इसी प्रकार की मनोवृत्ति पायीजाती थी।

यह बताना भी यहां अप्रासंगिक न होगा कि इस काल में भारत का शेष संसार से संपर्क टूटचुका था। वह अपने परकोटे में बंद अलग पड़ाहुआ था। मध्येशिया में राजनीतिक

उथलपुथल के कारण चीन और भारत के बीच का मार्ग अब चालू नहीं था। शैलेंद्रवंशी राजाओं का मलक्का पर एकाधिपत्य होने के कारण उधर के समुद्री मार्गों पर उनका नियंत्रण था। समुद्र पर उनकी तूती बोलरही थी और चीन-भारत गमनागमन अब उनकी सदाशयता पर निर्भर था। इस प्रकार भारत शेष संसार से तीन सौ वर्षों तक अलग पड़ा रहा। दुनिया के इतिहास में ऐसा और कोई देश नहीं जो पहले अन्य देशों के संपर्क में आगया हो और फिर बाद में इतने दीर्घकाल तक पड़ोसियों से बिछुड़ा रहा हो।

भारत एक पिटारे में बंद-सा होगया। उसके विचार एक परकोटे में घिरगये। उनका संपर्क शेष संसार से टूटगया। भारतीयों को अब यह ज्ञात नहीं था कि बाकी दुनिया मे क्या होरहा है। सारांश यह, कि भारतीय जनता का विकास ही रुकगया था। सभ्यता की अवनति होने लगी और विरोधी सभ्यताओं से होड़ की भावना का जल उसकी जड़ में न-पड़ने के कारण उसकी अतीत में लहलहानेवाली बेल अब मुरझाने लगी। भारतीय समाज कुंठित होगया और अतीत काल में चातुर्वर्ण्य-जैसी सामाजिक प्रणालियां, जो केवल विशेष विषय को समझाने-बुझाने के लिए सूत्ररूप में ग्रहण कीगयी थीं, और खान-पान के प्रतिबंध ईश्वरोक्त विधान मानलिये गये और उनका परिलंघन बड़ी तत्परता और कठोरता के साथ कियाजाने लगा जिसे देखने का अवसर यदि किसी प्रकार मनु और याज्ञवल्क्य को मिलता तो वे भी दांत तले अंगुली दबाने लगते।

यह अवनति प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगत होती थी। साहित्य में बाण की रचनाओं तक में इस अवनति के प्रमाण हैं। बाद में माघ, हर्ष, आदि परिवर्ती लेखकों की कृतियों में यह अधःपतन बहुत खटकने लगा। इस समय काव्य पांडित्य-प्रदर्शन का साधन बन गया। कवियों की शैली व्यर्थ का वाग्जाल बनगयी थी। कालिदास के काव्य में जो सौष्ठव, भावाभिव्यक्ति, वाग्विदग्धता और कोमलकांतपदावली देखने में आती है उसका स्थान अब कवियों की आत्मप्रवंचना और उनकी भाषा के शाब्दिक व्यायाम ने लेलिया था। इसप्रकार उनकी कविताओं ने चीनी पहेलियों-का-सा छद्मवेश धारण कर लिया। पहेली-बुझौवल और फबतियों का भी बाजार गरम होगया था। नैतिकता का स्तर तो इतना गिरगया था कि व्यावहारिक रूप से आचरणशील कवियों को भी अपनी लेखनी से कामोद्दीपक वर्णन लिखने पड़े। स्थापत्यकला के क्षेत्र की भी यही दुर्गति थी। उत्तर भारत में भुवनेश्वर, खजुराहो और एलोरा के निर्माण में स्थापत्यकला की उन्नति का जो मयार देखने में आया उसने इस क्षेत्र में नयी प्रेरणा को जन्म तो दिया किंतु अब वे दिन लदगये थे। कलाकारों की अभिरुचि अब इस दिशा में पतनोन्मुख जानपड़ती है। प्राचीनकाल के मंदिरों में जिस भावपूर्ण और सजीव मूर्तिकला के दर्शन होते हैं उसके स्थान में अब पत्थरों की छाती पर अनैतिकता मूंग दल उठी। इन पर जो चित्र खोदे गये वे उस काल के उच्चवर्गों के नैतिक ह्रास या रंगरेलियों का ढोल पीटरहे हैं। धर्म में भी इसी अधःपतन की झांकी देखने में आती है। आद्यशंकराचार्य के धार्मिक सुधार ने हिंदू-धर्म में नये जीवन का संचार करदिया था। उन्होंने हिंदू मानस को उच्च कोटि की विचारधारा और हिंदूमत को एक सामान्य दार्शनिक धरातल प्रदान किया था। उन्होंने हिंदूमत को एक चिरस्थायी

दार्शनिक सिद्धांतवल्लरी अवश्य भेंट की अर्थात् उन्होंने उसका सिद्धांतपक्ष विशुद्ध और समुज्ज्वल करदिया, किंतु वह उसके व्यवहारपक्ष में जो दोष प्रविष्ट होगये थे उनको निकाल बाहर करने में असमर्थ रहे। हिंदूधर्म में वाममार्ग की जड़ें गहरी धंस गयी थीं और विक्रमशिला, काश्मीर तथा बंगाल उसके निष्कंटक क्रीडास्थल बनगये थे। हम यहां पर विक्रमशिला की एक घटना का उल्लेख करते हैं जिससे स्पष्ट होजाएगा कि यह घुन हमारे राष्ट्रीय जीवन की परिपोषक शक्ति को कहां तक कुरेद चुका था? विक्रमशिला विश्वविद्यालय में एक उपरोहित विद्याध्ययन कररहा था। किंतु उसके पास से मदिरा भरी एक बोतल बरामद हुई। जब उससे पूछा गया कि बोतल कहां से आयी(?) तब उत्तर मिला कि एक सन्यासिनी उसकी सहेली है जिससे वह मिलने जाया करता है और उसी ने यह बोतल दी है। इस बयान पर विश्वविद्यालय के प्राधिकारियों ने उसके विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाई करनी चाही, किंतु इस विषय पर मतभेद होने के कारण उनके बीच दो दल पैदा होगये जिनमें भारी तू-तू, मैं-मैं हुई।

वास्तव में, यह गुह्यसमाज का युग था। यह बौद्ध तांत्रिकों का एक अत्यंत पवित्र ग्रंथ कहलाता है। इस आश्चर्यजनक पुस्तक में बुद्ध अप्सराओं के साथ निरंतर केलि-क्रीडा में तल्लीन दिखायेगये हैं। इस पुस्तक में विनय की मर्यादा की धज्जियां जानबूझकर उड़ायी-गयी हैं। यह तांत्रिकों का पवित्र धार्मिक ग्रंथ है। उनकी पूजा में कोई भी वस्तु वर्जित नहीं—मांस, मदिरा और सुंदरी, सभी उपभोग्य हैं। नरमेध तक की छूट दीगयी है। एक जगह तो यह भी संकेत मिलता है कि पूजा में नर-मांस भी जुटायाजाता और बाद में महा-प्रसाद के रूप में उसे बांट दियाजाता था। मदिरा के साथ मानवरक्त भी घूंट भर-भर कर पियाजाता था।

शंकराचार्य की एक अपूर्व सफलता यह थी कि उन्होंने चारों दिशाओं में चार विशाल मठ स्थापित किये। इस प्रतिभासंपन्न सुधारक ने सन्यासियों के अखाड़े भी बनाये। ये दसनामी अर्थात् दस-अखाड़ों के सन्यासी-लोग अपना आविर्भाव आद्य शंकराचार्य से मानते हैं। इन दोनों सुधारों का ध्येय बहुत सुंदर था। चारों मठों के अधिष्ठाता के पद पर धर्म के पारंगत विद्वानों को आसीन करना था जो सनातनधर्म की देखभाल करते रहें। सन्यासियों का प्रयोजन घर-घर सनातनधर्म का संदेश पहुंचाना था। कुछ समय तक इस महान सन्यासी की वाणी से ये दोनों संगठन प्रेरणा पाते और गूंजते रहे। किंतु बाद में, विशेषतः बौद्धमत का लोप होजाने से, ये मठ ईसाइयों के मठों की भांति ही विलासता के स्थल बनगये और उनके अध्यक्ष-पदों पर आसीन शंकराचार्यों ने पोप-की-सी तड़कभड़क अपनाली। छोटे-छोटे मठों के महंतों का कहना ही क्या था! उनकी उच्छृंखलता का खाका क्षेमेंद्र ने नर्ममाला में खूब उड़ाया है। उनके आचरण पर हंसी नहीं, तरस आता है। सन्यासी तो समाज के गले में चक्की का पाट बनगये। उनकी गिनती दिन-पर-दिन बढ़ती गयी। दंतकथाओं ने उनको ऊंचा उठादिया और जनसाधारण भक्तिपूर्वक उनके चरणों की धूल लेने लेगे। अधिकांश साधुओं को रंगरेलियों का जीवन भाता था। इसका अभिप्राय यह नहीं कि इन सन्यासियो में साधुत्व का

बीजनाश होगया था या इनमें सच्चे महात्माओं का दर्शन पाना दुर्लभ होगया था। तब भी उनमें सच्चे, साधु पुरुष दिखायी देते थे और बाद में भी उनके दर्शन होते रहे हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि उनमें अधिकांश निकम्मे थे जो गेरुआ वस्त्रों की ओट में, काहिली में, अपना जीवन बिताना पसंद करते थे।

इसी अवधि में देवदासी प्रथा का प्रचलन हुआ जिससे पता चलता है कि हिंदूधर्म किस गर्त में जापड़ा था। तथ्य यह है कि जहां एक ओर हिंदूधर्म में उच्चतम धार्मिक कल्पनाओं की श्रेष्ठता देखने में आती है वहां दूसरी ओर उसकी गोद में सदा ही विचित्र तांत्रिक क्रियायें और अनुष्ठान सिर छिपाये रहे हैं। ये चीजें बौद्धकाल में थीं और शंकराचार्य के जमाने में भी देखने को मिलती थीं। पाशुपत, कापालिक, आदि सभी पंथों के मठ बनेहुए थे। सभी अपने-अपने पंथ के कट्टर उपासक थे। इन लोगों की पूजा-अर्चना की विधियों पर समाज ने न तो कभी अंगुली ही उठायी और न उनकी प्रामाणिकता की खोजबीन करने का सिर-दर्द ही कभी मोल लिया। सभी पंथ अपनी-अपनी डापुली और अपने-अपने राग बजाने में समानरूप से मस्त रहे।

मंदिरों में व्यभिचार बढ़ने का आचार-विचार पर भीषण दुष्प्रभाव पड़ा। अत्यंत लब्धप्रतिष्ठ और सदाचारी व्यक्तियों ने समयमात्रक और कुट्टिनीमतम् जैसी पुस्तकें लिखीं जिनमें वेश्याओं के कुत्सित जीवन का वर्णन और उस समय के नैतिक पतन का नंगा चित्र अंकित कियागया है। क्षेमेंद्र की समयमात्रक पुस्तक को एक वारांगना की सैरा कहानी कहाजा-सकता है। संभवतः क्षेमेंद्र अपने समय का सबसे बड़ा लेखक था जिसकी रचनाएं नीति-उपदेश से भरी पड़ी हैं। उसने रामायण, बृहत्कथा, आदि के लोकप्रिय संक्षिप्त संस्करण तैयार किये। उसके चतुर्मुखी ज्ञान ने समयमात्रक की नायिका का विविध रूपों में चरित्र-चित्रण किया है जो समाज के लगभग सभी क्षेत्रों में अपने हथकंडे दिखाती है। वेश्या, एक सरदार की पत्नी, गलियों में घूमनेवाली आवारा, कुट्टिनी, छद्मवेशी साधुनी, युवकों को बिगाड़नेवाली व्यभिचारिणी और मंदिरों में प्रायः दर्शन करनेवाली भगतानी के रूपों में वह सामने आती है। इसके माध्यम से जो चित्र उपस्थित कियागया है उससे जानपड़ता है कि तत्कालीन समाज की अधोगति होगयी थी और उसकी पुनीत नैतिक भावना खोगयी थी। इस चित्र को कोरा काल्पनिक मानकर उसकी उपेक्षा नहीं की जासकती। कुट्टिनीमतम् से इस चरित्र-चित्रण की अंतर्भूत वास्तविकता का साक्ष्य मिलता है। इसके लेखक दामोदरगुप्त थे जो काश्मीर के राजाओं के एक मंत्री के पद को सुशोभित करते थे। कुट्टिनीमतम् एक सुंदर पद्य-रचना है। उस समय के तांत्रिक साहित्य में और अनेक मंदिरों की मूर्तिकला में इस युग की निंद्य मनोवृत्ति की एक धुंधली झलक अवश्य मिलती है। इब्नबतूता ने बड़ी सावधानी से यह अभिमत व्यक्त किया है कि भारत में वेश्यावृत्ति को निंदनीय नहीं समझते हैं।

दूसरे शब्दों में, सामाजिक जीवन मूर्तिवत् होगया था। उच्च वर्गों में वैधव्य का परिपालन बलात् करायाजाता था। इस समय हमें राजश्री की भांति विधवा राजकुमारियां सार्वजनिक शास्त्रार्थ में भाग लेते सुनायी नहीं देती हैं। इसके विपरीत, आठवीं और नवीं शताब्दी के

साहित्य में विधवाओं के प्रति लोकमत में कठोरता और उदासीनता बढ़ती प्रतीत होती है। निःसंदेह यहां यह उल्लेखनीय है कि जाट किसानों जैसे लोगों में विधवाओं के पुनर्विवाह की रूढ़ि प्रचलित थी, परंतु अपेक्षाकृत अधिक कट्टर सनातनियों और उच्चवर्गवालों में विधवा-विवाह को वर्जित मानाजाता था।

उस समय देश में भीषण आर्थिक विषमता दृष्टिगत होती थी। हम इस आशा का साक्ष्य पहले ही देचुके हैं कि वस्तुपाल और तेजपाल बंधुओं ने दो अरब रुपये दान में दिये थे, आबू में संगमरमर का मंदिर बनवानेवाले विमलशाह के पास प्रचुर धनराशि थी और पूरबी द्वीपपुंज के साथ व्यापार करनेवाले मणिग्रामम निगम की संपत्ति का कूतना संभव नहीं। किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं कि देश से दरिद्रनारायण विदा होगये थे। साधारण देहाती गरीब था। हां, उसकी अकिंचनता आज की तुलना में कदाचित् कम थी, क्योंकि उस समय भूमि पर इतनी अधिक जनसंख्या निर्भर नहीं थी। प्रायः धनवानों की संपत्ति दान में व्यय होती थी, किंतु यह न भूलना चाहिए कि उस समय दान का क्षेत्र सीमित होगया था। सेठ लोग अपना पैसा प्रायः मंदिर बनवाने, और तीर्थस्थलों की सजावट पर लगाते थे या फिर धार्मिक संस्थाओं की सहायता के हेतु उनकी निधि में देदेते थे।

इस दानशीलता का एक उल्लेखनीय सत्परिणाम यह निकला कि देश में अस्पतालों की स्थापना हुई जिनमें औषधियों का प्रचुर भंडार रहता था और सुयोग्य चिकित्सक और उपचारिकाएं काम करती थीं। बोधिसत्वावदान कल्पलता में इस प्रकार के अस्पताल (चिकित्सालय) का मनोरम वर्णन कियागया है। राजा पुण्यबल ने प्रत्येक नगरी में अस्पताल बनवाया और उनमें प्रशिक्षित उपचारिकाओं को रखने की ओर विशेष ध्यान दिया। इस बारे में उपर्युक्त ग्रंथकार ने लिखा है : "क्या रोगी के उपचार में उपचारिकाओं का स्थान पहले नंबर पर नहीं? ऐसी उपचारिका दुर्लभ है जो डाक्टर के आदेशों को प्रेम और आज्ञानुकारिता की भावना से ग्रहण करे तथा उनके परिपालन में योग्यता और धैर्य का परिचय दे।" लेखक ने उपचारिकाओं के प्रति राजा के मुख से यह कहलाया है : "मैंने अस्पतालों में सुयोग्य डाक्टरों को नियुक्त किया और उनमें औषधियों का संग्रह कराया है। अब यह आप पर निर्भर है कि उचित औषधियों का प्रयोग करके रोगियों का स्वास्थ्य ठीक करें, उन्हें यथेष्ट आहार देकर उनको सशक्त बनाएं और जब उनका चित्त ऊबरहा हो तब उनसे मजेदार बातें करके उनका मन बहलाएं।"

क्षेमेंद्र ने नर्ममाला और देशोपदेश में समाज का चित्रांकन किया है वह बड़ा ही लुभावना है। उसने तत्कालीन दफ्तरशाही की किताब खोलकर रखदी है। उस समय की सरकार का जो सांगोपांग विवरण क्षेमेंद्र की लेखनी से मिलता है वह बहुत ही मूल्यवान है क्योंकि अन्य सूत्र इस प्रकार की सूचना देने के बारे में एकदम मौन हैं। नर्ममाला में उस समय की दफ्तरशाही का व्यंग्यात्मक खाका खींचागया है। उससे पता चलता है कि तब अधिकारीवर्ग की आधारभूत सोपान ग्रामीण दिविर था जिसे हम आजकल पटवारी कहते हैं। अष्ठान दिविरां अर्थात् न्यायालय के लिपिकों का भी वर्णन कियागया है। दिविर के ऊपर

का अधिकारी नियोगी कहलाता था जिसका काम जिलों का अधीक्षण करना, खातों की जांच करना, और प्रायः शासन की देखभाल रखना था। नियोगियों के दौरों और देहातियों के लिए उनसे उत्पन्न होनेवाले कष्टों का वर्णन बड़ी सावधानी से मार्मिक शब्दों में कियागया है जो आज भी उतना ही यथार्थ प्रतीत होता है जितना क्षेमेंद्र के अपने समय में रहा होगा। इन जिलाधीशों (नियोगियों) के ऊपर परिपालक (या राज्यपाल) होते थे जो वित्ताधीक्षकों की सहायता से अपना काम करते थे। परिपालकों के हाथ में विस्तृत अधिकार होता था और इसलिए वे प्रशासन की एक बड़ी महत्त्वपूर्ण कड़ी थे। उनका प्रांत के संपूर्ण प्रशासन पर नियंत्रण था। परिपालक का मुख्य सहायक लेखोपाध्याय कहलाता था जिसके पास संपूर्ण सरकारी कागज-पत्र रहते थे और उसीपर आदेश जारी करने का दायित्व होता था। गणदिविर अर्थात् वित्ताधीक्षक भी प्रांतीय अधिकारी समझे जाते थे। निःसंदेह सरकारी पदाधिकारियों के शीर्ष पर मंत्रालय और केंद्रीय सचिवालय का आसन था। दफ्तरशाही की नकेल इन्हीं के हाथ में होती थी।

क्षेमेंद्र का जन्म काश्मीर के प्रधानमंत्री नगेंद्र के घराने में हुआ था और अपने जीवन-काल (९९०-१०६५) में उसका उस देश के सर्वोच्च अधिकारी से संसर्ग रहा। इसलिए क्षेमेंद्र का वर्णन विशेष महत्त्वपूर्ण है और उससे सिद्ध होता है कि राज्य में एक नियमित दफ्तरशाही व्यवस्थित थी। इस अधिकारीवर्ग में किसी भी कर्मचारी की पदोन्नति का आधार उसकी योग्यता और कार्यक्षमता होती थी। वास्तव में क्षेमेंद्र ने उन पद्धतियों पर प्रकाश डाला है जिनसे अधिकारी बढ़ते-बढ़ते ऊंचे पदों पर पहुंच जाते थे। इस अधिकारीवर्ग के होने का प्रमाण अन्य सूत्रों से भी मिलता है। विष्णुधर्मशास्त्र में एक सरकारी अभिलेख के वर्णन के प्रसंग में कहागया है कि यह सरकारी कार्यालय में एक कायस्थ (एक लिपिक अधिकारी) द्वारा लिखाजाना और फिर कार्यालय के अधीक्षक द्वारा साक्षीकृत होना चाहिए।

यहां अधिकारी के लिए कायस्थ शब्द का प्रयोग लक्षणात्मक है। यद्यपि क्षेमेंद्र की रचनाओं और राजतरंगिणी में कायस्थ का अभिप्राय नौकरशाही से है, फिरभी ग्यारहवीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग अधिकारी-जन के लिए होता था। उदाहरण के लिए, राजतरंगिणी में शिवरथ ब्राह्मण को कायस्थ बतायागया है। आठवीं शताब्दी के मध्यकाल से इस आशय के अनेक शिलालेख मिलते हैं जिनमें अधिकारियों के लिए कायस्थ शब्द का प्रयोग कियागया है।

अधिकारीवर्ग के लिए लोगों की भरती ब्राह्मणों और उन शूद्रों में से कीजाती थी जिनके यहां परंपरा से पढ़ाईलिखाई होती आरही थी। शूद्रों में पढ़ेलिखे लोगों की समाज में प्रतिष्ठा बढ़जाना स्वाभाविक बात थी। जिन क्षेत्रों में बौद्धमत का प्रभाव अधिक फैलचुका था उनमें तीन उच्चवर्णों के अतिरिक्त अन्य अनेक जातियां पैदा होगयी थीं जिनका सामाजिक स्तर प्रत्यक्षतः ऊंचा उठने लगा था। यद्यपि न्यायालयों के उच्च अधिकारी, प्रांतों के राज्यपाल और विचारपति तथा दंडाधीश ब्राह्मण और उच्चवर्गवाले लोग होते थे फिरभी भारत में कम-से-कम मौर्यकाल से नौकरशाही का आधार ये पढ़ेलिखे शूद्र होचले थे।

भारत में दफ्तरशाही प्राचीनकाल से स्थापित थी। इसलिए उसके स्वरूपों और सिद्धांतों की रचना होना एक स्वाभाविक चीज थी। भारत-जैसे देश में, जहां बाल की खाल खींचने की प्रवृत्ति सदा ही विद्यमान रही है, दफ्तरशाही का सांगोपांग विकास होना कोई आश्चर्य की बात नहीं। पहली शताब्दी के हाथीगुंफ के शिलालेख से हमें ज्ञात होता है कि खारवेल को पत्र-लेखन का प्रशिक्षण दियागया था। वास्तव में, संस्कृत में सरकारी पत्र-लेखन की एक प्रामाणिक पद्धति थी, जिसे लेखपद्धति कहते थे। यह हमें अब भी देखने को मिलती है और इससे पताचलता है कि प्राचीन भारत की दफ्तरशाही किस विशद कोटि की पत्र-लेखन प्रणालियों का प्रयोग करती थी। गुजरात के राजाओं में विभिन्न प्रकार की ५४ लेख-पद्धतियों का प्रयोग होता था। शुक्रनीति राजनीति की एक परिवर्ती कृति है, और उसका सारांश एक सचिव की मंत्रणाओं की पुस्तक के रूप में ग्रहण किया जासकता है।

भारत के सभी राज्यों का संगठन अर्द्धसैनिक था। उनके पास विशाल सेना रहती थी किंतु वह अयोग्य होती थी। महत्त्वपूर्ण स्थानों और नाकों की गढ़बंदी कीजाती थी। उनकी यातायात-व्यवस्था समय की प्रगति को देखते हुए ठीक थी। पहले जमाने से जैसी रीति चलआयी थी उसीके अनुसार वे अपने-अपने प्रदेशों में अन्न के भंडार संचित रखते थे। जो राजे दिग्विजय या शत्रुओं को जीतने में दिलचस्पी लेते थे उनके पास वास्तव में दृढ़ सैनिक शक्ति होती थी अन्यथा शेष राजाओं की सेनाएं तो कोरे नाम के लिए जानपड़ती हैं। जब राजा अपनी अधिराट-सत्ता स्थापित करने के लिए दूसरे से युद्ध करता था और जीतजाता था तब वह पराजित राजा का राज्य अपने राज्य की सीमा में नहीं मिलाता था और उसे कदाचित् ही सिंहासनच्युत करता था।

दसवीं शताब्दी के अंत में, जब पहली बार भारत की टक्कर संगठित इस्लाम राज्य से हुई तब उसकी सामान्य स्थिति का चित्र इन शब्दों में सामान्यतः अंकित किया जासकता है : उस समय हिंदुओं का सामाजिक ढांचा मजबूत था। वस्तुतः उसका पुनर्गठन हुए अभी बहुत दिन नहीं बीते थे और वह किसी भी बाहरी प्रहार और दबाव को सहन करने में सक्षम था। बौद्धमत को अपने उदर में धीरे धीरे पचालेने के कारण हिंदूधर्म में नयी शक्ति और स्फूर्ति आगयी थी। उसमें ईश्वर की पूजा और उपासना की लोकप्रिय पद्धतियों का समावेश होने से जहां एक ओर सर्वसाधारण की धार्मिक भावनाओं की संतोषजनक रीति से तृप्ति होने लगी थी वहां दूसरी ओर उच्च कोटि की दार्शनिक पृष्ठभूमि में अपेक्षाकृत अधिक उन्नत बौद्धिक मानस को भी उतनी ही प्रश्रयता सुलभ होगयी थी। सबसे बड़ी बात यह कि अब सब संप्रदायों का संगठन एक धर्म के अंतर्गत होगया था। इन पांच शताब्दियों में शांति का निष्कंटक राज्य रहा, जिससे देश में धन-धान्य का संचय दिन-पर-दिन बढ़ता गया। देश के व्यापार और उपनिवेश-प्रसार में भी वृद्धि हुई। इन सब कारणों से भारतीयों का आर्थिक जीवन समृद्धिशाली बनगया। इसके विपरीत, हम देखते हैं कि इस काल में भारतीयों का राजनीतिक ढांचा दुर्बल होगया था। भारत क्या है?—जनता के हृदय में इसकी भावना मिटचुकी थी। जब भारत पर विदेशियों के आक्रमण होरहे थे तब भारतवर्ष के एक देश होने का जो उत्कृष्ट

आदर्श जनता के मानसपटल पर अंकित होगया था उसका निशान अब ढूंढ़ने से भी नहीं मिलता था। देशभक्ति का स्रोत सूख चुका था और विदेशियों का प्रतिरोध करने के लिए संगठित होकर एक होजाने का विचार लोगों के मन में उठता तक न था। "कोई नृप होहि हमें का हानी" की लोकोक्ति अक्षरशः चरितार्थ होरही थी। राज्यों के राजनीतिक ढांचे को भ्रष्टाचारपूर्ण दफ्तरशाही का घुन लगगया था। यदि जब कभी थोड़ीबहुत एकता देखने में आती थी तो वह वंशगत आधार भले ही टिकजाती थी, अन्यथा राष्ट्र को एक धागे में पिरोनेवाली भावनाओं और सिद्धांतों की हवा तक छूकर नहीं निकलती थी। इसलिए जब भारत पर महमूद गजनवी के आक्रमणों का पहला वज्रपात हुआ तब तक यह राजनीतिका ढांचा स्वयं भीतर से प्रायः खोखला होचुका था। उसमें इस तूफानी आघात का सामना करने की यथेष्ट शक्ति ही न थी। किंतु दक्षिण भारत की दशा इससे कुछ भिन्न थी, क्योंकि वहां के राजतंत्रों में राष्ट्रीय भावना प्रारंभ ही से जीवित चली आरही थी और वहां के राज्य जनता का प्रतिनिधित्व करते थे। जनता को अपने-अपने राज्यों पर अभिमान था। जैसाकि पहले कहा जाचुका है कि चोलों, पांड्यों और प्राचीन पल्लवों के राष्ट्रीय राजतंत्र थे। जनता उन पर मर-मिटने को उद्यत रहती थी। उन्हें जनता की राजनिष्ठा पर भरोसा था और जनता राजा की आज्ञानुकारिता में तत्पर रहती थी। ये बातें उत्तर भारत के परिवर्ती जर्जर साम्राज्यों में दुर्लभ होगयी थीं जो जनता की सच्ची राजभक्ति से वंचित और उससे आज्ञापालन करवाने में असमर्थ थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस भारतीय प्रदेश पर विदेशी आक्रमणकारियों की ललचायी आंखें पड़रही थीं उसमें राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रतिरक्षात्मक संघर्ष करने की क्षमता पहले ही से निःशेष होचुकी थी।

अध्याय १३

इस्लाम और भारत

केवल पचास वर्षों के अल्पकाल (६७० ई. में ईरान पर विजय—७११ ई. में स्पेन पर विजय) में अरब लोगों ने उस समय तक सुपरिचित दुनिया के आधे भाग को जीतकर अपनी जिस दुर्दम्य शक्ति का परिचय दिया वह संसार के इतिहास की एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण कहानी है। हजरत मुहम्मद के मक्का से मदीना को पलायन करने के ठीक नब्बे वर्ष बाद, ७११ ई. में, इस्लाम का विशाल साम्राज्य चीन के सीमांत से लेकर अतलांतक महासागर के तट तक फैलाहुआ था। संसार की इस अभूतपूर्व सैनिक शक्ति की मुट्ठी में जो प्रदेश आगया था वह उस समय के रोम-साम्राज्य से भी कहीं बड़ा था जबकि वह अपनी सत्ता की पराकाष्ठा पर पहुंचचुका था। इस विस्तृत इस्लाम साम्राज्य की राजधानी बनने का सौभाग्य बगदाद को मिला था। इस बगदाद की प्रचंड सैनिक शक्ति ने केवल ईरान के साम्राज्य ही को धूल में नहीं मिलादिया अपितु उसने एक झपट्टा मारकर अफरीका का उत्तरी भाग भी छीन लिया और उसे इस्लाम साम्राज्य की सीमा में मिलालिया। उसके आगे स्पेन ने घुटने टेक दिये और वह फिर खलीफा के शस्त्रास्त्रों से लैस होकर फ्रांस तक की छाती पर चढ़ दौड़ी। इस भयंकर समय में विजयोन्मत्त इस्लाम के आक्रमण को रोकने में एक ही देश सफल होसका और वह था भारत। जब इस्लाम की सैनिक शक्ति तूफान की भांति, जो भी उसके मार्ग में आया उसे, उखाड़कर फेंकती हुई, चारों ओर बढ़ रही थी तब उसका जोर एकाएक भारत की दृढ़ चट्टान से टकराकर रुक गया। सन् ७१२ ई. में, मुहम्मदबीन कासिम ने भारतीय भूमि पर धावा बोलकर सिंध में खलीफा का झंडा गाड़दिया था। यहां के छोटे-छोटे स्थानीय राजाओं को हराकर उसने उनका मरुस्थली राज्य छीन लिया और उस तमाम प्रदेश को खलीफा के साम्राज्य में मिलादिया और उसे इस्लाम का एक सैनिक अड्डा बनालिया। फिर धीरे धीरे मुसलमानी शक्ति मुलतान तक फैलगयी जो उस समय व्यापार और उद्योग का एक विशाल केंद्र था। बस, यह शक्ति यहां ही रुकी रही।

अपना पांव जमाने के लिए इस्लाम को भारत में एक काफी लंबा-चौड़ा अग्रवर्ती अड्डा मिलगया था। समुद्र पर उसकी धाक पहले ही से छायी हुई थी जिसे कोई भी चुनौती देने का दुःसाहस नहीं करसकता था। इसके अतिरिक्त, इस समय खलीफाओं की शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुंचचुकी थी और उनका इतना आंतक फैलाहुआ था कि उनके नाम से दुनिया कांप उठती थी। फिरभी इस्लाम इन परिस्थितियों से लाभ उठाने में असमर्थ रहा, इसका क्या कारण है? यहां इस प्रश्न पर विचार करना अभीष्ट है। अभी तक यह

कहा जातारहा है कि इस्लाम की शक्ति ने आगे बढ़ने की इच्छा नहीं की। किंतु इस धारणा को स्वीकार नहीं किया जासकता है। हम जानते हैं कि सिंध के राज्यपाल ने अपने प्रदेश का विस्तार बढ़ाने का अनवरत प्रयत्न किया था। सबको विदित है कि ७२५ ई. में जुनैद ने, जो बीन कासिम के बाद सिंध का राज्यपाल होकर आया था, भड़ौंच, गुजरात और मालवा को जीतने के प्रयास में एड़ी-चोटी का पसीना एक करदिया था। यद्यपि उसके इस अभियान को कुछ प्रारंभिक सफलता अवश्य मिली थी, किंतु अंत में उसे मुंह की खानी पड़ी और उसका दुःस्वप्न भंग होगया। सन् ७३१ ई. में जुनैद के उत्तराधिकारी तमिन ने दक्षिण पर हमला करने की ठानी क्योंकि मालवा में घुसना नितांत कठिन होगया था। उसने विजय की लालसा से दक्षिण में एक विशाल वाहिनी लाकर उतार दी किंतु ७३८ ई. में उसकी पुलिकेशिन चालुक्य से नवसारी के रणक्षेत्र में जो सीधी टक्कर हुई उसमें वह सेना छिन्नभिन्न होगयी। किंतु उपर्युक्त पराजयों से खलीफाओं की साम्राज्यीय सत्ता को कोई धक्का नहीं पहुंचा और न उनसे किसी प्रकार उनका साहस भंग हुआ। जब उनकी सेनाएं उज्जैन तक जा धमकीं तब भारत को जीतने की दिशा में एक नया और अधिक शक्तिशाली प्रयास किया गया। किंतु यह प्रयास भी उनके लिए मृगमरीचिका सिद्ध हुआ। यहां वीर गुर्जर-नरेश नागभट से उन्हें लोहा लेना पड़ा जिसने, जैसाकि पहले कहाजाचुका है, उनके मैदान में बुरी तरह पछाड़ा जिससे आक्रांता को लाचार होकर पीछे हटना पड़ा। रणकुशल नागभट के समकालीन कवि बालादित्य ने उसके शौर्य की प्रशंसा करते हुए लिखा है : "उसने उन म्लेच्छों की बलिष्ठ सेनाओं को कुचलकर रखदिया। जो वैदिक कर्मों के जन्मजात शत्रु थे।"

इस विजय ने भारत को २७५ वर्षों से भी अधिक काल के लिए सुरक्षित करदिया। यद्यपि खलीफाओं की शक्ति अपनी उन्नति के शिखर पर थी फिर भी उपर्युक्त पराजय के बाद इस्लाम के सैनिकों ने उस समय भी भारत को जीतने का और आगे प्रयास नहीं किया। किंतु सिंध के राज्यपाल इमरानबीन मूसा ने ८८३ ई. में कच्छ जीतना चाहा। यहां उसे मिहिरभोज के हाथों मुंह की खानी पड़ी। वास्तव में, नागभट की विजय के कारण मुसलमान आक्रमणकारी बहुत लंबे समय तक भारत की ओर आंख उठाकर देखने का हौसला नहीं कर सके। दूसरे शब्दों में, जबतक उत्तर-पश्चिमी सीमांत पर फिर नयी परिस्थितियां पैदा नहीं हो गयीं तबतक इस्लाम का खतरा कोसों दूर ही बनारहा।

निरंतर तीन शताब्दियों तक शांति उपभोग करने के कारण, गुर्जर देश के लोग भी इस्लाम का खतरा भूल गये। नवीं और दसवीं शताब्दियों में उत्तर भारत के हिंदू राजाओं में आपसी फूट ने घर करलिया। वे आपस ही में जूझने लगे और आंखें ऊंची करके यह भी देखने में असमर्थ रहे कि उधर दूर भारत पर इस्लामी आक्रमण की काली घटाएं छारही हैं। बाहर से देखने में कन्नौज के गुर्जर-सम्राटों के शासन काल में प्रजा खूब फलफूल रही थी। उनसे निकलकर गुर्जरदेश का शासन धार के परमारों के हाथ आगया जिनमें अपनी उदारता और गुणग्राहकता के कारण प्रजापालक भोज की ख्याति अमर होगयी है। भोज प्रतिभाशाली नरेश था। दुर्भाग्यवश उसके साम्राज्य का मूल-प्रदेश भारत के बीच में था और उसकी प्रादेशिक

सीमाएं मालवा के आसपास फैली हुई थीं। अतएव इस हिंदू राजा की दृष्टि पहले से उस खतरे की ओर नहीं पहुंच सकी जो दूर उत्तर-पश्चिमी सीमांत पर प्रकट होरहा था और उस प्रदेश में भारत की ओर कोई भी ऐसी शक्ति नहीं थी जो समय आने पर महमूद गजनवी की सेनाओं के सामने खड़ी हो सकती—किंवा उसको ईंट का जवाब पत्थर से दे सकती।

जिस क्षेत्र का नाम आजकल अफगानिस्तान है वह दीर्घकाल तक खलीफाओं के साम्राज्य का एक बाहरी प्रांत बनारहा था। किंतु खलीफा लोग इस पर विशेष ध्यान नहीं देते थे। यही कारण है कि बगदाद में खलीफा की शक्ति विनष्ट होने पर खुरासान के राज्यपाल अब्दुल मलिक के एक अधिकारी सबक्तजीन* ने केंद्र की सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करके इस प्रदेश को एक स्वायत्तशाली राज्य बना लिया और उसकी राजधानी गजनी में शासनसूत्र का संचालन स्वयं करने लगा। सन् ९७७ ई. में जब सबक्तजीन ने शासन की बागडोर अपने हाथ में लेली तब गजनी एक संगठित और महत्त्वपूर्ण शक्ति बनगयी। उसी समय आधुनिक अफगानिस्तान के एक भाग पर एक ब्राह्मणवंश का राज्य था जो शाहीवंश के नाम से इतिहास में विख्यात है। शताब्दियों तक यह राज्य सीमान्त पर फलताफूलता रहा और इस समय तो इसके प्रदेश का विस्तार बहुतकुछ पंजाब तक में था। सबक्तजीन की आकांक्षा यह थी कि समस्त अफगानिस्तान पर उसका शासन स्थापित होजाए। उसके इस मार्ग में हिंदू शाह जयपाल सबसे बड़ा रोड़ा था। यही कारण है कि नये गजनी राज्य का जयपाल से संग्राम छिड़गया जिसने कुछ समय तक गजनी के शासक का अनिच्छापूर्वक प्रतिरोध अवश्य किया, किंतु बाद में परिस्थितिवश उसकी प्रभुता को स्वीकार करलिया।

भारत के इतिहास में एकबार झंझानिल फिर आया और सीमांत पर अंधकार छागया। जबतक अफगान प्रदेश असंगठित और दुर्बल रहता है, भारत पर किसी आक्रमण की बात सोचना व्यर्थ है। लेकिन जब कोई बड़ी शक्ति अफगानिस्तान पर अपना नियंत्रण करलेती है तब पंजाब के लिए केवल भय ही उत्पन्न नहीं होजाता है अपितु उसकी ओर राजनीतिक दबाव पड़ना अनिवार्य है। भारत का इतिहास इस आशय के उदाहरणों से भरा पड़ा है। जब ईरान के प्रतापी सम्राटों का अधिकार काबुल पर था तब पंजाब भी ईरानी साम्राज्य का एक प्रदेश होगया था। सिकंदर ने स्वतंत्र भारतीय भूमि पर नहीं, प्रत्युत इसी ईरान के साम्राज्यवर्ती भारतीय प्रांत पर आक्रमण किया था। इसके बाद जब कुषाणों ने इस अफगान क्षेत्र पर अपनी सत्ता स्थापित करली थी और खीव और बुखारा की शस्य-संपन्न भूमि उनके हाथ में थी तब पंजाब भी उनके अधिकार में चलागया था। यही बात हूणों के अल्पकालीन राजतंत्र के बारे में कही जासकती है। सबक्तजीन और उससे कहीं अधिक महमूद के अंतर्गत जो कुछ हुआ वह भी इसी कहानी की पुनरावृत्ति करता है। भारत के इस महत्त्वपूर्ण सीमांतीय क्षेत्र की बगल में खुरासान और मध्येशिया के कुछ प्रदेशों पर एक सशक्त

* प्रायः इतिहास-ग्रंथों में सबक्तजीन को सुबक्तगीन लिखागया है।

सैनिक राज्य स्थापित होगया था, और यदि इस दशा में भारतीय पार्श्व भी इसी तरह से भलीभांति संगठित नहीं हुआ था तो फिर पंजाब का भाग्य तो अंधकार में डूबा समझना चाहिए था।

सीमांत के उधर का परिवर्तन होगया है, इस ओर भारत की आंखे मुंदीहुई थीं। भूगोल ने भारत का शेष दुनिया से संपर्क काटकर उसे जो एक पिटारे में बंद कररखा है, इसकारण यहां के शासक यह नहीं सोच सकते थे कि इस महाद्वीप में क्या होरहा है या अंतर्राष्ट्रीय रंगमंच किन हलचलों से गूंज रहा है? अतीत में उसे इस दिशा में अनेक बार चेतावनी मिलचुकी थी। खलीफाओं द्वारा भारत जीतने के विफल प्रयत्नों को खतरे की घंटी मानलेना चाहिए था! किंतु भारतीय राजाओं ने इन आक्रमणों को जिस सुगमता से शत्रु की पराजयों में परिणत कर दिया और इस के बाद २५० वर्षों से भी अधिक काल तक भारतीय जनता जो चैन की बंसी बजाती रही उनके कारण वह सीमांत पर अब समुत्पन्न खतरे को या तो भूलगयी या उसकी उपेक्षा कर बैठी या उसकी भयंकरता को कूतने में असमर्थ रही।

मुसलमानों से अपनी पहली लड़ाई के बाद शाहीवंश के राजा जयपाल ने ताड़ लिया कि उसके राजवंश और हिंदूधर्म पर संकट की काली घटाएं मंडरारही हैं। उसने अपने समीप के अधिक शक्तिशाली राजाओं के सहयोग से एक सैनिक संघटन बनाया जिसमें अजमेर के चौहानों (चाहमानों) और कन्नौज के शासकों ने भाग लिया। उसने स्वय एक सेना का संगठन किया और ९९१ ई. में इस खतरे का मुकाबला करने के लिए धावा बोल दिया। इस सेना ने उसकी अपनी कमान में कूच किया। किंतु उसके भाग्य में पराजय बदी थी। मैदान जयपाल के हाथ से निकल गया। इस युद्ध में उसकी सैनिक शक्ति चूरचूर होगयी। पेशावर पर सबक्तजीन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी सुलतान महमूद का अधिकार होगया जो इस्लाम के इतिहास का एक विख्यात पुरुष है। महमूद बड़ा ही बुद्धिमान शासक था और अपनी प्रजा के साथ सदा ही न्याय करता था। विज्ञान और कला के इस महान आश्रयदाता की ख्याति सभी इस्लामी देशों में दूर-दूर तक फैलगयी थी। वह कट्टरपंथी इस्लाम का अधिनायक था। वह सच्चा मुसलमान था। वह इस्लामी बादशाहत का नमूना था। उसे अपने बाप से एक सैनिक राज्य प्राप्तहुआ था जिसके पास प्रशिक्षण-प्राप्त शक्तिशाली सेना थी जो अफगानिस्तान की दुर्गम पर्वतीय भूमि और खुरासान के मरुस्थल की कठिनाइयां झेलने की अभ्यस्त थी। उसके हाथ में पेशावर पहुंचते ही पंजाब के मैदान का द्वार उसके लिए खुलगया। महमूद ने मूलतः भारत को लूटने-खसोटने की नीयत से चढ़ाइयां कीं; और ज्यों-ज्यों उसको इन चढ़ाइयों में सफलता मिलती गयी त्यों-त्यों हिंदुस्तान के राज्यों और मंदिरों की संचित संपत्ति को बटोर लेजाने के लिए उसकी भूख बढ़ती गयी। उसने पंजाब को रौंद डाला और उसे अपने साम्राज्य में मिलालिया। पंजाब अब उसका अग्रवर्ती सैनिक अड्डा बनगया जहां से वह भारत में भीतर और दूर तक घुसने में समर्थ होसका। हिंदुस्तान की प्रचुर धनराशि लूटने और मूर्तिपूजकों के देवालयों को

ढाहने के लिए व्याकुल महमूद और उसकी धर्मोन्मत्त सेना पूरब में गंगा की घाटी में भीतर तक और दक्खिन में अनिहिलापटन और गुजरात में सोमनाथ तक घुसी चलीगयी। धर्म के जोश में आक्रांता पागल होरहे थे। उन्होंने गंगा की घाटी के समृद्धिशाली नगरों को बहुत कुछ उजाड़ दिया। थानेश्वर और राजकीय वैभव से संपन्न कन्नौज को ध्वस्त करदिया। भगवान कृष्ण के मंदिरों की पवित्र नगरी और एक सहस्र वर्षों से भी अधिक काल से चले आरहे अप्रतिम कलात्मक संस्कृति के केंद्र मथुरा को खंडहर बनादिया। तत्कालीन इतिहासकार उतबी ने मथुरा के मंदिरों का जो चित्ताकर्षक वर्णन किया है उसके कुछ अंश को यहां उद्धृत किये बिना नहीं रहा जासकता है :

> "उस स्थान में भारतीय जनता का एक देवालय था; और जब वह उस स्थान पर पहुंचा तब उसने अलौकिक सौंदर्य का एक अनुपम नगर देखा—यह ऐसा जानपड़ता था कि मानों स्वर्ग का एक भवन हो।...उन्होंने असंख्य पत्थर लाकर भूमिपर बिछाये थे और ऊंची कुर्सी लगाकर उस पर नींव खड़ी की थी। इसके और इसके पार्श्वों के चारों ओर उन्होंने पत्थर के एक हजार किले बनाये थे...और नगर के बीच में उन्होंने सबसे ऊंचा एक मंदिर बनाया था जिसके सौंदर्य और ठाटबाट का वर्णन या चित्रांकन करने में समस्त लेखकों की लेखनियां और समस्त चित्रकारों की कूचियां निःशक्त हो जाएंगी...सुलतान (महमूद) ने इस यात्रा के बारे में जो अपना संस्मरण लिखा है उसमें उसने उल्लेख किया है कि यदि कोई इस प्रकार के भवन की रचना करना चाहे तो इस कार्य पर उसे दीनारों की एक लाख थैलियां व्यय करनी होंगी जिनमें प्रत्येक थैली में एक हजार दीनार भरे होने चाहिए, और फिर भी अत्यंत निपुण शिल्पकारों की सहायता से यह निर्माण-कार्य दो सौ वर्षों में समाप्त नहीं हो सकेगा।"

भारत के नगर पर नगर ध्वस्त कर दियेगये। भारत के वे भव्य मंदिर, जिनसे स्थापत्य-कला का सौंदर्य बोल सा रहा था और जिसे देखकर स्वयं सुलतान का मन मुग्ध होगया तथा जिसकी प्रशंसा किये बिना उसका जी नहीं माना था, खंडहरों में परिणत कर दियेगये और आक्रमणकारी वहां से असंख्य द्रव्य लूट लेगये। परंतु, पंजाब को (१०१८ ई. में) अपने साम्राज्य में मिलाने के अतिरिक्त, महमूद ने भारत के किसी अन्य भाग को जीतने की कोशिश नहीं की। उसके हमले केवल विध्वंसकारी थे—नगरों को उजाड़ना और लूटखसोट करना ही उसका काम था। उस समय के हिंदुओं ने उसके इन हमलों को ताऊन की भांति एक दैवी विपत्ति समझा जिसका सामना न करके वे भाग गये। महमूद के आक्रमणों का भारतीय इतिहास पर न बराबर प्रभाव पड़ा। किंतु उन्होंने अब से एक सौ पचास वर्ष बाद भारत पर प्रहार करनेवाले उस मुहम्मद गोरी की महत्त्वाकांक्षा और सफल प्रयत्न के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया जिसने अवसर पाकर महमूद गजनवी के उत्तराधिकारियों को हटाकर उनसे गजनी का राजसिंहासन छीन लिया था।

महमूद गजनवी से हिंदू राजाओं ने जो लोहा लिया उसका वर्णन गजनी राजसभा के चारणों

ने नहीं किया है। किंतु एक बार तो हिंदुओं ने मैदान में डटकर महमूद के दांत ऐसे खट्टे किये थे कि उसे वह मोरचा जीवन भर नहीं भूला और स्वयं तत्कालीन मुसलमान इतिहासकारों ने लिखा है कि उसे विवश होकर शीघ्रता से पीछे हटना पड़ा जिससे मार्ग में उसे भारी क्षति उठानी पड़ी। जनवरी १००६ ई. में, महमूद राजस्थान के विशाल वक्षःस्थल को चीरता हुआ सोमनाथ के मंदिर पर चढ़दौड़ा जो तब काठियावाड़ में हिंदुओं का एक महान तीर्थस्थान था। उसने सोमनाथ के नगर पर आक्रमण किया और उस पर अधिकार करके वहां के मंदिर को लूटलिया किंतु प्रतिष्ठित इतिहासकार का कहना है कि उसे वहां से उलटे पांव लौटना पड़ा।

सुलतान की विरदावली बखाननेवाले इब्न-अल् अतहर ने लिखा है : "उस स्थान से महमूद लौट पड़ा और इसका कारण यह था कि हिंदुओं का राजा परमदेव मार्ग रोककर खड़ा होगया था और अमीर महमूद के मन में आशंका बैठगयी थी कि कहीं इस भारी विजय के रंग में भंग न होजाए। वह सीधे रास्ते से नहीं लौटा किंतु उसने एक पथप्रदर्शक लिया और मुलतान की ओर चलपड़ा। मार्ग में उसके सैनिकों को भारी हानि उठानी पड़ी...मार्ग में मुसलमानी फौज के अनेक जानवर और एक बड़ी संख्या में सिपाही अपनी जान से हाथ धो बैठे...।" काठियावाड़ में जिस हिंदू नरेश ने महमूद को युद्ध के लिए ललकारा था वह धार के परमारवंशी प्रतापी राजा भोज के अतिरिक्त और कौन होसकता था जिसके राज्य की सीमा उस समय काठियावाड़ को छूरही थी। धारनरेश भोज का राज्याभिषेक ९९९ ई. में अर्थात् महमूद के गजनी के तख्त पर बैठने के दो वर्ष बाद हुआ था। एक महान शासक और उससे भी बढ़कर साहित्य और कला के एक महान मर्मज्ञ और आश्रयदाता के रूप में स्वनामधन्य भोज का नाम आज भी भारत भर में बड़ी श्रद्धा और अभिमान के साथ लिया जाता है। वह कितना उच्च लेखक और गुणग्राहक था, उसका यहां वर्णन करना सूर्य को दीपक दिखाना होगा। जब हम शासक के नाते उसकी ओर निहारते हैं तब हमें जानपड़ता है कि उसके समय गुर्जर-साम्राज्य के प्रचंड प्रताप का सूर्य फिर तरुणावस्था पर पहुंचगया था। जब महमूद गंगा की घाटी पर लुटेरे की भांति प्रहार कररहा था तब नृपतिमणि भोज मध्यभारत, गुजरात और काठियावाड़ में अपनी सत्ता को दृढ़ करने में बड़ी तत्परता से संलग्न था। अब सोमनाथ पर चढ़ाई करके महमूद ने मानों इसी महान शासक को चुनौती दी। फिर क्या था, रणकला-विशारद भोज ने काठियावाड़ की ओर कूच करने में विलंब नहीं लगाया और अपनी सेना का व्यूह बनाकर महमूद के पीछे लौटने का मार्ग घेर लिया। गजनी के सुलतान का माथा ठनका : वह निर्जल प्रदेश से होकर सिर-पर-पैर रखकर भाग खड़ा हुआ और इब्न-अल्-अतहर के शब्दों में "आखिरकार भारी परेशानी और मुसीबत झेलने के बाद" वह एक सुरक्षित जगह पर जापहुंचा।

मुस्लिम इतिहासों में भोज और महमूद की सेनाओं का आमना-सामना होने की चर्चा कहीं नहीं कीगयी है। वे इस विषय पर एकदम मौन हैं। किंतु भोज की उदयपुर-प्रशस्ति में लिखा है कि धारनरेश ने तुर्कों को मैदान में पछाड़ दिया। इस बात को कैसे माना जासकता

है कि महमूद ने केवल इसीलिए कि "कहीं इस महान विजय का मजा किरकिरा न पड़ जाए", एक निर्जल मरुस्थल के दुर्गम मार्ग से होकर लौटने का निर्णय किया होगा। बिल्कुल स्पष्ट है कि महमूद इधर से निकलने में असमर्थ होगया था। या तो उसे युद्ध में पराजित कर दिया-गया था या उसका मार्ग रोक दियागया था। बात कुछ भी हो, उसकी यह 'महान विजय' पराजित सैनिकों की एक निंदनीय कायरतापूर्ण भगदड़ में परिणत होगयी थी।

महमूद के उत्तराधिकारियों का अपने भारतीय प्रांत पर अधिकार बना रहा। परंतु यहां यह उल्लेखनीय है कि उसके पुत्र मसूद के समय में जब पंजाब ने मुस्लिम राज्यपालों के शासन में विद्रोह खड़ा करदिया तब वहां शांति और व्यवस्था स्थापित करने का दायित्व तिलक नामक एक हिंदू सेनापति ही को सौंपागया था।

महमूद की मृत्यु से लेकर ११९१ ई. में मुहम्मद गोरी के आक्रमण तक के १६० वर्षों के मध्यवर्ती काल में पंजाब के सिवा शेष भारत मुसलमानों की छेड़छाड़ से बचारहा। सरहिंद में विदेशी शक्ति की स्थापना से जिसके हाथ में पंचनद भूमि चलीगयी थी, गंगा की घाटी को खुले रूप से खतरा पैदा होगया, किंतु जानपड़ता है कि तत्कालीन हिंदू राजाओं के कान पर इससे जूं तक नहीं रेंगी थी। वे आंखें होते हुए भी इस संकट को नहीं देखरहे थे। यह बात नहीं कि उनमें आक्रांताओं का प्रतिरोध करने की शक्ति ही नहीं थी। शत्रुओं की चुनौती स्वीकार करने में सक्षम राज्य यहां स्थापित थे: जयसिंह सिद्धराज ने गुर्जर-साम्राज्य की धाक फिर कायम करली थी जिसके उत्तरी भाग में, जो शाकंभरी (अथवा सांभर) के उधर फैला हुआ था, शक्तिशाली चहमान राजे शासन कररहे थे जिनकी गुर्जर शासकों से मैत्रीसंधि थी। अपने वंश का सबसे पहला राजा विशालदेव चौहान, जिसके बारे में प्रामाणिक अभिलेख हमें उपलब्ध हैं और दिल्ली के लौहस्तंभ पर जिसकी कीर्ति खोदी हुई है, साभर में राज करता था और उसके राज्य की सीमा गजनवी साम्राज्य के पंजाब प्रांत तक चलीगयी थी। उसके पुत्र सोमेश्वर ने सिद्धराज से मैत्रीसंधि करके उत्तर में चौहानों की शक्ति बढ़ाली थी और वह उत्तरी प्रदेशों और दिल्ली के शासकों पर अपना अधकचरा साम्राज्यीय प्रभुत्व मानने लगा था। सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज थे जिनके जीवनकाल में चौहानों की शक्ति अपनी चरमसीमा पर जापहुंची। चौहान-शिरोमणि पृथ्वीराज एक प्रचंड योद्धा और शूरवीर राजा थे। उनकी नसों में वीरता कूट-कूटकर भरी हुई थी। रणक्षेत्र में उनके सिंहपराक्रम को देखकर शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे। किंतु उसमें एक कमी खटकती थी जो यह थी कि शत्रु के विरुद्ध ठीक ढंग से मोरचा संगठित करने की योग्यता उसमें नहीं थी।

अजमेर के चौहान राजा को छोड़कर, उत्तर भारत में दूसरा सबसे अधिक प्रभावशाली राजा जयचंद था जिसकी राजधानी कन्नोज थी। साम्राज्योचित वैभव से जगमगाते नगर का स्वामी और गंगा की घाटी का प्रभुसत्ताधारी महाराजा होने के नाते जयचंद की भारी धाक थी और हिंदुस्तान के राजाओं के मुकुट उसके आगे झुकते रहते थे। उसके पास विशाल सैनिक शक्ति भी थी। कोई भी बाहरी प्रेक्षक यह नहीं कह सकता था कि पंजाब से होनेवाले मुस्लिम आक्रमणों का सामना करने के लिए हिंदुस्तान किसी प्रकार से असंगठित है।

मुहम्मद ग़ोरी ने ११८६ ई. में सबक्तजीन के राजवंश को सिंहासनच्युत कर दिया। इसके बाद उसने पंजाब में फिर से व्यवस्था कायम की और तब ११९१ ई. में उसकी सेना ने भारत की ओर कूच किया। मैदान में उसको पृथ्वीराज की सेना का सामना करना पड़ा। चौहानपति ने मुसलमानी सेना को युद्ध में करारी हार दी और मुहम्मद ग़ोरी अपने प्राण लेकर मैदान से भाग निकला। किंतु उसके दिल में बदले की आग धधकती रही। अगले वर्ष वह पहले से अधिक अच्छी संगठित और अधिक विशाल सेना लेकर पृथ्वीराज पर फिर टूट पड़ा। उसी तराई के रणक्षेत्र में दोनों सेनाओं का फिर आमना-सामना हुआ। किंतु इस बार पांसा ग़ोरी के पक्ष में पलटगया और वीर चौहान को पराजय का शिकार होना पड़ा। हिंदू सेना तितर-बितर होगयी, स्वयं पृथ्वीराज शत्रु के हाथ में पड़गये जिसने उन्हें बंदी बनालिया और मारडाला। राजपूत शासकों का जो संघटन अजमेर के शासक की मदद के लिए आया था वह छिन्नभिन्न होगया। सुलतान ने अजमेर पर अपना अधिकार जमालिया, लेकिन फिर उसने उसको पृथ्वीराज के एक पुत्र को लौटा दिया जिसने सुलतान का आधिपत्य स्वीकार करलिया।

मुसलमानों की इस ऐतिहासिक सफलता के बाद, उनकी गंगा की घाटी की विजय की कहानी कुछ वाक्यों ही में लिखी जासकती है। सुलतान ने भारत से जाते समय कुतुबुद्दीन ऐबक को यहां अपना राज्यपाल नियुक्त करदिया था। उसने दिल्ली पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनालिया। एक स्थानीय राजा ने ९९३ ई. में दिल्ली को बसाया था। लेकिन उस समय यह केवल एक प्रांतीय नगर था। कुतुबुद्दीन ने इसे अपनी राजधानी बनाने का निर्णय किया और फिर भविष्य के लिए यह मुसलमानों की शक्ति का एक केंद्र बनगया। फिर सुलतान ने स्वयं ११९४ ई. में कन्नोज पर चढ़ाई की। इस युद्ध में जयचंद हारगया और कन्नौज पर मुसलमानों का अधिकार होगया। इस विजय ने मेरठ से लेकर वाराणसी तक का विस्तृत उर्वर प्रदेश ग़ोर के सुलतान के चरणों पर लाकर डालदिया। हिंदुस्तान के वक्षःस्थल पर सत्ता स्थापित होजाने के कारण आगे बढ़ना सुगम होगया। फिर क्या था, बख्तियार खिलजी एक छोटी-सी सेना लेकर बिहार पर चढ़दौड़ा और उसे अपने पैरों तले रौंदडाला। उसकी करतूतों में यह भी शामिल था कि उसने नालंदा विश्वविद्यालय को जी भरकर नष्टभ्रष्ट किया और उसके बेजोड़ पुस्तकागार को, जिसमें शताब्दियों के अनवरत परिश्रम से पुस्तकों का संग्रह कियागया था, ११९७ ई. में जलाकर भस्म कर दिया। दो वर्ष बाद, इसी सेनापति ने बंगाल को जीता, जिसका शासक लक्ष्मणसेन तो, जो स्वयं कवि और विख्यात विद्वान था, बख्तियार के आगमन की खबर पाते ही अपने प्राण लेकर भागगया। बुंदेलखंड के चंदेल राजाओं को १२०२ ई. में स्वयं कुतुबुद्दीन ने विनष्ट किया। इस प्रकार पांच वर्षों की अवधि में मुहम्मद ग़ोरी, अपने राज्यपाल कुतुबुद्दीन द्वारा, भारत के एक विस्तृत प्रदेश पर राज करने लगा जिसमें पंजाब, गंगा की घाटी और बंगाल सम्मिलित थे। मुहम्मद १२०६ ई. में इस संसार से चलबसा।

तब राजधानी के तुर्क अमीरों ने कुतुबुद्दीन को सुलतान चुना, जो इतिहास में अनुचितरूप

से विख्यात गुलाम वंश के सुलतानों में सबसे पहला सुलतान था। दिल्ली के कुछ प्रारंभिक सुलतानों का, अमीरों और सेनापतियों द्वारा चुनाव कियागया था। गोर के दरबार में प्रायः उच्च पदों पर सुलतान के गुलाम आसीन थे। इसलिए सुलतान के चुनाव में भी कि कोई-न-कोई गुलाम ही सफलता प्राप्त करलेता था। यह सुलतान प्रायः अपने प्रारंभिक जीवन में गुलाम ही होता था। जब कुतुबुद्दीन अपनी किशोरावस्था में था तब वह गुलाम की भांति खरीदागया था। इस समय भारत में मुसलमानों को जो मुख्य-मुख्य सफलताएं मिली थीं उनके पीछे वस्तुतः कुतुबुद्दीन का हाथ था। इस नये सुलतान ने अपने इस साम्राज्य के संगठन की ओर ध्यान दिया और उसकी नींव मजबूत करनी आरंभ कर दी।

कुतुबुद्दीन के १२१० ई. में परलोक सिधारने और १५२५ ई. में बाबर की दिल्ली पर विजय के मध्यवर्ती काल में दिल्ली के सुलतानों के वंशों का इतिहास पढ़ने में नीरस प्रतीत होता है। इसके पन्ने उत्तराधिकार के युद्धों, सामंतों के और प्रमुखजनों की हत्याओं के खून से रंगेपड़े हैं। इस बीच में कुछ योग्य शासक भी हुए, किंतु उनके बाद प्रायः शासनसूत्र दुर्बल और उच्छृंखल उत्तराधिकारियों के हाथों पड़ता रहा। इस प्रथम और तथाकथित गुलामवंश में दो अत्यंत प्रतिभावान शासक हुए जिनके नाम अल्तमश (१२१०-१२३५ ई.) और बलबन हैं। अल्तमश ने भारत में मुसलमानी राज्य की सीमा उज्जैन तक बढ़ाली और उसने बंगाल के खिलजी मलिकों को भी विनष्ट कर दिया जिन्होंने वस्तुतः दिल्ली की सत्ता कभी स्वीकार नहीं की थी और उसके विरुद्ध निरंतर सिर उठाते रहते थे। उसे सुप्रसिद्ध कुतुबमीनार बनवाने का भी श्रेय प्राप्त है। रजिया बेगम के अद्भुत व्यक्तित्व को छोड़कर अल्तमश के अन्य उत्तराधिकारी निकम्मे सिद्ध हुए। किंतु स्त्री होने के कारण उसे अमीर अपना नेतृत्व समर्पण करने में झेंपते थे। इसलिए तुर्क अमीरों के सामने फिर सुलतान चुनने की समस्या आखड़ी हुई और उन्होंने एक सैनिक बलबन (१२६६ ई.) को सिंहासना पर बैठाया। उसने बंगाल के खिलजियों के विद्रोह को दबा दिया और वहां एक बार फिर शांति-व्यवस्था स्थापित की। परंतु इस सल्तनत में अब आक्रमण के दिनों-सरीखा वेग नहीं रहा था और अल्तमश जिस प्रदेश में अपनी राज्यसत्ता छोड़गया था बलबन का प्रभाव वहीं तक सीमित बना रहा। बलबन के उत्तराधिकारियों के हाथ में शासनसूत्र कच्चे धागे की भांति टूटगया और विभिन्न प्रांत लड़ी के मोतियों की भांति टूट टूटकर बिखरने लगे। मुस्लिम विजय से बुंदेलखंड और मध्य भारत का बल अच्छी तरह कभी विनष्ट नहीं हुआ था और वे अपनी घात में थे। अतएव यहां के हिंदुओं ने मौका पाकर अपनी स्वतंत्रता फिर से स्थापित कर ली।

गुलाम वंश के स्थान में एक नये और उससे कहीं अधिक शक्तिशाली राजवंश का अभ्युदय हुआ। यह खिलजी राजवंश था। इसमें एक बड़े मार्के का सुलतान अलाउद्दीन था जिसे महान बनने की धुन सवार रहती थी। इसमें संदेह नहीं कि उसके नेतृत्व में मुसलमानी सेनाएं भारत के धुर दक्खिन में जाधमकीं। अलाउद्दीन ने देवगिरि के यादवों और गुजरात के चालुक्यों के महान और ऐतिहासिक राज्यों को धूल में मिलादिया। उसके सम्राट् बनने के मार्ग

में सबसे बड़ा रोड़ा रणथंभोर के राणाओं ने अटकाया। अब राणा हम्मीर के विशाल कंधों पर हिंदुत्व की रक्षा का अभूतपूर्व भार आपड़ा और उन्होंने जिस प्रतिरोध का सूत्रपात किया वह कितनी ही अग्निपरीक्षाओं से निकलकर मुगलों के समय तक जारी रहा और चारणों की विरदावली से पता चलता है कि फिर इसी परंपरा के गौरव की रक्षा शिवाजी की सशक्त भुजाओं ने की जो अपने को मेवाड़ के शासकों का वंशज मानते थे। हम्मीर महाकाव्य से हमें ज्ञात होता है कि मेवाड़ के राजाओं ने हिंदू पुनरुत्थान के उद्देश्य को भलीभांति आत्मसात् किया था और उन्होंने आगे बढ़कर हिंदूधर्म की रक्षा का बीड़ा उठाया था। वीर हम्मीर के साथ अलाउद्दीन का जो भीषण संग्राम हुआ उसमें मैदान भले ही सुलतान के हाथ रहा। उसने रणथंभोर पर भलेही कब्जा करलिया और चित्तौड़ के दुर्जेय गढ़ को भी छीन लिया; किंतु फिर भी मेवाड़ ने घुटने नहीं टेके थे और इसलिए सुलतान को विजयश्री प्राप्त करने के लिए अब दूसरी दिशा में मुड़ना पड़ा।

उसकी गिद्धदृष्टि दक्षिण पर पड़ी। उसके सेनापति मलिक काफ़ूर ने जिस दुर्दम्य साहस से आक्रमण आरंभ किया उसके परिणामस्वरूप वह मैदान-पर-मैदान जीतता हुआ आखिर में रामेश्वरम् पहुंचगया। काफ़ूर की सेना ने बिजली की तेजी से बढ़कर दक्षिण भारत के दीर्घकाल से स्थापित राजवंशों को एक-एक करके रौंद डाला। इन पद-दलित राजवंशों को तब कहीं होश आया कि उत्तर भारत में एक विशाल सैनिक राज्य स्थापित होगया है। जिसने उनकी शक्ति को बात की बात में चूर-चूर करडाला है। किंतु दक्षिण भारत की जनता ने अपनी इस पराजय से शिक्षा ग्रहण की। उन्होंने अपनी राजनीतिक पद्धति का अविलंब पुनर्गठन किया और हम आगे चलकर देखते हैं कि उन्होंने पच्चीस वर्षों के अल्पकाल में एक ऐसे राज्य की स्थापना की जो उत्तर से आक्रमणों का सामना करने के लिए पर्याप्त शक्तिशाली था। गुजरात की कहानी तो इससे बिल्कुल भिन्न थी। अब से चार सौ वर्ष पहले जिस गुजरात राज्य ने इस्लाम के आक्रमण का मुंहतोड़ जवाब दिया था वह अलाउद्दीन के सेनापतियों की पहली चपेट ही से बालू की भीत की भांति धराशायी होगया। उसकी कमर टूटगयी और फिर वह अपने पैरों कभी खड़ा नहीं होसका। यह दूसरी बात है कि शताब्दियों तक स्वाधीनता की गोद में पलनेवाला यह गुजराती राष्ट्रीयतावाद आगे चलकर कभी मुस्लिम सुलतानों के नेतृत्व में बड़ी स्फूर्ति से फिर उठखड़ा हुआ।

गुलाम वंश की भांति खिलजी वंश का भी दयनीय अंत हुआ। अलाउद्दीन की मृत्यु के बाद गृहयुद्ध आरंभ हो गया जिसमें विजयी पक्ष ने पिछले शासन के सभी राजकुमारों और प्रमुख पुरुषों को तलवार के घाट उतार दिया। इसका अंत षड्यंत्रों और विद्रोहों में होना स्वाभाविक था जिसके फलस्वरूप दिल्ली से दूरवर्ती प्रांतों ने दिल्ली के प्रशासन की बेड़ियां तोड़कर फेंक दीं। सुलतान का शाही दरबार शर्मनाक रंगरेलियों का अखाड़ा बनगया। कुतुबुद्दीन मुबारक के बारे में तो यहां तक कहाजाता है कि "वह साड़ी पहनकर और पैरों में घुंघुरू बांधकर वेश्याओं की मंडली के साथ शहर में जायाकरता था और सरदारों तथा अमीरों के घर नाच-गाना किया करता था।" इस विलासता में डूबकर खिलजी राजवंश का सूर्यास्त

होगया और राजसिंहासन तुगलक वंश के हाथ में चलागया। एक सौ वर्ष के भीतर यह तीसरा राजवंश था जिसने दिल्ली पर अपनी सत्ता स्थापित की। गयासुद्दीन तुगलक ने (१३२०-२५ ई.) कुछ प्रांतों में फिर शांति और व्यवस्था कायम की। उसके बाद उसका उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलक गद्दी पर बैठा जिसके दरबार में विख्यात पर्यटक इब्नबतूता कुछ समय के लिए रहा था। इतिहास में इस सुलतान का नाम उन विलक्षण शासकों की श्रेणी में गिनाजाता है जिनकी परियोजनाएं कागज पर सोलहो आने ठीक थीं किंतु जब उनको कार्य-परिणत करने की कोशिश की गयी तब उनका दुर्दांत परिणाम निकला और जनता भयंकर आपत्तिओं में फंसगयी। जिससे राज्य की शक्ति ही तीन-तेरह होगयी। मुहम्मद तुगलक को अपने पूर्ववर्ती शासक से एक विस्तृत साम्राज्य उपलब्ध हुआ था जो धन-धान्य से बहुत कुछ परिपूर्ण था। किंतु उसकी मृत्यु के समय देश भूखा-नंगा तड़प रहा था। कहाजाता है कि सुलतान के विचार बड़े प्रगतिशील थे और यदि उनके कारण प्रजा पर विपत्ति का पहाड़ टूट-पड़ा तो इसमें उसका क्या दोष? किंतु इस प्रकार के थोथे तर्कों से मुहम्मद तुगलक का बचाव नहीं किया जासकता क्योंकि उसकी भूलों का विपाक्त फल लोगों को चखना पड़ा। उसका एक अजीब काम यह था कि उस समय उसने धातु के सिक्कों के स्थान में मुद्रित चमड़े के सिक्के जारी किये। उसकी इस परियोजना को आधुनिक कागजी मुद्रित नोटों की जननी माना जासकता है जिनका आजकल संसार के समस्त वाणिज्य, व्यापार और बैंक-व्यवसाय में बोलबाला है। परंतु, दुर्भाग्यवश उसकी इस परियोजना से उस समय राज्यकोषागार का दिवाला निकलगया। उसका दूसरा साहसिक कार्य दिल्ली से देवगिरि के लिये राजधानी का स्थानांतरण करना था। इसके लिए उसने एक सड़क बनवायी, और यात्रा करनेवाली दिल्ली-की जनता के लिए मुफ्त भोजन और आवास का प्रबन्ध किया, किन्तु साथ ही में उसने दिल्ली से प्रत्येक स्त्री-पुरुष और बच्चे को अनिवार्यरूप से जाने का आदेश दिया। इब्न-बतूता ने लिखा है कि इस पागल सुलतान ने बाद में जांच करवायी कि कहीं उसके आदेश का उल्लंघन करके कोई आदमी दिल्ली में अब भी तो नहीं छिपाबैठा है। कहाजाता है कि दिल्ली का कोना-कोना और चप्पा-चप्पा ढूंढ़ा गया जिसके अंत में नगर में दो आदमी पड़े मिले। उनमें एक लंगड़ा था और दूसरा अंधा! चाहे यह कहानी अतिरंजित हो या नहीं, इससे मुहम्मद तुगलक की अंधाधुंध निरंकुशता की अटकल लगायी जासकती है।

मुहम्मद का शासनकाल इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि उस समय देश में जो हिंदूराज्य बचे हुए थे उन्हें अपना संगठन करने का मौका मिलगया। चित्तौड़ और रणथंभोर फिर मेवाड़राज्य के अधिकार में आगये जिसका शासनसूत्र अब एक के बाद दूसरे सुयोग्य राणाओं के हाथ आता रहा जिन्होंने धीरे धीरे राजस्थान भर पर अपनी सत्ता दृढ़ करली। सन् १३३८ ई० में तुंगभद्रा के तट विजयनगर की स्थापना हुई। इस शक्तिशाली साम्राज्य ने दक्षिण के हिंदुओं को संगठित करने में अपूर्व सफलता प्राप्त की। दूसरे स्थानों में भी हिंदुत्व का पुनरुत्थान होरहा था। वास्तव में, यह कहना ठीक ही होगा कि मुहम्मद तुगलक के शासनकाल की अराजकता से हिंदुओं का दांव एक बार फिर लगा: इसी समय

हिंदू भारत का पुर्नजन्म हुआ, जो हिंदू सत्ता पिछले दिनों धूल में मिलचुकी थी वह फिर उन्नत-मस्तक होकर उठखड़ी हुई और हिंदुस्तान में एक राजनीतिक शक्ति के रूप में उसकी फिर स्थापना होगयी।

तुगलक सल्तनत देश के जिन भागों में दृढ़तापूर्वक स्थापित थी वे भी तुगलक राजवंश की सनक के कारण उसकी छत्रच्छाया का अधिक दिनों तक उपभोग न कर सके। बंगाल तो दिल्ली के अधिपत्य को गंभीरतापूर्वक पहले ही से स्वीकार नहीं करता था, किंतु हवा के इस रुख को देखकर उसने १३३६ ई. में दिल्ली की अधीनता का जुआ अंतिमरूप से अपने कंधे से उतारकर फेंक दिया। महाराष्ट्रदेश में हसन गंगू ने एक नये और स्वतंत्र राज्य भी स्थापना की जो भारतीय इतिहास में बहमनी राज्य के नाम से प्रसिद्ध है। गुजरात के गले में पराधीनता का फंदा अबभी, संदिग्धरूप ही से सही, पड़ाहुआ था। किंतु साम्राज्यीय सत्ता अपने असली गढ़ अर्थात् गंगा की घाटी तक में छिन्नभिन्न होचुकी थी।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी फीरोज एक दुर्बल और ढुलमुल शासक था। वह कट्टर मुसलमान था और किसी काम में विशेष लगन से हाथ नहीं डालता था। किंतु शेरशाह से पहले दिल्ली के राजसिंहासन को सुशोभित करनेवाला यही एक मुस्लिम सुलतान था जिसने सार्वजनिक हितों के कामों में अभिरुचि प्रदर्शित की। फीरोज ने बड़े पैमाने पर सिंचाई का प्रबंध किया। उसने खेती के लिए यमुना और घग्घर की नहरें खोदवायीं। पंजाब में नहरों का का जो जाल फैलाहुआ है, उसके मार्गदर्शन का श्रेय फीरोज को देना होगा। यह तुगलक सुलतान की उदारता और दूरदर्शिता का एक शानदार स्मारक और उसके शासनकाल की एक उल्लेखनीय सफलता है। फीरोज का प्रशासन दुर्बल था और उसके उत्तराधिकारियों के हाथ में यह लड़खड़ाती हुई सल्तनत अधिक दिनों तक नहीं टिकसकी और धीरे धीरे विनष्ट होगयी। जौनपुर में एक नये और शक्तिशाली राज्य की स्थापना हुई जिसने बिहार पर अपनी सत्ता कायम करली। मालवा में एक खिलजी अमीर ने एक नये वंश की स्थापना की और जो गुजरात अब तक अपनी छाती पर राज्यनिष्ठा का भार धरे दब्बू बना बैठा था उसने भी उछलकर अपनी स्वाधीनता की घोषणा करदी। इस शताब्दी के अंत तक दिल्ली की सल्तनत का विस्तार पंजाब और ठेठ दिल्ली राजधानी के आसपास के कुछ भूभाग तक परिमित होगया था। जब १३९८ ई. में तैमूर ने सिंधु नदी पार की तब उसे दिल्ली का मार्ग लगभग साफ मिला। मार्ग में तबतक इसका कोई उल्लेखनीय प्रतिरोध नहीं हुआ जबतक वह स्वयं दिल्ली के मेंडे पर नहीं जापहुंचा! दिल्ली के परकोटे के बाहर एक ही लड़ाई ने राजधानी के भाग्य का निबटारा कर दिया। तैमूर ने नगर पर अधिकार करलिया वह क्रोध से आगबबूला होउठा और उसका संकेत पाते ही उसके सैनिकों ने नगर को लूटलिया और यहां के निवासियों का एक बड़ी संख्या में कत्लेआम करडाला।

तैमूर के आक्रमण से दिल्ली की प्रतिष्ठा को भीषण धक्का पहुंचा। लगभग दो सौ वर्षों तक साम्राज्य की राजधानी रहने के पश्चात् यह नगर एक प्रांतीय राजधानी मात्र रहगया। तैमूर ने मानों दिल्ली का सुहाग-सिंदूर छीनलिया हो और अब वह वैधव्यावस्था के नैराश्य में डूबगयी

हो। आगे चलकर सय्यद और लोदी सुलतानों ने भी दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया। किंतु इन राजवंशों को साम्राज्योचित सत्ता प्राप्त नहीं हो सकी। लोदी वंश में भी एक प्रबल सुलतान हुआ जिसका नाम सिकंदर लोदी था। उसने आगरानगर बसाया था जिसका .शाही वैभव कभी १५० वर्षों तक लोगों की आंखों में चकाचौंध पैदा कर के दिल्ली से प्रतिस्पर्धा करता रहा। किंतु सिकंदर का समय अधिकतर विद्रोही सामंतों को दबाने ही में बीता। इससमय राज्य में इतनी छिन्नभिन्नता फैलगयी थी कि उसपर साम्राज्योचित सत्ता की फिरसे स्थापना नहीं की जासकी। भीतर से राज्य खोखला था। इसलिए जब बाबर ने (१५२५ ई.) भारत पर हमला किया तब अफगान सुलतान उसका प्रतिरोध न-बराबर ही करपाया। उसकी सैनिक शक्ति बात-की-बात में फिस् होगयी। बाबर के विरुद्ध तो तगड़ा मोरचा राजपूतों के संघटन ने लगाया था जो मुहम्मद तुगलक के कुशासन के कारण अनुकूल अवसर पाकर परिवर्ती १५० वर्षों में सुदृढ़ होगया था और गुजरात तथा दिल्ली के बीच के प्रदेश पर जिसकी शक्ति और सत्ता जमचुकी थी।

तुगलकों को शासनकाल में वस्तुतः भारत में तुर्क शक्ति को जो घुन लगगया उससे वह फिर कभी नहीं उबर सकी और फिर दिल्ली में, मुसलमानों की सत्ता के प्रतिनिधि के रूप में कोई भी मुस्लिम राजवंश राज्य स्थापित नहीं करपाया। फीरोज के बाद जो सुलतान दिल्ली के सिंहासन पर बैठे वे मुस्लिम सभ्यता का प्रतिनिधित्व नहीं करते थे। उस समय मुस्लिम सभ्यता के प्रतिनिधि तो बंगाल, जौनपुर, गुजरात और मालवा के सुलतान थे। भारत में विजेता के रूप में मुसलमानों के प्रवेश के कारण, पृष्ठभूमि में एक समन्वयपूर्ण संस्कृति पनप उठी थी। पंद्रहवीं शताब्दी में इसी संस्कृति के चिह्न उपर्युक्त राज्यों के मुस्लिम दरबार में परिलक्षित होने लगे थे। दिल्ली सल्तनत में तुर्क अमीरों और भारत के सीमांत-पार से आनेवाले विदेशियों का बोलबाला रहता था, और वे विदेशी सभ्यता के आश्रयदाता बनने ही में गौरव अनुभव करते थे; किंतु बंगाल, जौनपुर, गुजरात और इनसे कुछ कम पैमाने पर मालवा में उन प्रवृत्तियों का बीजारोपण होरहा था जो आगे चलकर मुगलों की छत्रच्छाया में अंकुरित और पल्लवित ही नहीं हुई अपितु अपने विकास की पराकाष्ठा पर पहुंच गयीं।

सन् १२९७ ई. में अलाउद्दीन खिलजी ने गुजरात को जीतलिया था। एकसौ वर्षों की पराधीनता की बेड़ियों को तोड़कर १४०१ ई. में ज़फरखां ने गुजरात की स्वतंत्रता की उद्घोषणा करदी और स्वयं शाह की उपाधि धारण की। आगामी डेढ़ शताब्दियों तक गुजरात भारत का एक प्रमुख राज्य ही नहीं प्रत्युत सभ्यता, संस्कृति और विद्या का भी केंद्र बनारहा। इसके बंदरगाहों से देश में द्रव्य की थैलियां उड़ेली जानेलगी और यहां का राजतंत्र अपने पृथक अस्तित्व के लिए यहां की हिंदूबहुल जनता और हिंदूबहुल धनिक व्यापारीवर्ग पर निर्भर था, हिलमिलकर रहने और मेलमिलाप रखने की नीति का परिशीलन करने लगा। अहमदशाह ने (१४११-१४४१ ई.) अपने शासनकाल में अहमदाबाद नगर बसाया और उसको सुंदर भवनों से सजाया जिनका प्रभाव हिंदू स्थापत्यकला पर स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मदशाह भी एक कलाप्रिय सुलतान था और उसने उदारता पूर्वक कलाओं का संरक्षण किया।

जमाना बदल चुका था। बड़े मार्के की जो बात अब देखने में आती थी, यह थी कि मालवा और गुजरात के बीच के प्रदेशों में जो हिंदू शासक विद्यमान थे वे युद्धों में कभी इस पक्ष की और कभी उस पक्ष की पीठ थपथपाते और उनकी मदद पर आकर डटजाते थे। इसके अतिरिक्त, इन दोनों मुस्लिम राज्यों के बीच राजपूत राजाओं के प्रदेश थे जिनका नेतृत्व मेवाड़ के सुयोग्य राणालोग करते थे। इनकी दूरदर्शितापूर्ण नीति यह थी कि इन दोनों मुस्लिम राज्यों के बीच राजपूत रजवाड़ों को पच्चड़ की भांति पड़ारहना चाहिए ताकि ये मुस्लिम मिलकर अपना एक संघटन न बना सकें। यही कारण है कि गुजरात को, मेवाड़ के उन राणाओं से निरंतर खड्ग खटकतीरही जिनकी सत्ता आबू के टेरे तक छायीहुई थी और आबू पर्वत पर एक अग्रिम सैनिक की भांति खड़े होकर अचलगढ़ के दुर्ग ने मुसलमानों की सत्ता को आगे बढ़ने से रोकरखा था।

खिलजी वंश के सुलतानों के समय मालवा राज्य का नाम फिर दूर दूर तक फैलगया था। किंतु वह १४०१ ई. में स्वाधीन होगया। स्वतंत्र मालवा के प्रथम सुलतान हुसुंगशाह ने अपनी राजधानी मालवा के ऐतिहासिक नगर मांडू में स्थापित की जिसका निर्माण विख्यात धारनरेश भोज ने करवाया था। हुसुंग भवन बनवाने का बड़ा शौकीन था। उसने मांडू में जो भव्य भवन बनवाये उनकी मिश्रित वास्तुकला पर हिंदू और मुस्लिम संस्कृतियों की सुंदर छाया दृष्टिगत होती है। सुलतान महमूद के शासनकाल में मालवा वास्तव में एक महत्त्वपूर्ण राज्य बनगया। महमूद के हृदय में महत्त्वाकांक्षाएं पेंग माराकरती थीं। उसने मेवाड़ के राणा कुंभा पर सात बार चढ़ाइयां कीं जिनमें उसे बार-बार मुंहकी खानी पड़ी। एक बार तो राणा कुंभा ने मांडू पर अधिकार करलिया और एक दूसरी बार युद्ध में महमूद को बंदी बनाकर कुछ समय के लिए चित्तौड़ लेगया। फरिश्ता ने लिखा है कि सुलतान महमूद के शासनकाल में "उसकी प्रजा—हिंदू और मुस्लिम दोनों प्रसन्न थे और उनमें आपस में मैत्रीपूर्ण संबंध था।" मालवा सल्तनत में इन दोनों जातियों के बीच इतने सौहार्दतापूर्ण संबंध थे कि जब एक बार सुलतान महमूद द्वितीय के जमाने में स्वयं मुसलमान अमीरों ने सिर उठाया तब उनका दमन करने के लिए सुलतान ने हिंदू शासकों से सहायता के लिए प्रार्थना की। उसका अपना प्रधानमंत्री एक हिंदू था जिसका नाम मेदिनीराव था।

जौनपुर की सल्तनत अधिक दिनों तक नहीं टिकी। फिरभी इसका नाम इतिहास के पन्नों पर छूटगया है। मलिकुश्शर्क—अर्थात् पूरब का प्रभु—के उत्तराधिकारियों के राजकाल में यह राज्य केवल विद्या की उन्नति ही का नहीं अपितु स्थापत्य के पुनरुत्थान का भी केंद्र बनगया। इब्राहीम की गुणग्राहकता के कारण विद्वानलोग भारत के कोने-कोने से आकर उसके दरबार को सुशोभित करने लगे। तैमूर के आक्रमण के कारण दिल्ली की दशा बिगड़गयी थी और केंद्रीय सत्ता के डांवाडोल होने से चारों ओर गड़बड़ी फैलरही थी। इस अशांत वातावरण ने भी विद्वानों और कलामर्मज्ञों को पूरब की ओर जाने के लिए उत्प्रेरित किया। जौनपुर में नये-नये भवन बनवाये गये जो इस काल की स्थापत्यकला के सौंदर्य का नमूना कहे जा सकते हैं और इनमें हिंदू और मुस्लिम कलाओं का जो चित्ताकर्षक सम्मिश्रण हुआ है वही

आगे चलकर, ऐसा प्रतीत होता है, मुगलों के वैभवपूर्ण युग का मार्गदर्शक बनगया।

हम पहले लिखचुके हैं कि बंगाल को सबसे पहले बख्तियार खिलजी ने जीता था किंतु तब भी वह दिल्ली के सुलतानों की प्रभुता नाममात्र के लिए ही मानता था। दिल्ली के जितने भी सुलतान हुए हैं प्रायः सभी को बंगाल के विद्रोह का सामना करना पड़ा और उसको दबाने के लिए उस पर चढ़ाई करनी पड़ी है। फीरोज तुगलक के जमाने में बंगाल ने दिल्ली से अपना संबंध पूरी तरह तोड़लिया और स्वाधीन होगया। लेकिन बंगाल के राजसिंहासन पर जब हुसेनशाह बैठा तब इस स्वतंत्र राज्य का भाग्य जागउठा। उसकी खूब उन्नति हुई। हुसेन-शाह के वंश ने बंगाल पर तबतक राज्य किया जबतक मुगल-सम्राट अकबर ने उसपर चढ़ाई करके १५७५ ई. में उसे अपने साम्राज्य में नहीं मिलालिया।

जिन परिस्थितियों का सिंहावलोकन ऊपर किया जाचुका है उनके प्रकाश में देखने से यह पता चलजाएगा कि १२१० और १५२५ ई. का मध्यवर्ती काल दो समान भागों में स्पष्ट बंटाहुआ जानपड़ता है : पहला विजयकाल है जिसमें साम्राज्य का सिद्धांत शैशव अवस्था में प्रवेश कररहा था और दूसरा अवसानकाल है जिसमें बड़े-बड़े राष्ट्रवादी राजतंत्रों का अभ्युदय हुआ। विजयकाल मे रोमांचकारी रक्तपात, भीषण विनाशलीला और लूटपाट भी देखने में आयी। वास्तव में दिल्ली के तुर्क सुलतानों का सरकारी व्यय के बारे में एक विचित्र दृष्टिकोण था: उनकी धारणा थी कि अन्य राज्यों के संचित राज्यकोष को लूटकर अपनी सरकार का व्यय पूरा कियाजाया करे। इस विषय में अलाउद्दीन ने मलिक काफूर को तैलंगाना पर आक्रमण के समय जो निर्देश दिये थे उनको यहां उद्धृत करना अलम् होगा : "यदि राय अपना स्वर्ण-कोष, रत्नभंडार, हाथी और घोड़े समर्पण करने के लिए राजी होगया है और वह अगले वर्ष भी स्वर्ण-कोष और हाथी-घोड़े भेजेगा तो उसके साथ कठोरता का बर्ताव न कियाजाए और उसे छोड़ा जासकता है"। काफूर ने "कोष के भार से लदेहुए एक हजार ऊंट" सुलतान की सेवा में भेजदिये। यह द्रव्य लूट के रूप में आया था। इसके परिवर्ती काल में दिल्ली का साम्राज्योचित वैभव विलुप्त होगया। अब वह एक स्थानीय राज्य था किंतु उसका पंजाब की सोना उगलनेवाली भूमि पर शासन कायम था। इसी समय गुजरात, मालवा, जौनपुर और बंगाल के अलग-अलग दृढ़ राज्य बन गये जिन्होंने शांतिकालीन कलाओं की अभिवृद्धि की और जनता के मंगलकार्यों में विशेष अभिरुचि दिखायी। इस अवधि में इस्लाम की दीपशिखा दिल्ली में नहीं अपितु अहमदाबाद, मांडू, जौनपुर और लखनौती में प्रकाश फैलारही थी। भारत के वैभव की वृद्धि में इस्लाम के योगदान का मूल्यांकन करने के लिए इस काल की इष्ट स्थिति को सावधानी से ध्यान में रखना चाहिए।

लोगों को मुगलपूर्वकाल की हिंद-मुस्लिम स्थापत्यकला का समुचितरूप से परिचय नहीं करायागया है। इसका कारण यह है कि ताजमहल और अन्य मुगलकालीन भव्य भवनों की चमकदमक में उनसे पूर्वकालिक स्थापत्यकला का बड़प्पन फीका पड़गया और उसकी ओर लोगों का समुचित ध्यान नहीं जासकता। यदि विचार से काम लिया जाए तो हमें पता चलता है कि पंद्रहवीं शताब्दी में हिंद-इस्लामी स्थापत्यकला का आविर्भाव और विकास हुआ और उसके

अपनी शैली के सर्वोत्तम भवनों का निर्माण कियागया। इस कथन के प्रमाण में जौनपुर की जामा मसजिद और अहमदाबाद तथा मांडू की मसजिदों और महलों के नाम प्रस्तुत किये जासकते हैं। इन राज्यों में जिस हिंद-मुस्लिम स्थापत्यकला की अभिव्यक्ति की गयी उसके मूल में हिंदू और मुस्लिम परंपराओं के समन्वय की भावना सन्निहित है। सर जोन मार्शल ने इस दिशा में इंगित करते हुए लिखा है : "जिस मुस्लिम शिल्पकार को ईरान (ससान) और कुस्तुनतुनिया साम्राज्यों की प्रभूत संपत्ति और चित्रविचित्र प्ररचनों की संचित निधि उपलब्ध थी उसकी दृष्टि जब भारत के भव्य भवनों पर पड़ी तब वह नयी कल्पनाओं के साथ उड़ान भरने लगा और तुरंत ही उसे अपने सामने एक विस्तृत प्रदेश दिखायीदिया जिसमें उसे जी-खोलकर विचरने के लिए बहुतेरी गुंजाइश जानपड़ी, और वह उसका पूरा-पूरा लाभ उठाने के लिए उसमें घुस पड़ा।" हिंद-मुस्लिम शैली में हिंदूधर्म और इस्लाम दोनों की कलात्मक भावना का पूर्ण समन्वय पायाजाता है जिसकी जैसी हृदयग्राही और मनोमुग्धकारी अभिव्यंजना अहमदाबाद और जौनपुर की मसजिदों में हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इनके निर्माता निःसंदेह मुसलमान थे किंतु इनकी रचना करनेवाले और शिल्पकार हिंदू ही थे। हिंदू शिल्पकला की ख्याति उस समय इतनी दूर दूर तक फैलीहुई थी कि ज़फ़रनामा में लिखा है कि जब तैमूर भारत से वापस जाने लगा तब उसने दिल्ली में हजारों शिल्पकारों को इकट्ठा किया और उसमें सबसे बढ़िया शिल्पकार छांटकर अपने लिए रखलिये और शेष अमीरों में बांट दिये। उसने समरकंद में एक विशाल मसजिद बनवाने की प्ररचना तैयार करवाली थी और "अब उसने आदेश दिया कि इस काम के लिए पत्थर का कामकरनेवाले सब थवई सुरक्षित करलिये जाएं"।

यद्यपि प्रारंभिक काल में इस्लाम ने स्थापत्यकला और भवन-निर्माण में भारत की उल्लेखनीय श्रीवृद्धि की किंतु विद्या, विज्ञान और कविता के क्षेत्रों में उसके योगदान के बारे में यह बात लागू नहीं होती है। इन तीन सौ वर्षों में भारतीय इस्लाम ने किसी ज्वलंत तत्त्वदर्शी, प्रकांड पंडित या प्रतिभाशाली वैज्ञानिक को जन्म नहीं दिया। अवरोस या अवीसिन्ना, तबरी या मसूदी जैसी कोई भी विभूतियां यहां नहीं हुईं जिनके नाम भारत में इस्लाम के इतिहास के पृष्ठों पर सुनहरे अक्षरों में लिखा जासकता। वास्तव में १२००-१५२५ ई० के मध्यवर्ती काल इस्लाम के इतिहास में विज्ञान और कला की दृष्टि से प्रायः अनुर्वर प्रतीत होता है। इस समय तुर्कों और सेलजूकों के बर्बर आक्रमणों ने धरती पर रुधिर की नदियां बहा दीं और प्रारंभिक इस्लाम की महान सांस्कृतिक परंपराओं के उज्ज्वल मुख पर कुछ समय के लिए कालिख पोत दी। हसनशाह ने दान देकर जौनपुर में जिस विद्यालय की स्थापना की थी उससे विद्या की उन्नति में समय आने पर काफी सहायता मिल सकती थी, किंतु वह स्वयं अधिक काल तक नहीं चल-सका। इस अवधि में, साहित्य-गगन में जो प्रकाशमान नक्षत्र उदित हुआ वह अमीर खुसरो थे जिनकी फारसी की कविताओं ने इस युग का मस्तक उन्नत कर दिया है। यहां एक बात समझने लायक है कि भारतीय इस्लाम संभवतः इस समय तक अपनी निजी भाषा का विकास नहीं करपाया और वह ईरान की विचारधारा और साहित्य का पिछलग्गू था। सुतरां मुस्लिम

शासक फारसी का अनुशीलन करतेहुए भी स्थानीय गुण और विद्या का समादर करते और उसे प्रोत्साहन देने में कभी नहीं चूकते थे। हम जानते हैं कि इसी समय नसरतशाह के आदेश से मालाधर वसु ने श्रीमद्भागवत का अनुवाद और हुसेनशाह के एक सेनापति पारंगलखां के अनुरोध से कवींद्र परमेश्वर ने महाभारत का अनुवाद किया। यद्यपि नये साहित्य के सृजन से देश का भंडार भरने में इस समय इस्लाम का योगदान नगण्य है तोभी उसने कवियों और लेखकों को जो प्रोत्साहन दिया उसकी सराहना किये बिना नहीं रहा जासकता है।

इस समय भारतीय-मुस्लिम स्थापत्यकला के मूल में भारतीय और इस्लामी परंपराओं के स्तुत्य समन्वय के दर्शन होते हैं। किंतु हिंदू स्थापत्यकला पर इसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड़ा। उत्तरी भारत तक में इस काल के विशाल हिंदू मंदिरों और भवनों में उसी विशुद्ध स्थापत्यकला की शैली का प्रयोग कियागया है जिसका वर्णन हिंदू शिल्पशास्त्र में मिलता है। कोणरक का सूर्यमंदिर (१२८५ ई.) इस युग का ज्वलंत स्मारक है। उदयपुर के चित्तौरगढ़ की प्ररचना मंडन ने की थी जो उत्तर भारत में मुस्लिम आक्रमणों के बाद, हिंदू स्थापत्यकला के वैभव का अप्रतिम उदाहरण है। किंतु इसको इस्लाम शैली की हवा छूकर भी नहीं निकली है। फरगूसन ने इस विजय-स्तंभ की तुलना रोम के ट्रोजन-स्तंभ से की है किंतु जब हम दोनों की समीक्षा स्थापत्यकला के सौंदर्य की दृष्टि से करते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि चित्तौरगढ़ अपने प्रतिद्वंद्वी रोमन स्मारक से अत्यधिक श्रेष्ठ है। इस समय के मंदिरों में जहां स्थापत्यकला की बेजोड़ छटा देखने में आती है वह उल्लेखनीय स्थान रामपुर है। यहां कला में कल्पना अंगूठी में नग की भांति जड़गयी दिखाईदेती है। यहां कल्पना मूर्तिमान होकर सौंदर्य की सृष्टि कररही है। मंदिरों के स्तंभों और कलशों को इस ढंग से बनाया और बैठायागया है कि उनके कारण यहां प्रकाश और छाया का आंख-मिचौनी का खेल विविध प्रकार से चलतारहता है और दर्शकों की आंखें भूलभुलैयों में फंस जाती हैं।" निदान इन मंदिरों को हिंदू स्थापत्यकला की श्रेष्ठतम कोटि में स्थान प्राप्त है।

यह स्वाभाविक ही था कि संघर्ष और युद्धकाल में प्रायः दुर्गों के निर्माण की ओर ध्यान केंद्रित रहा। तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में राजपूतों के पुनरुत्थान का परिणाम यह निकला कि राजस्थान की पहाड़ी के शिखरों पर गढ़ खड़े होगये जिन्हें स्वयं तत्कालीन सैनिक स्थापत्यकला के स्मारक कहा जासकता है। इन पर किसी प्रकार का इस्लामी प्रभाव परिलक्षित नहीं होता है। इस प्रकार, इस काल में, भारतीय-मुस्लिम और हिंदू स्थापत्यकलाएं साथ-साथ विकसित होती रहीं।

यदि हम भारत में इस्लाम साम्राज्य के प्रथम चरण (१२१०-१३७० ई.) का वृत्तांत जानने के लिए केवल दिल्ली के दरबारों के गाथालेखकों और इतिहासकारों पर निर्भर रहेंगे तो हमें उस समय की स्थिति का नितांत अशुद्ध और मिथ्या परिचय प्राप्त होगा। बरानी-जैसे इतिहासकारों को चौबीसों घंटे यह धुन सवार रहती थी कि वे अपने नायकों का इतना उज्ज्वल चित्रांकन करें कि वे इस्लाम की कट्टरता और सद्गुणों की दर्शनीय मूर्ति बनजाएं। इसलिए जहां कहीं इन लोगों ने मंदिर ढाहने, मूर्तियां तोड़ने और हिंदुओं को मौत के घाट उतारने या

उनका धर्मपरिवर्तन करने की कहानी लिखी है वहां उनकी यह प्रबल इच्छा सदा ही बनीरही है कि वे जो कुछ लिखरहे हैं वह कट्टर इस्लामी दुनिया के पढ़ने के लिए तैयार कियाजारहा है। इस भ्रांति के कारण उन्होंने अपने सुलतानों का काफिरों के साथ जिस व्यवहार का वर्णन किया है वह बड़ी ही उत्तेजक भाषा में है। किंतु जब हम इस वर्णन पर विचार करें तब हमें इस स्थिति को न भूलजाना चाहिए। विजयकाल में निःसंशय हिंदुओं पर आपत्तियों के पहाड़ टूटपड़े थे। एक झड़प में बड़े-बड़े प्रदेश उनके हाथ से चले गये। जहां कभी उनकी सत्ता का डंका बजा करता था वहां अब उन्हें कोई सम्मानपूर्वक बूझता तक नहीं था। उनके धर्म का अपमान किया जाता और उनके देवालयों को गिराया जारहा था। किंतु विजेताओं का यह जोश अधिक दिनों न रहा। दूध के उफान की भांति समय बीतने पर वह भी ठंडा पड़चला। देश के आर्थिक जीवन के ढांचे ने अत्यंत कट्टरों और धर्मांधों तक को नरम नीति अपनाने के लिए बाध्य करदिया। मुस्लिम आक्रांता अपने साथ खेतिहरों को थोड़े ही लाये थे! उनके साथ तो एक सेना थी जिसने दिल्ली पर अधिकार करके गंगा की घाटी के राजतंत्रों को विनष्ट करदिया था। यह असंभव बात थी कि मुस्लिम सुलतान अपने उन सैनिकों से खेती-बाड़ी करवाते। यदि वे ऐसा चाहते भी तोभी वे सैनिक इस काम को करने के लिए राजी नहीं होसकते थे। अतएव भूमि जागीरों के रूप में मुस्लिम अमीरों में बांट दीगयी, किंतु उसको जोतनेवाले हिंदू ही बने रहे। धर्मपरिवर्तन भी इतने बड़े पैमाने पर असंभव था जिससे हिंदू जमींदारों का नाम-निशान तक मिटजाता। यही कारण है कि हिंदू जमींदार और किसान बने रहे यहांतक कि दोआबा के प्रदेश पर सात सौ वर्षों के मुस्लिम शासन के बावजूद आज भी वहां की जनता में हिंदुओं ही की संख्या अत्यधिक है। वास्तव में, तत्कालीन भूमिव्यवस्था पर भी कोई आंच न आसकी और सामान्यतः गांवों में हिंदुओं का जीवन यथापूर्व ढरकता रहा।

इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि मुस्लिम विजय से देश के वाणिज्य और व्यापार में भारी हेरफेर होगया था या वह हिंदुओं के हाथ से निकलकर मुसलमानों के हाथ में चलागया था। मुस्लिम आक्रांता कोरे सैनिक थे और उनके आक्रमण सैनिकों के साहसिक कार्य मात्र थे। वे व्यापार को तुच्छ दृष्टि से देखते थे और उन्हें समुन्नत भारतीय व्यापारपद्धति की हुंडी और उधार प्रणाली समझ तक में नहीं आती थी। इसमें संदेह नहीं कि उस समय सरकार और अधिकारीवर्ग दोनों ने व्यापारीवर्ग का भीषण शोषण-दोहन किया, किंतु भारत का बनिया आज की भांति तब भी सामाजिक ढांचे का आवश्यक अंश बना रहा।

यदि इस आरोप की समीक्षा की जाए तो यह निर्मूल सिद्ध होगा कि प्रारंभिक मुस्लिम शासक सदा ही हिंदूधर्म के नाम से चिढ़ते थे। वास्तव में, हमारे पास इस आशय के पर्याप्त प्रमाण हैं कि अलाउद्दीन खिलजी और फीरोज तुगलक-जैसे कट्टर मुस्लिम सुलतानों ने हिंदूधर्म के नेताओं का आदर किया और उन्हें मान्यता दी। जैन स्रोतों से पता चलता है कि अलाउद्दीन ने आचार्य महासेन को कर्नाटक देश से धार्मिक संलापों के लिए बुलवाया था। यह भी कहा-जाता है कि दिल्ली के जैन पूर्णचंद्र (दिगंबर) और रामचंद्र सूरी (श्वेतांबर) इसी सुलतान

के कृपापात्र थे। गयासुद्दीन तुगलक के पास दो जैन अधिकारी थे जिनका उसपर बहुत प्रभाव था। फीरोज कवि रत्नशेखर को बड़े ही सम्मान की दृष्टि से देखता था।

हिंदूसमाज को अविच्छिन्न रखने में दफ्तरशाही के निम्नवर्गीय कर्मचारियों ने अप्रत्याशित मदद की क्योंकि इनको हिंदुओं की आवश्यकता थी। पिछले अध्यायों में लिखाजाचुका है कि प्राचीन भारत की दफ्तरशाही का रंगढंग बड़ा ही विशद और क्रमबद्ध था। मुस्लिम दफ्तरशाही में ऊंचे ओहदों पर मुसलमान नियुक्त होगये किंतु उन्हें छोटे स्थानों पर काम करने के लिए हिंदुओं की जरूरत पड़ी। पटवारियों, लेखाधिकारियों, कोषाध्यक्षों और जिले के अन्य कर्मचारियों के पदों पर काम करने के लिए हिंदुओं को आमंत्रित करना पड़ा। हां, राज्यपाल और जिलाधीश के पदों पर मुसलमान ही नियुक्त कियेजाते थे। केवल न्यायांग विभाग नखशिख तक मुसलमानों से भरा हुआ था और काजी लोग मुस्लिम कानून के मुताबिक अपने निर्णय दियाकरते थे। इस दफ्तरशाही की सहायता ही से अल्तश और अलाउद्दीन खिलजी अल्पकाल में इस देश में शांति व्यवस्था और साम्राज्यीय ढांचे का निर्माण करने में समर्थ हुए थे। इसी दफ्तरशाही का यह भी अभिशाप था कि प्रांतिक राज्यपाल अवसर पाकर अपनी छोटी-सी मुसलमानी सेनाओं के सहयोग ही से प्रायः स्वाधीन बनबैठते थे। बख्तियार खिलजी का अभियान इस बात का एक ज्वलंत प्रमाण है। जब उसने बंगाल पर आक्रमण किया था तब उसके पास एक छोटी-सी सेना थी।

शाही दरबार के सरदार और अमीर मुख्यतः सुलतानों की निरंकुशता के शिकार होते रहते थे। यदि हम दरबारों के क्रमबद्ध वर्णनों पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो हमें ज्ञात होजाएगा कि जब शासक किसी अन्य राज्य के विरुद्ध मोरचे में नहीं फंसे होते थे तब वे अमीरों की गुटबंदी के झंझटों को निबटाने में लगेरहते थे। इन गुटों की आपस में भीषण शत्रुता रहती थी जिसके कारण रोमांचकारी हत्याएं और अत्याचार देखने में आते थे। किंतु ये संघर्ष मुसलमान सरदारों और अमीरों में आपस ही में चलते थे; उनसे बाहर नहीं। इसके अतिरिक्त जो राज्यपाल विद्रोह करदेते थे वे मुसलमान ही हुआ करते थे। हम देखते हैं कि बंगाल पर गयासुद्दीन ने जो चढ़ाई की थी वह मुसलमान अमीरों और सेनाओं के विरुद्ध थी। इस प्रकार सुलतानों की निरंकुशता का प्रभाव सबसे पहले दरबार के अमीरों और सरदारों पर पड़तारहा है और परिवर्ती तुगलक सुलतानों तक की भीषण करतूतों के कड़वे फल सीधे तौर पर सामान्य जनता को शायद ही कभी चखने पड़े हों। यह बात दूसरी है कि इनके कारण केंद्रीय सरकार कमजोर होगयी जिससे ग्राम्य जनता को अधिकतर अपने पैरों खड़ा होने के लिए विवश होना पड़ा था।

मुसल्मान विजेताओं द्वारा पादाक्रांत क्षेत्रों के हिंदुओं में उदासीनता छागयी थी। राजनीतिक सत्ता अपने हाथ में होने से कोई भी जाति गौरव और आत्मसम्मान अनुभव करती है। किंतु अब राजनीतिक सत्ता उनसे कोसों दूर थी। वे ऊंचे पदों से वंचित थे, शासकवर्ग उनके साथ समानता का बर्ताव नहीं करता था, और उन पर विभिन्न प्रकार के कर लगायेगये थे। किंतु इस सबका अभिप्राय यह नहीं कि हिंदुओं का जीवन नितांत ही दूभर होगया था।

बरानी ने लिखा है कि उनसे शिष्टता और आज्ञानुकारिता की आशा कीजाती थी। एक क़ाजी ने हिंदुओं की वास्तविक स्थिति के बारे में पूछने पर जो कुछ बताया उसका बरानी ने इन शब्दों में वर्णन किया है : "वे खिराजगुजार कहलाते हैं और जब तहसीलदार उनसे चांदी मांगता है तब वे बिना चूं किये और बड़ी नम्रता तथा आदर के साथ सोना भेंट करते हैं।XXX यदि कर वसूल करनेवाला अधिकारी उसके मुख में थूकना चाहता है तो उसे बिना किचकिचाहट के अपना मुख खोलदेना चाहिए। ऐसा व्यवहार करने का अर्थ यह है कि हिंदू इस प्रकार अपनी विनयशीलता, विनम्रता, आज्ञानुकारिता और आदर की भावना प्रकट करता है।" निःसंदेह ये शब्द हिंदुओं के प्रति मुसलमानों की मानसिक स्थिति का दर्पण हैं, और इसमें जिस अंतर्भुक्त सिद्धांत की व्याख्या कीगयी है उसे सुनकर अलाउद्दीन का दिल उछलपड़ा होगा। परंतु इन्हीं इतिहासकारों की लेखनी से हमें ज्ञात होता है कि दोआबा के बड़े-बड़े भूमिपति प्रायः विद्रोह का झंडा उठातेरहते थे और उन पर अ-सैनिक कर्मचारियों की विशाल संख्या के बिना मज़हबी सिद्धांत थोपना कठिन होगया था। दिल्ली के सुलतानों को प्रचुर संख्या में उपयुक्त कर्मचारी तभी प्राप्त होसकते थे जबकि वे प्राचीन हिंदू दफ्तरशाही के लोगों को अपनी सेवा के लिए आमंत्रित करें।

उत्तर भारत पर मुसलमानों की विजय के प्रथम डेढ़-सौ वर्षों के इतिहास में हिंदूधर्म की निरंतर अग्निपरीक्षा जारी रही और उसमें उसकी विस्मयकारी शक्ति का दिग्दर्शन हुआ। उनको अनेक प्रकार के प्रलोभन दियेजाते थे। जो हिंदू इस्लाम का आलिंगन करने को तैयार होजाते थे उनके लिए सबकुछ सुलभ था। राज्य में ऐसा कोई भी पद अथवा सम्मान नहीं होता था जो हिंदूधर्म से इस्लाम में दीक्षित होजानेवाले व्यक्ति को न दिया जासके। उदाहरण के लिए, खुसरो काठियावाड़ का एक जाति-बहिष्कृत गुलाम था जो अवसर प्राप्त होने पर कुछ काल के लिए नासिरुद्दीन के नाम से दिल्ली के राजसिंहासन तक पर आरूढ़ होसका। इस प्रकार धर्मपरिवर्तन करनेवाले हिंदुओं के लिए समृद्धि और पदवृद्धि का द्वार उन्मुक्त पड़ा हुआ था। साथ ही, उत्तर प्रदेश में लगातार ६०० वर्षों तक मुसलमानों का राज्य स्थिर रहा। फिर भी हम आज देखते हैं कि वहां की जनसंख्या में केवल १४ प्रतिशत मुसलमान हैं। यह हिंदूधर्म की दुर्भेद्य शक्ति का ज्वलंत उदाहरण है। वास्तव में हिंदूधर्म इस्लाम के इस भीषण आघात को झेलगया। हमें इस आशय का निर्विवाद प्रमाण उपलब्ध है कि बलात् मतपरिवर्तन कम कियेगये और हिंदुओं में भी सभी लोग उस इस्पात के बने कैसे हो सकते थे कि वे किसी प्रकार न झुकाये जासकें!

हिंदू बहुत दिनों तक नैराश्य में निमग्न नहीं रहे। इस अंधकार में सहसा प्रकाश की किरण फूट निकली। राजपूतों की अनुपम वीरता की कहानियां इतिहास में सदा ही अमर रहेंगी और भारत मुख्यतः उनका आभारी बना रहेगा। जब मुसलमान भारत पर विजय प्राप्त करने और अपनी सत्ता स्थापित करने में व्यस्त थे तब राजपूत भी सो नहीं रहे थे। विदेशियों के आक्रमण होते देखकर उन्हें चैन कैसे मिल सकती थी? उन्होंने एक प्रतिरोधात्मक मोर्चे का संगठन किया और चार सौ वर्ष तक अनवरत गति से उस शौर्य का प्रदर्शन किया जिस पर

देश गौरव अनुभव करता है। जब मुहम्मद गोरी के विरुद्ध युद्ध में चौहान की सेना विनष्ट होगयी तब राजपूतों के रजवाड़े असंगठित अवस्था में पड़ेहुए थे और कुछ काल तक वे इसी प्रकार असमर्थ बने रहे। परंतु इसी बीच मेवाड़ का गुहिलोत राजवंश आगे आया और उसने राजपूतों को ढांढस बंधाकर उनका कर्णधार बनने का दावा किया। आबू और रणथंभोर के बीच का प्रदेश संगठित करके उसमें एक सैनिक संघटन खड़ा कियागया। अलाउद्दीन खिलजी को अपनी शक्ति के मध्याह्नकाल में और आगे चलकर अकबर तक को यह मोरचा लोहे का चना प्रतीत हुआ और वे मेवाड़ के शासकों का मान-मर्दन करने और उन्हें नीचा दिखाने में बुरी तरह उलझे रहे। जिस वीर हम्मीर की अक्षय्य प्रशस्ति का वर्णन हम्मीरकाव्य में कियागया है वह दीर्घकाल तक दिल्ली की विशाल सैन्य-शक्ति से जूझता रहा। उसके पुत्र खेता ने अजमेर तक पर अधिकार जमालिया और आगे चलकर चौदहवीं शताब्दी के अंत तक पांसा मेवाड़ के पक्ष में पलटगया। अब मेवाड़ के शासक उत्तर भारत की एक बड़ी शक्ति बनगये जिनकी मालवा और गुजरात से निरंतर तलवार खटकती रहती थी। लखासिंह की कमान में मेवाड़ की सेना ने एक बार गंगा की घाटी तक पर धावा कर दिया था। महाराणा कुंभा (१४३३-६८ ई.) के शासनकाल में मेवाड़राज्य की शक्ति अपनी चरम सीमा पर पहुंचगयी। कुंभा का नाम मध्यकालीन भारत के शासकों में बड़े अभिमान के साथ लियाजाता है। उसने मालवा और गुजरात के सुलतानों को लड़ाई में दबोच डाला और उन्हें आगे पग बढ़ाने से रोकदिया। इस तरह अब उत्तर भारत के एक बड़े प्रदेश पर हिंदुओं की सत्ता स्थापित होगयी। कुंभा और उसके उत्तराधिकारियों का प्रताप चारों ओर यहां तक फैलगया कि हिंदू जनता उन्हें हिंदुत्व के पुनरुत्थान का कर्णधार और हिंदू-गौरव की रक्षा की ढाल मानने लगी। उन्होंने भारत के कुछ बड़े-बड़े प्रदेशों ही को सीधे मुसलमानों के हाथ में पड़ने से नहीं बचालिया, अपितु उन्होंने उत्तर भारत के अन्य क्षेत्रों की हिंदू जनता को भी ढांढस और धीरज बंधाया। बाप्पा रावल की संतति 'हिंदुआन सूरज' अर्थात् हिंदुओं का सूर्य होने की उपाधि की अभ्यर्थना करती है जो वीर हम्मीर से लेकर महाराणा प्रताप तक पूर्णतः सार्थक है।

केवल राजस्थान के राजपूत ही मुसलमानों की सत्ता का प्रतिरोध नहीं कररहे थे। अन्यत्र भी हिंदू हाथ-पर-हाथ धरे नहीं बैठेहुए थे। वहां भी हिंदू प्रभाव उभरने लगा था, और चौदहवीं शताब्दी के अंत तक, जबकि केंद्रीय सत्ता डगमगाने लगी, गंगा की घाटी तक के बड़े-बड़े जमींदारों ने उसके विरुद्ध खुलकर विद्रोह करने के लिए काफी प्रभाव और शक्ति संचित करली थी। हमें दिन आये इस प्रदेश के जमींदारों के विप्लवों की कहानियां सुनायी देनेलगीं जिनका दमन करने के लिए दिल्ली के शासकों को नृशंसता से काम लेनापड़ा।

मुहम्मद गोरी की सैनिक विजयों की ओट में जिन तुर्कों और अफगानों को भारत की भूमि पर पांव धरने का अवसर मिला उन्हें कदाचित् ही इस्लाम की महान संस्कृति का प्रतिनिधि कहा जासकता है। इसमें संदेह नहीं कि वे इस्लाम का प्रतिनिधित्व करते थे, किंतु बगदाद अथवा काहिरा अथवा कोर्डोवा के मुस्लिम साम्राज्यों की सभ्यता उन तुर्क मलिकों के अंतःकरण को छूकर भी न निकली थी जिनके हाथ में भारत की राजनीतिक शक्ति दे दीगयी

थी। दिल्ली पर जिन मुसलमान राजवंशों ने शासन किया उनकी प्रमुख देन इस्लाम था। इस्लाम के सिद्धांतों का प्रचार तो हुआ ही, उसने भारत में मनुष्यों के बीच आपसी समानता की परिकल्पना का सूत्रपात किया, उसने स्वधर्मपालन में आत्मगौरव की भावना जाग्रत की और उसने एक विधिपद्धति जारी की जो तत्कालीन भारतीय विधिसंहिता से अनेक अर्थों में आगे बढ़ीहुई थी। सांस्कृतिक क्षेत्र में तुर्क सुलतानों ने स्थापत्यकला तथा भवन निर्माण की जिन नयी शैलियों का सूत्रपात किया उनकी अभिव्यक्ति तुगलक स्मारकों में संभवतः सर्वश्रेष्ठ रूप में पायीजाती है। इनमें मध्येशिया के गुंबदों और चमकीले खपरैलों के दर्शन होते हैं। इस्लाम के भाईचारे और धार्मिक स्वाभिमान की जो प्रतिक्रिया हुई उसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। यहां इतना उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा कि इस्लाम के संपर्क में आने के कारण ही राजस्थान के राजपूतों के हृदयों में और विजयनगर के राजवंश में हिंदूधर्म के उन्नायक और परिपोषक होने की नयी भावना का अंकुर फूटपड़ा था। नहीं तो, हम देखते हैं कि प्राचीन काल के अत्यंत धर्मात्मा राजाओं अर्थात् उत्तर भारत के भारशिव और गुप्त-वंशी शासकों तथा दक्षिण के पल्लव और चोल शासकों में, धर्म के कर्णधार अथवा समाज के ठेकेदार बनने की महत्त्वाकांक्षा स्वप्न में भी दिखायी नहीं दी। यद्यपि धर्म में उनकी अटूट श्रद्धा थी, किंतु धर्म का ढोल पीटना और उसकी सक्रिय रक्षा करना उनका कर्तव्य है, यह विचार उनके लिए नितांत विदेशी था। वीर हम्मीर से लेकर कुंभा तक और इसी प्रकार कृष्णदेवराय से लेकर रामराय तक राज्य का यह प्रमुख कर्तव्य बनगया कि वह धर्म की रक्षा और परिपोषण करे। इस्लाम की देखादेखी हिंदूराजाओं ने भी धर्म-रक्षा को अपनी नीति का एक व्यावहारिक अंग मान लिया।

भारत में एक धर्म के रूप में इस्लाम के आगमन से यहां के समाज पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा। इसने समाज को खड़ा चीरकर उसके दो टुकड़े कर दिये। तेरहवीं शताब्दी से पहले हिंदूसमाज समतल धरातलों में बंटा हुआ था। इस सामाजिक विभाजन में बौद्धमत और जैनमत दोनों में से कोई भी व्यतिक्रम पैदा नहीं कर सका। इनमें कोई दुष्प्राप्य तत्त्व नहीं थे और हिंदूसमाज के विद्यमान धरातलों से उनकी झड़ बैठने में कठिनाई सामने नहीं आयी। इसके विपरीत, इस्लाम ने हिंदूसमाज को एड़ी से लेकर चोटी तक खड़ा चीरकर दो टुकड़ों में बांटदिया और इसका जो कुछ दुष्परिणाम हुआ वह आज, आधुनिक भाषा में अलग-अलग दो राष्ट्रों के रूप में, हमारी आंखों के सामने है। यह प्रवृत्ति प्रारंभ ही से उत्पन्न होगयी थी। एक ही देश में दो समानांतर समाज स्थापित होगये। पग-पग पर उनके मार्ग विभिन्न थे और उनके बीच शायद ही कोई सामाजिक संपर्क अथवा आपसी मेलजोल विद्यमान था। एक प्रक्रिया अवश्य देखने में आरही थी कि हिंदूधर्मावलंबियों को धर्मपरिवर्तन द्वारा इस्लाम में निरंतर घसीटा जारहा था। साथ ही इसकी यह प्रतिक्रिया भी दृष्टिगत होरही थी कि हिंदूसमाज में आये-दिन नये-नये सिद्धांतों और पंथों का आविर्भाव होनेलगा था और उसमें आत्मीय सुरक्षा के लिए प्रतिरक्षात्मक भावना भी जाग पड़ी थी। वास्तव में तत्कालीन भारत में जो सबसे बड़े मार्के की चीज थी वह यह कि हिंदूधर्म के पुनरुत्थान के लिए आंदोलन चलपड़े थे। इनकी गूंज से

हिंदू जनता का नैराश्य मिटने और उसकी स्तब्धता भंग होनेलगी थी। वैष्णव आंदोलन ने हिंदू जनता के हृदय में आशा का संचार करदिया। इस परिपाटी के परमभगवद्भक्त जयदेव से लेकर मीरा तक की वाणी ने लोगों के मुरझाये मन को फिर से प्रफुल्लित करदिया। इनके अतिरिक्त उत्तर में रामानंद और कबीर, महाराष्ट्र और गुजरात में नामदेव और ज्ञानेश्वर तथा कर्नाटक में लिंगायतों के आंदोलनों ने हिंदूधर्म में नयी स्फूर्ति पैदा करदी। गीतगोविंद की रचना पुरी में हुई। इस पुस्तक ने इतनी व्यापक लोकप्रियता उपार्जन की कि राजस्थान के विख्यात वीर राणा कुंभा ने स्वयं इसकी टीका की जो आज भी प्रामाणिक मानीजाती है। रामानंद के आंदोलन का मूल प्रेरणास्रोत तामिलदेश का प्राचीन धार्मिक सिद्धांतसमुच्चय था। किंतु इनकी हलचल का केंद्र वाराणसी बनगया था। भारतीय जनता पर इस आंदोलन का क्या प्रभाव पड़ा, वह कबीर के निर्गुणवाद, नानक की दयार्द्र संतवाणी और चैतन्य की प्रेमातिरेक भावाभिव्यक्तियों से सहज में निस्सृत होरहा है।

थोड़ा सा ध्यान देने से यह बात आंखों के सामने आजाएगी कि उपर्युक्त धार्मिक आंदोलन वैदिक कर्मकांड से कोसों दूर थे। उनका मूल आधार भक्ति थी। इस विषय में दो मत नहीं होसकते कि भक्ति की भावना भारत में प्राचीन काल में भी विद्यमान थी। यह विचारधारा कोई नयी चीज नहीं थी। पंचरात्र और श्रीमद्भागवत में इस भक्ति का शंखनाद सुनायी देता है। किंतु इस समय हिंदुओं के देवालयों को मुसलमानों ने पादाक्रांत करडाला था जिसके कारण उनकी धार्मिक भावनाओं को भारी ठेस पहुंचरही थी। परिणामतः उनकी मानसिक स्थिति दुर्बल होगयी थी और वह अपने किसी परित्राणकर्ता की खोज में अभिमुख थी। भक्ति ने उनके विक्षुब्ध मानस को सांत्वना ही प्रदान नहीं की अपितु उनका कल्याण मार्ग भी प्रशस्त करदिया। यही कारण है कि इस काल में भक्ति का अबाध स्रोत बह निकला जो भटकतीहुई जनता का कंठहार बनगया। भक्तियोग का उपदेश गीता में भी कियागया है औरइसका अंतिम संदेश है कि सब कुछ त्यागकर केवल भगवान की शरण में लीन होजाओ। किंतु गीता में जिस सिद्धांत का प्रतिपादन कियागया है वह मीरां और चैतन्य के प्रेम-की पीर की भांति रहस्यपूर्ण नहीं है। गीता ने जिस कर्मनिष्ठ और संघर्षमय जीवन का उपदेश दिया है, राधाकृष्ण की उपासना में उसकी प्रतिध्वनि सुनायी नहीं देती है जो चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में भक्तिमार्गियों के परम आराध्यदेव के रूप में ग्रहण कियेगये।

एक चीज साफ है। इस अवधि में हिंदूधर्म पर इस्लाम का गहरा प्रभाव पड़ा। मध्यकालीन हिंदुओं का ईश्वरवाद एक प्रकार से इस्लाम के आक्रमण का उत्तर है। मध्यकालीन हिंदू धर्मोपदेशकों ने अपने ईश्वर को किसी भी नाम से क्यों न पुकारा हो उन सबके सिद्धांत आस्तिकता की भावना से ओतप्रोत हैं। भक्तों ने एक सर्वशक्तिमान और सर्वोपरि ईश्वर की कल्पना की है जिसकी उपासना में भक्त तल्लीन रहता है और जिसकी कृपादृष्टि होने से जीव का उद्धार होजाता है। इसलिए भक्ति के प्रत्येक पंथ में भक्त एक ही परमाराध्यदेव की सर्वश्रेष्ठ रूप में कल्पना कीगयी है। इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्य देवोपासक उसकी पूजा-अर्चना नहीं करसकते। प्रत्येक पंथ अथवा संप्रदाय ने उसी सर्वशक्तिमान प्रभु को विभिन्न नामों

में अपनी-अपनी कल्पनाओं के अनुकूल प्रतिष्ठित करलिया है। एक ही स्वर्ण के विविध प्रकार के आभूषण बनालिये हैं। किंतु सबके मूल में यही सारभूत विश्वास है कि चाहे उसे शिव, कृष्ण या देवी किसी नाम से क्यों न पुकारा जाए, वह वस्तुतः अद्वैत और अनंत है। यह भावना कबीर की बानी में अभिप्रेत है जिसका लोकहृदय पर आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा था।

इस काल में एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी देखने में आयी कि कर्नाटक में वीरशैव संप्रदाय का विकास हुआ। तामिलनाड की भांति कर्नाटक में भी कट्टर शैवमत की परंपरा थी। बारहवीं शताब्दी में यहां एक महान धार्मिक नेता का अभ्युदय हुआ जिसने इस संप्रदाय के सिद्धांतद्वय पर विशेष बल दिया। ये उभय सिद्धांत थे कि एक ही आराध्यदेव की उपासना कीजाए अर्थात् केवल शिव का पूजन कियाजाए, और जाति पांत का बहिष्कार कियाजाए अर्थात् दूसरे शब्दों में ब्राह्मणों की प्रधानता का खंडन कियाजाए। वीरशैव बासव को धर्म का पुनरुद्धारक मानते हैं जिनकी गणना मध्यकालीन हिंदूधर्म को प्रतिष्ठित संतों के बीच कीजाती है।

इस्लाम का प्रभाव हिंदूधर्म पर एक दूसरे ढंग से भी पड़ा। इसने देशी भाषाओं में एक नयी रूह फूंक दी जिन्होंने अभी जीवन की अंगड़ाइयां लेना ही शुरू किया था। यह सच है कि चंदबरदाई जैसा प्रतिभाशाली कवि पाकर हिंदी कृतकृत्य होगयी थी और उसका आसन ऊंचा उठगया था, किंतु यदि हम सारी स्थिति पर ध्यानपूर्वक विचार करें तो हमें स्वीकार करनापड़ेगा कि उत्तर भारत की प्रमुख भाषाओं का यह चरण विकासकाल ही था। अपनी क्लिष्टता के कारण संस्कृत सरकारी अभिलेखों की भी भाषा नहीं बनसकती थी। इस कारण ग्रामीणजन की भाषा को अपना प्रभाव फैलाने का स्वर्ण अवसर मिलगया और उन्हें अधिक महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त होगया। इस काल (चौदहवीं शताब्दी) में अमीर खुसरो एक बड़ा मुसलमान कवि हुआ जिसने हिंदी की फारसी और अरबी से तुलना करते हुए घोषणा की है कि कई दृष्टियों से हिंदी फारसी से भी अधिक संपन्न और लचीली भाषा है। इसी समय बंगला, गुजराती और मराठी का भी उत्कर्ष होरहा था, क्योंकि विद्यापति ने मैथिली में रस प्रवर्षणकारी गीत लिखे, मीरां के प्रेम-की-पीर के पदों से राजस्थान में रसधार बह उठी, चंडीदास की हृदयग्राही भावनाओं पर बंगाल का मानस मुग्ध होगया और नाथस्वामी ने मराठी में नयी चेतना उत्पन्न करदी। इनकी कविताएं केवल लोकप्रिय ही नहीं थीं अपितु उन्होंने साहित्य-भंडार की प्रचुर श्रीवृद्धि की। बंगाल में मुस्लिम शासकों के सीधे संरक्षण में तथा अन्यत्र संस्कृत साहित्य का देसी भाषाओं में अनुवाद कियागया। वास्तव में इस्लाम के आगमन से जो विषम स्थिति पैदा होगयी उसके कारण धर्म और साहित्य पर से विद्वानों का एकाधिपत्य उठने लगा और वे सामान्य जनता की भावनाओं की ओर ढुलकने लगे।

निदान, यहां यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि संस्कृत साहित्य का परिशीलन समाप्त होगया था। हमें पता चलता है कि इन दिनों गुजरात में संस्कृत की ज्योति फिर प्रज्वलित होउठी। हेमचंद्र सूरी और विराधवाल की विद्वत्सभा का नाम किसने नहीं सुना है? विराधवाल का मंत्री वस्तुपाल स्वयं एक लब्धप्रतिष्ठ कवि था। इसी विराधवाल की राजसभा ने एक बार पच्छिम में, धारानरेश भोज की परंपरा का समां बांधदिया। राजस्थान में भी संस्कृत को कम प्रश्रय नहीं

मिला। जोनराज की पृथ्वीराज-विजय और अलाउद्दीन के समय की हम्मीर-विजय कृतियां उल्लेखनीय हैं। किंतु राणा कुंभा की राजसभा विद्या और संस्कृति का प्रांगण बनगयी थी। स्वयं कुंभा ने गीतगोविंद की टीका लिखी है और वह संगीतराज का लेखक है जिसे संगीत का एक विश्वकोष कहा जासकता है। उन्होंने संस्कृत में स्फुट कविताएं भी लिखी हैं। इस स्थिति के विहंगावलोकन से जानपड़ता है कि जब गंगा की घाटी पर मुसलमानों का राज होगया तब विद्वानों और कविओं ने वहां से भागकर दूरवर्ती हिंदू राजाओं के राज्यों में जाकर शरण ली और वे उनकी राजसभाओं को समलंकृत करने लगे। यही कारण है कि मेवाड़, ग्वालियर और गुजरात जैसे दूरवर्ती स्थानों में एकाएक संस्कृत साहित्य की पुण्यसलिला द्रुतगति से प्रकाशमान हो उठी।

इसी समय जैनमत का पुनरुत्थान हुआ। यही समय भारत में इस्लाम के प्रविष्ट होने का है। अतएव जैनमत का पुनरुत्थान और इस्लाम का आगमन समकालीन घटनाएं कही जासकती हैं। किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि जैनमत के पुनरुत्थान में इस्लाम के प्रभाव का हाथ था। बौद्धमत की अभिवृद्धि ने वर्धमान के मत को दबा दिया था। किंतु ग्वारवेल के हाथीगुंफ शिलालेख से विदित होता है कि, कलिंगराज तीर्थंकरों का अनुयायी था। हमें पल्लव अभिलेखों और दक्खिनी साहित्य से ज्ञात होता है कि ईस्वी सन् की पहली छह शताब्दियों में जैनमत दक्षिण भारत में भी काफी पैठा हुआ था। गुजरात में तो इसने जनता के जीवन पर, स्वयं सीमित होते हुए भी, समय-समय पर बहुत प्रभाव डाला था। बारहवीं शताब्दी में जब कुमारपाल सत्तारूढ़ हुआ तब जैनमत का प्रभाव एकाएक बढ़गया। जैनमतावलंबियों के बीच में एक ऐसा प्रतिभाशाली विद्वान और दूरदर्शी आचार्य उत्पन्न हुआ जिसे जैनियों का शंकराचार्य कहा जासकता है। यह योगी, कोशकार, महाकवि, और अध्यापक —बहुमुखी प्रतिभा का व्यक्ति—हेमचंद्र सूरी था। इनकी गणना भारत की महान विभूतियों में कीजाएगी। उन्होंने जैनमत की विचारधारा के साथ आर्यसंस्कृति की चूल बैठाने का स्तुत्य प्रयास किया जिसने सामान्यतः एक बड़ी सफलता प्राप्त की। उन्होंने अपने पुरुषचरित नामक महाग्रंथ में समस्त पौराणिक कथाओं को जैन-परिधान पहिनाकर सजादिया और उन्हें लोकप्रिय बनादिया। उनके इस चिरस्मरणीय ग्रंथ में महाभारत और रामायण की कथाओं तथा अतीत की महान परंपराओं का समावेश कियागया है जिनके कारण इस लेखक को कलिकाल से व्यास की उपाधि प्राप्त होगयी है। हेमचंद्र का नाम आधुनिक भारतीय मानस के सृष्टिकर्ताओं में गिना जाता है और इसलिए उनका स्थान बाल्मीकि, व्यास और शंकर की बगल में सुरक्षित है।

हेमचंद्र ने अपनी रचनाएं संस्कृत में लिखीं और उन्होंने इस वाङ्मय को जो नवस्फूर्ति प्रदान की उसके कारण गुजरात में संस्कृत साहित्य की कृषि एक बार फिर लहलहा उठी। बालचंद्र सूरी (वसंतविलास १२९६), यशपाल (महाम्मोहविजय), रामचंद्र सूरी (नलविलास), वस्तुपाल (नरनारायण), आदि कतिपय कवियों के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने जैन साहित्य का सृजन तेरहवीं शताब्दी में किया और संस्कृत वाङ्मय जिनकी सेवा से कृतकृत्य होगया। हेमचंद्र के बाद जैनमत संस्कृत संस्कृति का एक प्रमुख माध्यम बनगया।

उत्तर भारत का तत्कालीन हिंदू मस्तिष्क साहित्य और कला ही में विभोर न था। वह सामाजिक सुधार के प्रति उदासीन नहीं था। इस्लाम के आक्रमण ने हिंदूसमाज के पुनर्निर्माण की आवश्यकता पैदा करदी थी जिसकी चीख-पुकार के आगे अभी तक हिंदू जनता कान में तेल डाले बैठी हुई थी। किंतु परिस्थितियों को देखते हुए यह सुधार केवल स्मृतियों के आधार ही पर संभव था। निदान, देवल (सिंध में) और मेधातिथि (मुसलमानों के आक्रमणों के समय) की लेखनी हिंदू सामाजिक समस्याओं का निराकरण करने में व्यस्त होगयी। देवल के सामने एक सबसे बड़ा प्रश्न यह था कि जो उच्चवर्णवाले गुलाम बना लियेगये हैं उनको फिर अपने बीच कैसे ग्रहण किया जाए? अतएव स्मृतियों का प्रायश्चित्तसंबंधी सर्ग अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता गया। प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से स्मृतियों में नयी-नयी व्याख्याओं का समावेश इसलिए करना पड़ा ताकि स्वधर्मत्याग करना कठिन होजाए। साथ ही उन लोगों को भी स्वधर्म में लौटाना इष्ट था जिन्हें बलात मतपरिवर्तन द्वारा हिंदूधर्म की गोद से छीनलिया गया था। इस कारण उस समय के विचारप्रवाह में दो प्रक्रियाएं—परस्परविरोधी—दृष्टिगत होती हैं। जब कोई समाज अपनी प्रतिरक्षा के लिए कटिबद्ध होता है तब उसमें अपेक्षाकृत अधिक कठोर नियम बनायेजाते हैं और उनका उल्लंघन करने की दशा में अति भीषण प्रतिक्रिया सामने आती है—सारांश यह कि समाज अधिकांशतः प्रतिक्रियावादी होजाता है। दूसरी ओर उन समस्याओं के सुलझाने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होनेलगती है जो मूल स्मृतिकारों के ध्यान में उनके अपने समय में नहीं आयी थी।

ईस्वी सन् १२००-१५०० के मध्यवर्ती समय में हिंदू भारत में टीकाओं और निबंधों के पोथे-पर-पोथे लिखे गये। यह साहित्य की एक विशाल निधि है। विज्ञानेश्वर की विख्यात मिताक्षरा को बारहवीं शताब्दी से पहले की कृति नहीं माना जासकता। मनुस्मृति के उद्भट टीकाकार कल्लुक चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में बंगाल में निवास करते थे। चंडेश्वर बिहारवासी थे और उन्होंने स्मृतियों के अनेक निबंध लिखे हैं। वह स्वयं एक मंत्री होने का दावा करते हैं और १३१४ ई. में (अलाउद्दीन खिलजी के समय में) स्वर्ण से तोलेगये थे। यह न-भूलने योग्य बात है कि दानरत्नाकर में लिखा है कि चंडेश्वर ने म्लेच्छों की बाढ़ से धरती का उद्धार किया। वास्तव में इस समय स्मृतियों के टीकाकार खूब फलतेफूलते रहे। कारण यह सामाजिक संबंधों की व्यवस्था करने का महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होगया था।

जो कुछ ऊपर लिखागया है उससे यह प्रत्यक्ष होजाएगा कि इस्लाम ने हिंदू मस्तिष्क को पराजित नहीं करपाया था। इस्लाम का जो प्रभाव हिंदू विचारधारा पर पड़ा था वह धर्म के क्षेत्र में परिलक्षित होउठा और यहां भारत का प्राचीन भक्तिदर्शन इस्लाम के सूफी सिद्धांत से बिना टकराये मेल खागया। रामानंद, कबीर और मीरां के भावपूर्ण पद एक ओर और इस्लाम के सूफी संतों के ख्याल दूसरी ओर, इन दोनों के बीच अधिक अंतर ढूंढ़ने की चेष्टा करना बालू में से तेल निकालना होगा। इनमें एक का प्रभाव दूसरे पर क्या पड़ा, इसका ठीक-ठीक निर्णय नहीं किया जासकता है।

देसी भाषाओं की साहित्य-सृष्टि में हिंदूमानस के परिस्थिति-जन्य विकास और इस्लाम के प्रभाव की कहानी लिखीपड़ी है। इस विषय पर पहले ही प्रकाश डाला जाचुका है। इस काल

के संस्कृत साहित्य और देसी भाषाओं के साहित्यों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होजाता है कि जहां एक ओर संस्कृत अपने भारी-भरकम साहित्य के बोझ से दिन-पर-दिन लोकजीवन और आध्यात्मिक भावनाओं से दूर होती जारही थी तथा उसने अवास्तविकता और अलंकारों का परिधान पहनलिया था, वहां दूसरी ओर देसी भाषाओं की कविता में नैसर्गिकता और सौंदर्य का मनोमुग्धकारी समावेश होरहा था जो जीवनदायक विश्वास का द्योतक था। विद्यापति, कबीर और मीरां की प्रेम में पगी कविताओं में सजीव विश्वास के दर्शन होते हैं। यह कहना उचित ही होगा कि देसी भाषाओं के साहित्य में उस जीवनमयी स्फूर्ति का अजस्र प्रवाह दृष्टिगत है जिसके दर्शन संस्कृत की शैली के प्रेमकाव्य में दुर्लभ हैं। किंतु संस्कृत का महत्त्व फिर भी अक्षुण्ण था। इसका ईर्ष्यालु स्थान अभी कोई नहीं छीन सका था। हिंदुओं को एक धागे में पिरोनेवाली भाषा बनने का सौभाग्य केवल इसी को प्राप्त था। तिरुवांकुर से काश्मीर तक हिंदुओं की विचारधारा और पांडित्य प्रदर्शन का माध्यम संस्कृत ही चली आरही थी। संस्कृत का पठन-पाठन जारी रहे बिना हिंदुओं में वह एकता-का भाव ही नष्ट हो जाता जो इस समय उनके बीच दिखायी देता था। किंतु, साथ ही, इस समय लोक-जीवन से संस्कृत का संबंध विच्छेद होचुका था। इस समय विचारों की अभिव्यक्ति और संस्कृत परंपरा के प्रचार के लिए जब देसी भाषाओं का सहारा लियागया तब कहीं इस क्षेत्र का संकट टलसका और कहना न होगा कि इतिहास की जिस अवधि की यहां समीक्षा की जारही है उसकी यह एक सराहनीय सफलता मानी जासकती है।

अध्याय १४

दक्षिण भारत और इस्लाम

दक्षिण भारत में इस्लाम की क्या प्रतिक्रिया हुई, इसकी कहानी उत्तर भारत से भिन्न है। पल्लवों के पतन के पश्चात्, कांची में चोल सत्तारूढ़ हुए और वे तीन सौ वर्षों से भी अधिक काल तक एक साम्राज्य का उपभोग करते रहे। चोलों के ऐश्वर्य, मलाया में उनके उपनिवेशों और सुमात्रा के शैलेंद्रवंशी राजाओं से उनके शतवर्षीय समुद्री युद्ध का वर्णन यहां संक्षेप ही में किया जासकता है। चोल अपने राज्य की सीमा धीरे धीरे प्राचीन पल्लव साम्राज्य के बराबर फैलाकर दसवीं शताब्दी में दक्षिण में चक्रवर्ती बनगये। सन् ९८९ ई. में, राजराजा कांची के राजसिंहासन पर अवतीर्ण हुआ जिसने उड़ीसा और दक्षिण की ओर तुंगभद्रा तक अपना राज्य-विस्तार करलिया। अपनी विस्तार-नीति के कारण वह महाराष्ट्र के चालुक्यों से जाभिड़ा। उसका पुत्र राजेंद्र या गांगयकोण चोल अपने पिता के पदचिह्नों पर अडिग रहा और उसने लंका को जीतकर अपने राज्य में मिलालिया। यह वही विजेता था जिसने समुद्र पार करके निकोबार द्वीपों पर आक्रमण किया और उन्हें अपने साम्राज्य में मिलालिया। उसने मलाया में कंडारम पर भी कब्जा करलिया। राजेंद्र का नाम इन विजयों और शैलेंद्रों के विरुद्ध समुद्री युद्ध करने के ही के कारण प्रसिद्ध नहीं है अपितु उसने खेतों की सिंचाई के लिए जो व्यवस्था की वह उसकी राज्यश्री का स्थूल प्रतीक थी। उससे अभी उन्नीसवीं शताब्दी तक काम लिया जातारहा है।

पल्लवों का चालुक्यों से युद्ध की जो परंपरा पड़ गयी थी वह परिवर्ती राजवंश और उनकी पीढ़ियों ने चालू रखी। चोलों को अपना साम्राज्य संगठित रखने में अपनी समग्र शक्ति लगा देनीपड़ी थी। कारण यह था कि चारों ओर पैर फैलाने के कारण उनके हाथ बंध-से गये थे। उन्हें समुद्री लड़ाकू बेड़ा कील-कांटे से लैस करना पड़ा था जिससे वे अपनी सेनाएं मलाया में उतार सकें और शैलेंद्रों को ललकारकर उनसे युद्ध कर सकें। उधर दूसरी ओर उन्हें चालुक्यों को भी चुनौती देनी थी। इतिहास इस बात का साक्षी है कि चोल इन दोनों मोरचों पर एक साथ लड़ते हुए भी सफल हुए। वीर राजेंद्र ने केवल चालुक्यों ही को रणक्षेत्र में चकनाचूर नहीं किया प्रत्युत उसने पूर्व में भी शत्रुओं के छक्के छुड़ा दिये और मलाया में अपनी शक्ति सुरक्षित रखी तथा विस्तृत की। चोल राजाओं में विख्यात कुलोत्थुंग राजा ने अपने वंश की युद्ध-विजयों की गाथा में अपनी शांति-विजय का उपसंहार जोड़दिया। उसने अपने साम्राज्य के चप्पे-चप्पे का दौरा किया जिससे प्रजा प्रफुल्लित हो उठी। उसके बाद जो राजे सिंहासन पर बैठे वे तेरहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक निष्कंटक राज करते रहे, किंतु १२५०–१३०० ई. के बीच

में केंद्रीय सत्ता शिथिल होने के कारण चोल साम्राज्य का नाम इतिहास के पन्नों से ओझल होगया। फिर इसके खंडहरों पर दक्खिन से पांड्यों ने और उत्तर से होयसलों ने बढ़ना शुरू किया। राजराजा की अतीतकालीन धाक अपने उन दुर्बल वंशजों की रक्षा करने में असमर्थ थी जो समय के थपेड़े खाकर जर्जर होचुके थे और नवोदित राज्यों के आगे अब नहीं टिक सकते थे।

दक्षिण भारत में चोल राजवंश की सत्ता के चार सौ वर्षों में जनता की चौमुखी प्रगति हुई। इस दीर्घकाल में राजनीति, साहित्य और कला के विभिन्न क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलताएं देखने में आयीं। भारतीय शासकों में सबसे पहले चोलों ने नौसैनिक शक्ति का महत्त्व पहचाना और उन्होंने महासागर में अनवरुद्ध गमनागमन की नीति स्थिर की। उन्होंने केवल बंगाल की खाड़ी पर अपना पंजा नहीं जमाया प्रत्युत लगभग सौ वर्षों तक मलाया में अपने साम्राज्य की रक्षा करते रहे और इसप्रकार बंगाल-की-खाड़ी चोलों की झील-सी बनगयी। शैलेंद्रों के साथ अनवरत युद्ध जारी रहने कारण चोल-साम्राज्य के साधनों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। इसे भी चोल-शक्ति के विनाश का एक मुख्य कारण माना जासकता है। किंतु इस प्रसंग में, हमें यह न भूलना चाहिए कि दक्षिण भारत का यह साम्राज्य महासागर की लहरों पर अपनी नीति का संचालन करने में सफल हुआ और युद्ध-विजयों द्वारा उपार्जित, समुद्रपार तथा लंका के साम्राज्य पर काफी समय तक शासन करता रहा।

चोल शासनकाल में कला की जो उन्नति हुई उसके विपुल नमूने बृहदाकार मंदिरों ही में नहीं अपितु कांस्य मूर्तियों में भी मिलते हैं। नटराज की तत्कालीन मुद्राओं तथा संतों की मूर्तियों और चित्रों की भावाव्यक्ति को देखकर धुरंधर कलाकार दांत तले अंगुली दबाने लगते हैं। इनको अब संसार की महानतम कलाकृतियों में स्थान दिया जारहा है। तंजोर के श्रेष्ठ मंदिरों और चिदंबरम् के कुछ भव्य मंदिरों में जिस स्थापत्यकला के दर्शन होते हैं उसमें कलात्मक परंपराओं को विशुद्ध रखने की भावना की भूरि-भूरि प्रशंसा कीगयी है।

चोल शासकों ने केवल भव्य भवन ही नहीं बनवाये। उनकी महानता का गुणगान तो सार्वजनिक निर्माण-कार्य कररहे हैं। अनेक चोलराजाओं ने सिंचाई व्यवस्था पर पूरा-पूरा ध्यान दिया जिसके कारण कावेरी का डेल्टा साम्राज्य का विशाल अन्न-भंडार बनगया। एक गण्यमान्य लेखक का कहना है कि मद्रास में डेल्टा भूमिसुधार की शैली का जन्म भले ही न हुआ हो किंतु उसका सूत्रपात वहां अवश्य हुआ था जो आगे चलकर ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर और बाहर अपनायी गयी तथा जिसके कारण इस भूमि का विकास हुआ। वस्तुतः इस शैली में तब से कोई सुधार नहीं किया जासका है। इस योजना की सफलता का श्रेय एक देसी इंजीनियर को है जो भारत में अंग्रेजों के आगमन से पहले ही नाम कमा चुका था। किंतु इस योजना का बीजारोपण चोलों के जमाने में हुआ था। वे यह अनुसंधान करने में सफल हुए थे कि "डेल्टा में नदी के जल पर नियंत्रण करलिया जाए और फिर उसे खेती सींचने के नियमित उपयोग में लाया जाए।"

तेरहवीं शताब्दी के अंत में यह विस्तृत साम्राज्य-छिन्नभिन्न होगया। जब मलिक काफ़ूर ने अपने आक़ा के आदेश से दक्षिण भारत पर तूफानी धावा बोला तब वहां एक प्रकार की अराजकता

छायीहुई थी। यही कारण है कि उसे विजय पर विजय मिलतीगयी। वहां किसकी मजाल थी जो इस मुसलमान सेनापति की विशाल सेना की ओर टेढ़ी आंख से देखता या उसके मार्ग में खड़ा रहने का दुःसाहस करता।

राष्ट्रकूटों की सत्ता के पतन के बाद उनका साम्राज्य तीन टुकड़ों में बंटगया : यादवों ने देवगिरि में, काकतेयों ने मध्यदक्षिण वारंगल में और होयसलों ने कर्नाटक प्रदेश में अपना प्रभाव स्थापित करलिया। इनमें देवगिरि के यादव राजालोग शक्तिशाली थे और उनके आश्रय में विद्या और कला की बड़ी उन्नति हुई। यादव राज्य को समुद्री व्यापार से बहुत आय थी। इस कारण वहां की प्रजा के दिन मौज से कटते थे। किंतु यादवों के पास पर्याप्त सैनिक शक्ति नहीं थी जिससे वे खिलजी सुलतान की संगठित सेना का सामना करसकते। वारंगल के काकतेय भी यादवों से कम न थे। मार्कोपोलो ने लिखा है कि काकतेयों की रानी रुद्रमांबा बड़ी ही सुयोग्य और बुद्धिमती महिला थी। प्रतापरुद्र के राजकाल में साहित्य की काफी उन्नति हुई, किंतु यादवों की भांति काकतेयों के पास भी सैनिक शक्ति की न्यूनता थी जिससे वे इस्लाम के झकोरे को झेलने में असमर्थ सिद्ध हुए और कटे पेड़ के समान गिरपड़े। वीरबल्लाल द्वितीय के नेतृत्व में होयसलों की शक्ति खूब बढ़गयी थी। तत्कालीन कलात्मक स्मारक उनकी समृद्धि का डंका बजारहे हैं।

इन तीनों राजवंशों में कोई भी अकेले मलिक काफ़ूर से नहीं भिड़ सकता था। इस्लाम के तूफान का प्रतिरोध करने के लिए एक संगठित सैनिक मोर्चे की आवश्यकता थी। किंतु यादवों को पहले ही पराजित कियाजाचुका था और काकतेयों ने गर्दन झुकाकर खिराज देना स्वीकार करलिया था।

द्वारसमुद्र के होयसलों का पतन भारत के इतिहास की एक बड़ी घटना है। वे चोलों के साथ दीर्घकाल तक रुक-रुक कर युद्ध करते रहे थे और जब इन चोलों की सत्ता डांवाडोल होउठी तब उन्होंने उनके कुछ प्रदेशों पर अपना सिक्का जमालिया। वीरबल्लाल द्वितीय के जमाने में दक्षिण के एक विशाल भूखंड पर द्वारसमुद्र की तूती बोलरही थी जो मदुराई देश तक फैलाहुआ था। वीरबल्लाल एक पांड्यवंशी राजकुमारी का औरस पुत्र था जिसका उसे बड़ा अभिमान था। उसने लगभग पचास वर्षों (११७३-१२२० ई.) के राजकाल में मलाबार तट पर मंगलोर तक अपना राज्य-विस्तार करलिया और चोलवंशी राजाओं को भी अपनी अधिराट्-सत्ता मानने के लिए विवश किया। उसने उस प्रदेश पर भी, जिसे आजकल मैसूर कहते हैं, होयसलों की चक्रवर्ती सत्ता स्थापित कर दी। उसका उत्तराधिकारी वीरनरसिंह भी एक सुयोग्य राजा था। वास्तव में, जब मलिक काफ़ूर ने दक्षिण पर चढ़ाई की तो इधर होयसलों ही की धाक छायीहुई थी। किंतु इस्लाम ने होयसल-शक्ति को दबोच डाला। दूसरे शब्दों में, द्वारसमुद्र का पतन होते ही काफ़ूर का मार्ग दक्खिनी राजधानियों की ओर कूच करने के लिए प्रशस्त होगया।

चोलों का अधःपतन पहले ही होचुका था। इसलिए उपर्युक्त मुसलमान सेनापति को रोकने के लिए दक्षिण भारत में कोई शक्ति विद्यमान न थी। पांड्यों के अपने हाथ उत्तराधिकार के

झगड़े में उलझेहुए थे। फिर क्या, मलिक काफूर की पौबारह थी! अपने मार्ग में आनेवाले देशों से तुरत-फुरत निबटता हुआ, मलिक काफूर १३११ ई. में ठेठ मदुराई पर चढ़आया, उसे जीतलिया और वहां से बहुत-सा लूट का माल लेकर दिल्ली लौटगया।

मलिक काफूर के पीठ फेरते ही, यहां जगह जगह गड़बड़ी फैलगयी, जिससे किलों देश के शासक वीररविवर्मन कुलशेखर को आगे बढ़ने का अवसर मिलगया। उसने मुस्लिम रक्षक सेना को खदेड़ दिया और १३१२ ई. में कांची में बड़ी धूमधाम से उसका राज्याभिषेक हुआ। इस तरह मुसलमानों के पैर यहां जमने भी न पाये थे कि उनको निकाल बाहर कियागया। इस दृष्टि से रविवर्मन की यह सफलता भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है क्योंकि इसने अबसे २५ वर्ष बाद तुंगभद्रा पर हिंदू प्रतिरोध को संगठित होकर खड़े होने का अवसर जुटाया।

मुसलमानों के लौटजाने से फिर कांची के उत्तर में दक्षिण भारत में कोई व्यवस्थित सत्ता नहीं रही। वारंगल का काकतेय राजवंश धूल में मिलचुका था और देवगिरि के यादवों की अब केवल कहानी शेष रहगयी थी। किंतु समय ने पलटाखाया और एक प्रतिरोधात्मक आंदोलन के लक्षण स्पष्ट होनेलगे। वारंगल के आसपास काकतेय देश की जनता ने प्रलयनायक के नेतृत्व में मुक्तीकरण के व्यापक मोर्चे का संगठन किया जिससे अड्डांकी और कोंड़विडु के रेड्डी राज्यों का शिलान्यास हुआ। चक्रवर्ती चालुक्यों के एक वंशधर सोमदेव ने १३३१ ई. में पश्चिमी तेलगु देश को मुसलमानों के चंगुल से छुड़ालिया और उसकी स्वतंत्रता की उद्घोषणा कर दी। तथ्य यह है कि व्यापक लोकविप्लव ने तुंगभद्रा प्रदेश में मुसलमानों की सत्ता की कब्र खोददी। दक्षिण भारत में एकता की भावना जागउठी और इसी समय (१३३६ ई.) दो महान नेताओं हरिहर और बुक्का ने एक नये राज्य का संगठन किया जो भारत के इतिहास में विजयनगर के नाम से प्रसिद्ध है। कहते हैं कि हरिहर और बुक्का काकतेय राजाओं के यहां एक अधिकारी के पद पर काम करते थे। पादरी हेरास का मत है कि वे होयसल राजवंश के राजसेवक थे। सन् १३४० ई. तक विजयनगर का नाम दूर-दूर तक फैलगया, किंतु इसके शासक को अभी राजा की उपाधि नहीं मिली थी क्योंकि होयसलराजा बल्लाल द्वितीय नाममात्र के लिए अब भी द्वारसमुद्र पर राज्य कररहा था। जब १३४६ ई. में विरूपाक्ष बल्लाल परलोक सिधारा तब बुक्का दक्खिनी प्रदेश का वैध सम्राट बनबैठा। उसने चालुक्यों, होयसलों, पल्लवों और चोलों की परंपराओं का समान भाव से अभिरक्षण किया। उसने जिस साम्राज्य की संस्थापना की वह तीन सौ वर्षों से भी अधिक काल तक स्थिर रहा, और मुसलमानों के आक्रमणों को रोकने के लिए एक अनुल्लंघ्य, दृढ़ चट्टान का काम करता रहा। इतिहास में इसका सूर्यास्त तब हुआ जब सत्रहवीं शताब्दी के मध्य में शिवाजी ने आगे बढ़कर हिंदूधर्म की रक्षा का बीड़ा उठालिया था।

तुंगभद्रा नदी पर रक्षापंक्ति की दृढ़ता की आवश्यक शर्त यह है कि दक्षिण का अटूट संगठन कियाजाना चाहिये। बुक्का के उत्तराधिकारियों का ध्यान इस महत्त्वपूर्ण विषय की ओर आकर्षित हुआ और वे तुरंत ही उसमें जुट गये। कंपराय ने मदुराई को जीतकर रामेश्वरम्

से कृष्णानदी तक का संपूर्ण क्षेत्र अपने साम्राज्य के अंतर्गत संगठित किया। उसकी मदुराईकी विजय पर उसकी रानी गंगादेवी ने एक मनोहर कविता लिखी थी। उधर नर्मदा और कृष्णा नदियों के बीच में, १३४७ ई. में एक नये मुसलमान राज्य की स्थापना हुई जिसका नाम बहमनी सल्तनत था। इसका संस्थापक हसन गांगू था जिसने विजयनगर राजवंश को कृष्णानदी के उत्तर में बढ़ने से रोकदिया। दक्षिणी पठार पर मुसलमानों के राज्य की स्थिरता के कारण यहां के इतिहास में एक नये अध्याय का समारंभ होता है, क्योंकि बहमनी सल्तनत का दक्षिण विजयनगर राज्य से और उत्तर में वहां के राज्यों से निरंतर युद्ध चलतारहा। इसका परिणाम यह हुआ कि बहमनी सल्तनत अधिकाधिक वहां की हिंदू जनसंख्या पर निर्भर होती गयी। बहमनी सल्तनत और विजयनगर साम्राज्य दोनों अच्छीतरह सैन्य-बल से सुसज्जित थे। इन क्षेत्रों में संघर्ष का तांता बंधगया। विजयनगर का ध्यान सदा ही अपने ध्येय की ओर लगा रहता था कि उसे संभाव्य मुस्लिम आक्रमण से दक्षिण भारत और हिंदूधर्म की रक्षा करनी है। फीरोज और देवराय तथा अहमदशाह और देवराय द्वितीय के युद्धों से पता चलता है कि दोनों पक्ष किस दृढ़ता से अपने उद्देश्यों पर डटे थे। यदि विजयनगर में शक्ति नहीं होती तो वह भी गंगा की घाटी की भांति मुसलमानों की पराधीनता की जंजीरों में बंधगया होता।

निकोलो कोंटी ने इस समय के विजयनगर का रोचक वर्णन किया है। "विजयनगर का विशालनगर," वह लिखता है, "बहुत ही ढालू पहाड़ों के निकट स्थित है। इसकी परिधि ६० मील है। इसका परकोटा पहाड़ों के पास तक चलागया है और उससे घाटी का एक घेर-सा पड़जाता है जिससे घाटी का विस्तार और भी बढ़ जाता है। इस नगर में ९०,००० सैनिक हैं जो बखूबी युद्ध में भाग लेसकते हैं।"

उसने आगे लिखा है कि इस नगर का राजा भारत के सब राजाओं से अधिक शक्तिशाली है। यह बात १४२० ई. में निर्विवाद सत्य थी। ईरान के राजदूत के रूप में अब्दुर्रज्जाक ने विजयनगर का अवलोकन किया था। वह मध्यपूर्व के इसी प्रकार के अनेक नगर देख चुका था। उसने विजयनगर के बारे में लिखा था : "विजयनगर का नगर इतना सुंदर है कि ऐसा धरती पर दूसरी जगह कहीं देखा-सुना नहीं गया। इसमें एक के भीतर दूसरे सब मिलाकर सात परकोटे हैं जिन पर सैनिक पहरा रहता है। बाहरी परकोटे के बाहर समतल प्रदेश में ५० गज तक सघन नोकीले पत्थर गड़े हुए हैं जो ऊंचाई में आदमी के कद के बराबर होंगे। प्रत्येक पत्थर आधा जमीन में धंसा हुआ है और आधा बाहर दीखता है जिससे न तो आदमी और न घोड़ा ही, कितनी भी हिम्मत क्यों न करें, बाहरी परकोटे की ओर सुविधापूर्वक आगे नहीं बढ़सकता है।"

विजयनगर राजवंश का सबसे पराक्रमी राजा कृष्णदेवराय (१५०९–१५५० ई.) था जिसके शासनकाल में विजयनगर अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंचगया। उसने उड़ीसा जीत लिया और समुद्रतट पर कटक तक अपना राज्यविस्तार करलिया। बहमनी सल्तनत में फूट और दक्षिण में नयी सल्तनतों के बनने से उसे इस्लाम प्रदेश पर आक्रमण करने का अवसर मिलगया। उसने बीजापुर के साथ भीषण संग्राम किया और उसे हरादिया। फिर मुसलमान

सुलतान इस करारी हार को दो पीढ़ियां तक न भूल सके और न वे विजयनगर पर जमकर प्रतिरोधात्मक प्रहार करने का हौसला ही कर सके।

कृष्णदेवराय एक महान सम्राट था जिसकी गिनती अशोक, चंद्रगुप्त, विक्रमादित्य, हर्ष और भोज की परंपरा में की जासकती है। विद्वान, कवि और प्रतिभाशाली लेखक होने के नाते वह हिंदू राजत्व की परंपरा के नाम को उजागर करनेवाला था। वह स्वयं देश के शासनसूत्र का संचालन करता, रणक्षेत्र में जाकर स्वयं सेना की कमान संभालता, अपने प्रदेश में घूमता-फिरता, मंदिर बनवाता और उनको धन देता तथा दान देने में तो उसके हाथ और मन में होड़ लगी रहती थी। उसके पुर्तुगालियों से अत्यंत मधुर संबंध थे, ईरान तथा अन्य देशों के राजदूत उसकी राजसभा में विराजमान थे। किंबहुना, उसने मध्यकाल में उस ऐश्वर्य का उपयोग किया जो अकबर से पहले कदाचित् ही किसी दूसरे राजा को उपलब्ध हुआ होगा।

कृष्णदेवराय के मरणोपरांत विजयनगर साम्राज्य की शान बदस्तूर कायम रही। किंतु मुसलमान शासक भी अब कान में तेल डाले नहीं बैठे थे। वे भी इस साम्राज्य की उत्तरोत्तर बढ़तीहुई शक्ति से दहल उठे थे। दूसरी ओर उनमें अब तक आपसी फूट का जो घुन लगरहा था, उसके प्रति वे अब जागरूक होउठे थे। विजयनगर की उन्नति को वे फूटी आंख न देख सकते थे और मन ही मन कुढ़ते रहते थे। इस भावना ने उन्हें आपस में संगठित होकर खड़े होजाने के लिए विवश किया और उन्होंने आपस में एक सैनिक संधि करके विजयनगर पर आक्रमण किया और १५६५ ई. में तालीकोट्टा के संग्राम में उसे पराजित करदिया। इस पराजय ने विजयनगर की शक्ति को चूरचूर करडाला और नगर को धूल में मिलादिया। विजयनगर साम्राज्य के बारे में प्राचीन धारणा यह है कि तालीकोट्टा के रणक्षेत्र में उसके भाग्य का निबटारा करदिया गया था—जहां वह पूर्णतः विनष्ट होगया। किंतु समीक्षा करने से यह धारणा अब निर्मूल सिद्ध होचुकी है। विजयनगर साम्राज्य की शक्ति और बड़प्पन राजवंशों पर आधारित नहीं था, प्रत्युत इसका प्रमुख स्तंभ दक्षिण भारत के हिंदुओं की राष्ट्रीय भावना और उनका मुसलमानों का प्रतिरोध करने का दृढ़ संकल्प था। सैनिक पराजय से किसी भी राजवंश का सर्वनाश होसकता है और उसके साथ कुछ समय के लिए जनता का प्रतिरोध भी विलुप्त हो सकता है किंतु वह एक प्राचीन और शक्तिशाली साम्राज्य की राष्ट्रीय भावना की ज्योति नहीं बुझा सकती है। यही कारण है कि विजयनगर एक नये राजवंश का सहारा लेकर फिर उठखड़ा हुआ। अब की बार इसका संगठन तिरुमल ने किया। वेंकट द्वितीय के जमाने में इस साम्राज्य ने अपने अतीत गौरव और वैभव का बहुतकुछ अंश फिर प्राप्त करलिया। अभी तालीकोट्टा-युद्ध को समाप्त हुए पचास वर्षों से कुछ ही अधिक समय हुआ था कि विजयनगर के घाव भरगये और वह हिंदूसंस्कृति और सभ्यता का केंद्र बनगया। किंतु 'सब दिन होत न एक समान' की लोकोक्ति के अनुसार विजयनगर की वह अतीतकालिक समृद्धि हवा होचुकी थी और अब केंद्रीय सत्ता डांवाडोल होरही थी। निदान इसके अधीनवर्ती राज्य स्वतंत्र होगये। इन्हीं में एक मैसूर राज्य भी था जिसका राज्य-रूप १९४७ ई. में भारत स्वतंत्र होने के बाद अभी समाप्त हुआ है।

विजयनगर वस्तुतः एक सैनिक राज्य था। इसके संगठन पर ध्यान देने से प्रत्यक्ष होता है कि इसका मूल उद्देश्य मुसलमानों का प्रतिरोध करना था। इसके अतिरिक्त, यह हिंदुत्व के पुनरुत्थान, संस्कृत के पुनरुद्धार और देसी भाषाओं के प्रचार का केंद्र बनगया, जिन्हें हिंदू-साम्राज्य की थाती कहा जासकता था और जिनकी रक्षा करना किसी भी उत्तराधिकारी हिंदू राज्य का प्राथमिक कर्तव्य था। माधव विद्यारण्य का, साम्राज्य की संस्थापना से संबंध बतायाजाता है। परिवर्ती वैष्णव संप्रदाय के विकास में विजयनगर के राजाओं का अनुपेक्ष्य योगदान रहा है और उन्होंने देश के कोने-कोने में जिन मंदिरों का निर्माण करवाया तथा उन्हें जो प्रभूत दान किया वह उस समय की जनता की धार्मिक भावना की नाड़ी की गति का संकेत करता है।

जहां तक संस्कृत का संबंध है, विजयनगर साम्राज्य में उसको अच्छी तरह प्रश्रय मिला। सायण जो वेदों का भाष्यकार था और जिसके भाष्य अबभी प्रामाणिक मानेजाते हैं, बुक्का का मंत्री और माधवाचार्य का कनिष्ठ भ्राता था। धर्मशास्त्रवेत्ता माधवाचार्य का पाराशर माधवीय अब तक एक उच्च कोटि का प्रामाणिक ग्रंथ मानाजाता है। उसका भी विजयनगर के न्यायालय से संबंध था। वास्तव में, उसने तो अपने को बुक्का का एक मंत्री लिखा है। विजयनगर राजवंश की एक के बाद दूसरी रानियां कवि के रूप में सामने आती हैं और गंगादेवी ने तो मधुराविजयम् तथा तिरुमालंबा देवी ने वरदांबिकापरिणयम् लिखा है जिनका नाम उल्लेखनीय है। हम पहले कहचुके हैं कि कृष्णदेवराय स्वयं एक बड़ा विद्वान और लेखक था। विजयनगर के सम्राटों की संरक्षकता में तेलगु और कन्नड़ भाषाओं का बहुत विकास हुआ। कृष्णदेवराय की राजसत्ता में तेलगु साहित्य के अष्टदिग्गज थे। राय स्वयं तेलगु का एक उद्भट लेखक था और उसकी अभुक्त-माल्यदेवी एक साहित्यिक कृति मानीजाती है। उसके राजकवि पेडाना को तो तेलगु के जन्मदाताओं की श्रेणी में स्थान प्राप्त है।

विजयनगर के सम्राटों के मस्तिष्क इस विचार से ओतप्रोत थे कि वे धर्मनिष्ठ भारत की पताका फहरारहे हैं और प्राचीन काल के महान राजाओं की परंपरा की रक्षा का बीड़ा उठा-चुके हैं। मदुराई के मदनगोपालस्वामी मंदिर के एक शिलालेख में विजयनगर के राजा को चालुक्य-शिरोमणि कहागया है। हंपी को हंपी-हस्तिनावती बताया गया है अर्थात् उसका नाता महाभारतकाल के साम्राज्य की राजधानी से जोड़ागया है। राजा के विषय में लिखागया है कि वह "अपने राजसिंहासन पर आरूढ़ होकर उस विस्तृत राज्यपर शासन करता है जो सेतु से सुमेरु तक और पूरब में उदयाचल से पच्छिम में पहाड़ों के उस छोर तक फैला हुआ है और उसके सामने प्राचीन महाकाव्यकालीन राजाओं की ख्याति और यश मलिन पड़गये हैं"। वास्तव में विजयनगर के सम्राटों के इस दावे का आधार यह था कि यद्यपि शेष भारत पर मुसलमानों का अधिकार छायाहुआ है फिर भी हिंदू साम्राज्य की परंपरा की प्रतिष्ठा का दायित्व उन्हीं पर है और उसकी थाती उन्हीं को सौंपी गयी है।

पुर्तगाली और मुसलमानी अभिलेखों से प्रमाणित होता है कि विजयनगर के सम्राटों के शासनकाल में दक्षिण भारत में बड़े मार्के की उन्नति हुई। उस समय यहां कम-से-कम तीन सौ बंदरगाहों से माल लदता और उनमें उतरतादिखाई देता था। ईरान और पच्छिमी देशों के

साथ तो भारतीय व्यापार का तांता बंधा रहता था। पुर्तगालियों को विजयनगर के साथ व्यापार में अनापशनाप लाभ होरहा था और उनकी समृद्धि की कुंजी यही साम्राज्य था। इसकी प्रांतीय राजधानियों में भी भारी व्यापारिक हलचल देखने में आती थी और पुर्तगालियों के आगमन से भारत की निर्मिति और उत्पादित वस्तुओं के लिए यूरोप के बाजारों के फाटक खुलगये थे और उसी प्रकार यूरोप की वस्तुएं भी धड़ाधड़ भारतीय बंदरगाहों में आरही थीं। यहां की समृद्धि अब राजाओं तक सीमित न थी अपितु सामंतों और कुलीन पुरुषों के घरों में जगमगाहट पैदा कररही थी---जिसे देखने से विदेशी प्रेक्षकों की आंखों को चकाचौंध लगजाती थी। यद्यपि तत्कालीन भवनों के खंडहरों से स्थापत्यकला के वैभव का अनुमान लगाया जासकता है फिरभी वह अधिकांशतः विलुप्त होचुका है। उस समय जिन महान सम्राटों और अधिकारियों ने जो भव्य मंदिर बनवाये थे उनसे दक्षिण आज भी भरापड़ा है और वे उस गौरवशालिनी सभ्यता की महत्ता का डंका बजारहे हैं जिसने कलात्मक निधि के बहाने अपने पूर्वजों की परंपराएं अबतक सुरक्षित रखी हैं।

विजयनगर के साथ ही बहमनी सल्तनत का भी उत्थान हुआ जिसका दिग्दर्शन पहले कराया जाचुका है। सन् १३४७ ई. में हसन गांगू ने कृष्णानदी के उत्तरवर्ती क्षेत्र में एक मुस्लिम राज्य की स्थापना की जिससे विजयनगर से हमेशा मुठभेड़ होती रही और कभी पलड़ा इधर और कभी उधर झुकता रहा। बहमनी सुलतान भारतभूमि पर रहकर भी ईरानी राग अलापते थे और ईरान के योग्य आदमियों को अपनी राज्यसेवा में भरती करने के लिए बढ़ावा देतेरहते थे। इस कारण स्थानीय अमीरों और विदेशी पदाधिकारियों में वैमनस्य की बेल बढ़ने लगी। इस्लाम का प्रभाव अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से उनकी यह नीति सफल कही जासकती है, किंतु इसने बहमनी सल्तनत में आपसी फूट का बीज बो दिया और अंत में उसे पतन के गड्ढे में ढकेल दिया। डेढ़ सौ वर्षों से भी अधिक समय सल्तनत में एकता बनीरही, किंतु बाद में वह छिन्नभिन्न होकर पांच राज्यों (बरार, अहमदनगर, बीजापुर, गोलकुंडा और बीदर) में बंटगया जिनका अस्तित्व भी प्रायः इसी सिद्धांत पर आधारित था कि विजयनगर की शक्ति से हाथापाई जारी रखी जाए।

बहमनी सल्तनत का ऐतिहासिक महत्त्व यही है कि वह प्राचीन काल के सातवाहन, वाकाटक और चालुक्य-साम्राज्यों की भांति भारत देश के बीच में स्थापित बनारहा और उत्तर की कड़ी दक्षिण के साथ जोड़तारहा। यद्यपि बहमनी सुलतान अपने धर्म के कट्टर अनुयायी थे फिर भी उन्होंने अपनी हिंदू प्रजा पर न तो अत्याचार ही किये और न उसके प्रति असहिष्णुता का बर्ताव ही किया। अधिकांश सुलतानों ने शिक्षा के प्रसार के लिए मुक्तहस्त होकर दान किया, सिंचाई के लिए बड़े पैमाने पर व्यवस्था की, और कला तथा साहित्य को प्रोत्साहन दिया। सुप्रसिद्ध मंत्री मुहम्मद गवां ने एक सुंदर विद्यालय की स्थापना की जिसके पुस्तकालय में तीन हजार से भी अधिक पुस्तकें उपलभ्य थीं। उस समय के अनेक मंदिर इस बात के साक्षी हैं कि हिंदूधर्म और बौद्धमत दोनों साथ-साथ फलफूलरहे थे। इसमें संदेह नहीं कि धर्म के नाम पर उत्पीडन और ताड़ना का अभाव न था किंतु जानपड़ता है कि दक्षिण के गांवों में चैन से जीवन बीत रहा था---लोग बाहरी आक्रमण से निश्चिंत थे।

अध्याय १५

मध्यकालीन धर्म

तीन शताब्दियों की हिंदू-मुस्लिम मुठभेड़ के कारण भारत में जिस धार्मिक भावना का विकास हुआ उसका विशेष अध्ययन करने की आवश्यकता है। इससे पहले भी कई बार ऐसे अवसर आये थे जबकि हिंदूधर्म का पुनर्गठन करना पड़ा, किंतु अबकी बार का रंगढंग ही निराला था। गुप्तकाल और शांकरकाल में जो पुनर्गठन कियागया था वह यातो सामाजिक अवस्थाओं में सुधार की भावना से उद्भूत हुआ था या अनीश्वरवाद के विष का उपशमन करने के लिए। वाकाटक-गुप्त काल में, भारतीय समाज में पहले से घुस आये बर्बर सामाजिक तत्त्वों और विचारों के मूलोच्छेदन का प्रयास कियागया था। शंकराचार्य के सामने प्रायः मीमांसकों के कर्मकांड और बौद्धों के अनात्मवाद को विनष्ट करने का प्रश्न उपस्थित हुआ था। किंतु अब तेरहवीं शताब्दी में जो समस्या उपस्थित थी वह इनसे बिल्कुल भिन्न थी। हिंदूधर्म का अब उस गतिशील मज़हब से पाला पड़ा जिसने उसके दार्शनिक आधार को चुनौती दे डाली, उसके सामाजिक ढांचे पर सीधा प्रहार किया और उसकी बहुदेवोपासना का दो टूक खंडन किया। जहां एक ओर इस्लाम के खुदावाद या एकेश्वरवाद और प्रजातंत्रीय सामाजिक संगठन ने हिंदूधर्म को अखाड़े में आने के लिए ललकारा वहां दूसरी ओर उसने हिंदूधर्म के परिलक्षणात्मक सिद्धांतों अर्थात् पुरुष, प्रकृति, गुण, आवागमन, आदि का खंडन करके उसे चित करदेने की कोशिश की। इस संघर्ष के परिणामस्वरूप ही मध्यकालीन हिंदू-धर्म ने महान भक्ति संप्रदाय को जन्म दिया।

यहां उल्लेखनीय बात यह है कि मध्यकालीन हिंदू विचारधारा बिना अपवाद के ईश्वरवाद के प्रांगण में क्रीड़ा कररही है। इसी प्रकार, प्रत्यक्ष उपदेश द्वारा न सही, वह अन्य सभी ढंगों से इस समय वर्णव्यवस्था की प्रामाणिकता पर चोट करती है और उसे अग्राह्य ठहराती है। वह ईश्वर के सगुण रूप पर विशेष बल देती है जो अद्वितीय, सर्वोपरि और दयानिधि है और जिसकी शरण में जाने से तथा जिसकी कृपादृष्टि हो जाने से दिव्य जीवन करतलगत होजाता है। यदि शंकराचार्य के अद्वैतमत का खंडन न कियाजाता तो उपर्युक्त विचारधारा के लिए हिंदूधर्म में गुंजाइश नहीं थी। सौभाग्य से इसी समय एक प्रतिभाशाली तत्त्वदर्शी और प्रचारक का आविर्भाव हुआ जिन्होंने सगुणोपासक संप्रदायों को नया मार्ग दिखाया। यह परमवैष्णव विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक रामानुजाचार्य थे जिनका प्रभाव आज भी हिंदूविचारधारा पर छायाहुआ है।

जिस वैष्णव गद्दी की प्रतिष्ठा श्रीरंगम् में थी श्रीरामानुजाचार्य उसी परंपरा के सीधे उत्तराधिकारी थे। इस श्रीवैष्णव संप्रदाय ने आद्यशंकराचार्य के अद्वैतमत की नीरस और शुष्क विचारधारा

को पूर्णरूपेण कभी स्वीकार नहीं किया था और इस गद्दी पर एक के बाद जो दूसरा आचार्य आसीन हुआ वह उसका विरोध करतारहा; यहांतक कि यमुनाचार्य ने माया और अविद्या के सिद्धांतों का खुलकर विरोध किया। रामानुजाचार्य का जन्म १०१७ ई. में हुआ था और वह इसी शताब्दी के मध्य में गद्दी पर बैठे और उन्होंने अपनी समूची शक्ति उस दार्शनिक विचारधारा के प्रतिपादन में लगादी जो शंकराचार्य के अद्वैतमत का खंडन कर सके। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा जो श्रीभाष्य के नाम से विख्यात है और यही उनका प्रमुख ग्रंथ है। उन्होंने गीता का भाष्य भी लिखा ताकि वह शंकराचार्य के गीताभाष्य से टक्कर लेसके। यद्यपि रामानुज ने ब्रह्म के अखंडत्व या एकत्व और अस्तित्व को स्वीकार किया है फिरभी उन्होंने चित् और अचित् अर्थात् आत्मा और पदार्थ पर बल दिया है; उनका लय ब्रह्म में होते भी उनका अस्तित्व पृथक है और वे समानरूप से महत्त्वपूर्ण हैं। रामानुजाचार्य का यह मत विशिष्टाद्वैत कहलाता है। रामानुज के मत में जिस विचारधारा के दर्शन होते हैं वह स्वयं इतनी महत्त्वपूर्ण नहीं जितनी उसके बारे में यह बात दर्शनीय है कि उन्होंने जो धर्मोपदेश किया वह अधिक मौलिक और ग्राह्य था। उनके विचार से, कर्मफल में ईश्वर की कृपा हेरफेर कर सकती है। शांकर दर्शन में जिस अद्वैत ब्रह्म का निरूपण कियागया है उससे मानसिक तृप्ति भले ही होती हो, हृदय में कल्लोल नहीं उठती। रामानुज ने, इसके विपरीत, ईश्वर को प्रेम और न्याय की मूर्ति बनाकर आंखों के सामने खड़ा किया जिसके सौंदर्य पर भक्त का मन-मयूर मुग्ध होकर नाचने लगा और मानव-हृदय में करुणा की रसधार बहउठी। भगवान करुणानिधि और भक्तवत्सल बनगया: भारतीय आध्यात्मिक पुनरुत्थान में रामानुज का यही अश्रुतपूर्व योगदान था। इस विषय में प्राध्यापक के. वी. रंगास्वामी आयंगर ने लिखा है: "जिस ज्ञानवादी दार्शनिकता ने आत्मा के गुण-स्वभाव का नाम-निरूपण किया था उसमें रामानुजाचार्य ने एक धार्मिक पक्ष का समारोपण करके उसकी आध्यात्मिक भावना को विस्तृत लोकग्राह्य रूप प्रदान किया। उच्च कोटि की दार्शनिकता में सब जगह यह स्वीकार किया गया है कि ईश्वर घट-घटव्यापी है और उसे खोजने का जो कोई भी प्रयास करता है उसका हृदय अपार करुणा से भर जाता है जिसके सामने जाति-पांत और मतमतांतरों के बंधन टूटजाते हैं। प्राचीन परंपराओं से अपने मत का सादृश्यता स्थापित करते और अपने मुक्ति-प्राप्ति के साधन की विशदता को लोकग्राह्य बताते-हुए उन्होंने अपने अनुयायियों के लिए कैवल्य-पद सुगम बनादिया।"

जब उत्तर भारत मुसलमानों के शासन के अंतर्गत कराहरहा था तब भक्ति के शीतल निर्मल स्रोत में स्नान करके हिंदूधर्म की परिभ्रांत आत्मा को शांति मिली। भक्ति की भावना ने उसके हृदय के घावों पर मरहमपट्टी का काम किया। रामानंद, जिनका जन्म इलाहाबाद में हुआ था, एक वैष्णव सन्यासी थे और उन्होंने जनता को भक्ति का संदेश देकर उसे नैराश्य के अगाध गर्त से उबारने का प्रयास किया। उन्होंने घूमफिरकर जनता से उद्घोषित किया और उससे ईश्वर की असीम करुणा में विश्वास करने और भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण करदेने का अनुरोध किया। सांसारिक कर्तव्य-पालन में व्यस्त मानव भी भक्ति का अधिकारी बनसकता है, भक्ति से मनुष्य संकटों से छुटकारा पासकता है, ईश्वर की दृष्टि में कोई ऊंच-नीच नहीं,

परमात्मा सब की रक्षा पिता की भांति करता है---इन परिकल्पनाओं ने आर्यावर्त के हिंदुओं के हृदय में नयी आशा का संचार करदिया और वे इनकी ओर मुड़पड़े। रामानंद की कुटिया वाराणसी में स्थापित कीगयी जहां जिज्ञासु चारों ओर से आकर उनके चरणों में आश्रय प्राप्त करनेलगे। इनमें सबसे प्रतिभावान एक जुलाहा था जिसका नाम था कबीर (१३९८ ई.)।

पंद्रहवीं शताब्दी में हिंदुओं की विचारधारा पर कबीर का आश्चर्यजनक प्रभाव पड़ा। उनका भरण-पोषण एक मुस्लिम दंपति ने किया था और वह वास्तव में एक निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे :

हमारे राम-रहीम-करीमा, केसौ—अलह—राम सति सोई।
बिसमिल मेटि बिसंभर एकै और न दूजा कोई॥

वही महादेव, वही महंमद, ब्रह्मा—आदम कहिये।
को हिंदू को तुरुक कहावै एक जिमीं पर रहिये॥

रामानंद ने जिस सिद्धांत का प्रतिपादन किया वह कबीर की बानी के रूप में प्रकट होकर लोकमानस में गूंज उठा। रामानंदी पंथ जहां एक ओर 'एको ब्रह्म, द्वितीयोनास्ति' के सिद्धांत पर आधारित था, वहां दूसरी ओर भक्ति द्वारा भगवान के चरणों में आत्मसमर्पण करने और उस निर्विकार अनंत शक्ति का साक्षात्कार करने की उत्प्रेरणा पर भी केंद्रित था। इस प्रकार के धर्म में जाति-पांत को स्थान कहां मिलसकता है। इस प्रकार यदि हम गंभीरतापूर्वक विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचसकते हैं कि इस्लाम के एकेश्वरवाद और सामाजिक भाईचारे ने हिंदूधर्म में जिस उथलपुथल की आवश्यकता पैदा कर दी वह भक्ति आंदोलन के रूप में हमारे सामने प्रकट हुई। किंतु इसका सिद्धांतपक्ष गीता से उद्धृत किया गया जिसमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' का शंखनाद है और जो उस समय के लिए विशेष उपयुक्त था।

कबीर की निर्गुण विचारधारा से उस समय का धार्मिक वातावरण प्रतिध्वनित होउठा, यहां तक कि उनके परिवर्ती धार्मिक नेता भी उनकी तत्त्वचिंतनप्रणाली से प्रभावित रहे जिनमें गुरु नानक का नाम विशेष उल्लेखनीय है क्योंकि आदिग्रंथ में कबीर को महात्मा ही स्वीकार नहीं कियागया अपितु उनकी बानी को भी उद्धृत कियागया है। कबीरपंथियों ने घूमफिरकर देश में दूर दूर तक इस निर्गुणबानी का प्रचार किया। यह स्मरण रखने योग्य बात है कि रामानंद के चेलों में सोना नामक एक नाई, धन्ना नामक एक शूद्र किसान और रैदास नामक एक चमार भी था। भक्ति का उपदेश कोई ब्राह्मण सन्यासी ही क्यों न देता था उसमें जाति-पांत को फिर भी स्थान नहीं दिया जासकता था : भक्ति-संप्रदाय का तो यह नारा बनगया था—

"जाति पांत बूझै ना कोई
हरि को भजे सो हरि का होई"।

भक्तों का यह मत था कि जो व्यक्ति अनन्यभाव से भगवान की उपासना करता है वह तो भगवान-का होजाता है; उसकी जाति-पांत को फिर कौन पूछता है!

भक्तिसंप्रदाय की व्याख्या करने के लिए हजारों जिह्वाएं प्रकट हो गयीं। सबसे पहले

विद्यापति के कलकंठ से मिथिला की अमराइयों में भक्तिरस का निर्मल स्रोत बहनिकला। भगवान के चरणों में शरणागत की भावना और आत्मविस्मरण से आप्लावित उनके गीतों ने बंगाल के लोकमानस को भक्तिविह्वल करदिया। उधर चित्तौड़ की राजकुमारी मीरां, जिसकी प्रेमातिरेकी वाणी आज भी राजस्थान और गुजरात के किसानों के मन-मंदिरों को ज्योतिर्मय कररही है, अपने 'गिरिधर गोपाल' के ध्यान में तल्लीन होगयी। गीता की ज्ञानेश्वरी टीका में भक्ति का जो महत्त्व दरसायागया उससे गुजरात की पावनभूमि में धार्मिक चेतना की पुण्यसलिला बहउठी जिसमें निमज्जन करके शताब्दियों से श्रांत-क्लांत लोकहृदय प्रफुल्लित होउठा।

इस प्रकार मध्यकालीन हिंदूधर्म की भक्ति भावना विरक्ति से परिप्लावित थी और उसमें उन भावों को संग्रहीत कियागया था जो हिंदू और मुस्लिम दोनों विचारधाराओं से मेल खाते थे। भक्ति संप्रदाय के प्रतिपादन के लिए, किसी सनातनी हिंदू को इस्लाम के द्वार पर विशुद्ध एकेश्वरवाद की भिक्षा मांगने अथवा ईश्वर के सामने मानवों की आपसी समानता में विश्वास प्रकट करने की आवश्यकता नहीं थी। इस आशय के सिद्धांतों से उपनिषद् भरेपड़े थे। किंतु इस बात को मानने से इनकार नहीं किया जासकता कि मध्यकाल के धर्मोपदेशकों ने भक्तिपर जो बल दिया उसके मूल में इस्लाम की शिक्षाओं का प्रोत्साहन काम कररहा था।

मध्यकालीन भक्ति का प्रधान लक्षण संसार से वैराग्य का भाव था। सांसारिक वासनाओं को एकाएक तिलांजलि देकर भगवच्छरण लेना प्रज्ञाचक्षुओं और धर्मात्माओं के लिए कोई असामान्य कार्य न था, किंतु तत्कालीन हिंदुओं के लिए यह एक लोकग्राह्य भावना बनगयी क्योंकि उस समय उत्तर भारत के हिंदू पाशविक अत्याचारों से उत्पीड़ित होचुके थे। जब मनुष्य अपना सब कुछ गवां बैठता है, उसे पग-पग पर निराशा और पराभव की ठोकर खानी पड़ती है, और उसे संसार में कोई भी सारपूर्ण वस्तु दिखायी नहीं देती तब वह अपनी पलायनवादी भावना लेकर अनंत को ढूंढ़ने निकल पड़ता है। जब एक जनसाधारण को इस संसार में अपने हाथों कुछ लगता दिखायी नहीं देता तब वह परलोक के आश्रय की ओर निहारता है। दूसरी ओर, जब स्थिति स्ववशवर्ती होती है तब भौतिकवाद भी सामान्य धार्मिक पुरुषों के चित्त को चंचल नहीं करसकता है। इसके विपरीत जब देश पराधीन होजाता है और उसकी अंतरात्मा दब्बू बनजाती है तब उसे एकमात्र परलोक के सिद्धांत में सिर छिपाने को जगह मिलती है। भक्ति संप्रदाय के संत और प्रचारक स्वयं विरक्त और भगवद्भक्त थे और जब उन्होंने अपने घट से अपनी वाणी द्वारा अमृत उड़ेलना आरंभ किया तब जनता उसका स्वागत करने और रसास्वादन करने के लिए हाथ फैलाये खड़ी थी। यही कारण है कि पंद्रहवीं शताब्दी में भक्ति का दिव्य-संदेश देश में बिजली की तेजी से फैलगया जो वस्तुतः पलायनवाद और संसार के प्रति नैराश्य की भावना से उत्प्रेरित था। सौभाग्यवश, इसी समय संतशिरोमणि तुलसीदास ने इस सिद्धांत की सजीव व्याख्या की और उसका नाता कर्म में व्यस्त तथा गतिशील जीवन से जोड़दिया। यद्यपि वह स्वयं एक जीवन्मुक्त संत थे, फिर भी उन्होंने रामायण में भगवान के अवतार राम के रूप में कर्म के वैभव का गुणगान किया है और इस प्रकार मानव चित्त को आत्मसमर्पण

की दिशा से हटाकर कर्म की ओर मोड़दिया है। बाद में अर्जुन से लेकर गोविंद तक परिवर्ती गुरुओं ने नानक की दयार्द्र भक्ति के सरल प्रवाह को सिखों के प्रबल और गतिशील धर्म में परिवर्तित करके अपूर्व मानव-सेवा की।

यह बात जानने लायक है कि भक्ति आंदोलन का प्रादुर्भाव पहले दक्षिण भारत ही में हुआ था किंतु उत्तर भारत में उसका जो स्वरूप देखने में आया वह अपने मूलस्थान से भिन्न था। वैष्णव संप्रदाय वहां के मोक्षसाधकों का एक साधनमार्ग बनगया, और उसके प्रति जनता के हृदय में अगाध भक्ति और अटूट श्रद्धा उत्पन्न होगयी किंतु फिरभी वह एक सर्वप्रिय लोकपंथ न बनसका। इसका कारण यह कि जब वहां शक्तिशाली विजयनगर साम्राज्य स्थापित था तब जनता में राष्ट्र के प्रति पलायनवादी भावना अथवा जीवन के प्रति विषण्णता या उदासीनता उत्पन्न होना अस्वाभाविक बात थी। भक्ति का स्रोत अचानक इसी समय फूटनिकला। विजय-नगर में हिंदूधर्म के उन्नायकों के लिए धर्म मानव जीवन में स्फुलिंग की भांति ज्योतिर्मय और प्रेरणाप्रद था : वह पंख-कटे पक्षी की भांति पराजितों की मनोवृत्ति लेकर किसी शरणस्थल की खोज में न था। विजयनगर के राजाओं के भव्य मंदिरों में जिस स्थापत्यकला के दर्शन होते हैं उत्तर में उसकी कल्पना तक नहीं की जासकती। इसका एक कारण यह था कि उत्तर के हिंदू मुस्लिम-पराधीनता से विवश थे और दूसरा कारण यह था कि जहां हिंदू राज था भी, वहां लोगों की परलोक-भावना इतनी बढ़गयी थी कि उनका ध्यान इधर से हटगया था।

यद्यपि मुगलपूर्व काल में उत्तर भारत में भक्ति संप्रदाय का बोलबाला था, किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि देवोपासना के अन्य रूप विलुप्त होगये थे। काश्मीर में शैव संप्रदाय समाज के प्रत्येक क्षेत्र में फलफूलरहा था। किंतु इस समय इस संप्रदाय का कोई भी उल्लेख नीय पृष्ठपोषक यहां उत्पन्न नहीं हुआ। शाक्तमत को गुह्य रखने की भावना ने उसके प्रचार में और अधिक सहारा दिया। इस समय की अनेक तांत्रिक पुस्तकें पायीजाती हैं जिनसे सिद्ध होता है कि उस समय शाक्तमत पहले से भी अधिक प्रचलित था। जानपड़ता है कि सामान्य जीवन के कष्टों से ऊबकर ही तांत्रिकों ने अपने धार्मिक प्रतीकों और क्रियायों को इतना अशोभनीय, भद्दा रूप प्रदान किया था। तांत्रिकों में जाति-पांत का भेदभाव नहीं होता था। वे भाईचारे के एक दृढ़ सूत्र में बंधे रहते थे। उनका तांत्रिक मंडल ऊंच-नीच की भावना से कोसों दूर था। यही कारण है कि जब तांत्रिक अनुष्ठान, विनियोग और क्रियायें पतनोन्मुख होगयीं अथवा अश्लीलता की पराकाष्ठा पर पहुंचगयीं तब भी तांत्रिक मंडलों को अनुयायियों का अभाव अनुभव नहीं हुआ क्योंकि जो लोग सामान्य जीवन की परिस्थितियों में आनंद से वंचित रहते थे उनको यहां यत्किंचित् मार्ग मिलजाता था।

यहां असम के वैष्णव आंदोलन का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा। इसके कर्णधार शंकरदेव थे। शान क्षेत्र के अहोम राजाओं ने असम को जीतलिया था और इस कारण सांस्कृतिक दृष्टि से यह एक अ-भारतीय प्रदेश बनगया था। प्राचीन काल में कुमारभास्कर के कारण इसका जो ग्रंथिबंधन भारत के साथ होगया था वह अब पूर्णतः शिथिल पड़गया था दूसरे शब्दों में, यहां के लोग भारतीयता नाम की वस्तु व्यवहारतः भूलचुके थे। किंतु इस बात

का श्रेय अब शंकरदेव को देना होगा कि उन्होंने असम को भारतीय सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन के साथ आबद्ध करदिया।

शंकरदेव (जन्म १४४९ ई.) एक संभ्रांत कायस्थ कुल में उत्पन्न हुए थे और अपने जीवन में वह कृष्ण के चरणानुरागी बनगये। वैष्णव होने के नाते उनका उपदेश था :

"एक देव एक सेव, एक बिने नाइ कयू"।

उसका शब्दानुवाद यह है कि "ईश्वर एक है, भक्ति एक है, और वही एक है, अन्य कोई नहीं।" उन्होंने परिव्राजक के वेश में भारत भर का परिभ्रमण किया और वह हिंदूसंस्कृति की अखंडता के अनन्य पुजारी बनगये। उन्होंने असम प्रदेश का कोना-कोना छान डाला और जहां कहीं पहुंचे वहां अपने संदेश की अमृतवर्षा की यहां तक कि कोतच्च के राजा को अपने धर्म की दीक्षा दी। वस्तुतः उनको असम के धार्मिक पुनरुत्थान का जन्मदाता मानना पड़ेगा जहां आज भी उनका व्यापक प्रभाव दृष्टिगत होता है।

इस काल में, उत्तर भारत में जिस संत-साहित्य की सृष्टि हुई वह प्रायः अत्यंत उच्च कोटि का है। विद्यापति, कबीर, उमापति, नानक और मीरांबाई अमर कवि हैं जिनका साहित्य जीवन को निरंतर प्रेरित करता रहेगा। केशवदास और सूरदास को भी इस युग के धार्मिक कवियों की नामावली में सहज ही समुचित स्थान दिया जासकता है। किंतु यहां उल्लेखनीय बात यह है कि हिंदूदर्शन पर चौदहवीं शताब्दी में सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ दक्षिण ही में लिखेगये और उनके नाम हैं—वेदों का सायण भाष्य और मध्वाचार्य भाष्य।

अध्याय १६

राष्ट्रीय राजतंत्र की ओर

अबकी बार घोड़े की पीठ पर सवार जिस शासक ने दिल्ली में प्रवेश किया और जिसने पादशाह-ए-हिंद की उपाधि धारण की वह उन अफगान और तुर्क साहसिकों से बिल्कुल भिन्न था जिन्होंने मुहम्मद ग़ोरी के पश्चात् दिल्ली के राजसिंहासन पर क्रमशः खिलजी, तुगलक और लोदी राजवंशों को प्रतिष्ठित किया। स्वयं बाबर तैमूर के वंश में उत्पन्न हुआ था और उसकी मां चंगेज के घराने की थी--इस प्रकार मध्येशिया के दो प्रभुसत्ताधारी राजघरानों का रक्त उसकी धमनियों में संचरित होरहा था। कभी दुनिया उसके पूर्वजों के चरणों पर लोटती थी, क्योंकि उसके पुरुखों ने अपनी तलवार के जोर से उसे जीत लिया था। इस दृष्टि से, एशिया के प्रत्येक देश पर उसकी बपौती का दावा किया जासकता था बशर्ते वह किसी प्रकार उस पर अपना अधिकार स्थापित करले। कभी तैमूर ने युद्ध में विजय पाकर दिल्ली पर अपना अधिकार जमालिया था। इसलिए बाबर ने उस पर अपनी बपौती का दावा किया। उसका यह दावा, चाहे कहने-सुनने में कितना ही उपहासास्पद क्यों न हो, उसकी अपनी दृष्टि में सोलहो आने वैध प्रतीत होता था। वह फर्गाना, या काबुल या दिल्ली--किसी भी नगर में क्यों न हो, वह उपर्युक्त आधार पर सदा यही दावा करता था कि अपने ही राज्य में है। यह राज्य कुछ दिनों के लिए उसके हाथ से निकल भी गया था, किंतु अपने दुर्दम्य साहस के कारण उसे फिर प्राप्त होगया। उसकी नस-नस में राजत्व समाया हुआ था और उसके दिमाग में यह विचार निरंतर घुमड़तारहता था।

तैमूर ने थोड़े समय के लिए दिल्ली पर जो अधिकार करलिया था, यदि हम उसको छोड़ दें तो मुहम्मद ग़ोरी के बाद फिर भारत पर उसके सीमांतपार से कोई आक्रमण नहीं हुआ। अपने चीनी महामात्य की सलाह से, संयोगवश, चंगेजखां ने भारत को छोड़ दिया और उसकी बर्बर फौजें इस देश का किनारा काटकर निकलगयीं। तैमूर का आक्रमण उस समय बहुत भारी परिणामकारी होसकता था किंतु वह एक भीषण दुर्घटना मात्र बनकर रह गया। भारत पर इतने लंबे अर्से तक बाहरी आक्रमण न-होने का कारण यह था कि अफगानिस्तान का ऊपरी भाग विशाल ख्वारिजमियां-साम्राज्य का एक अंग बनचुका है जिसकी सत्ता का केंद्र मध्येशिया था और काबुल, हेरात तथा कंदहार की घाटियां उसके दूरवर्ती प्रांत होने के कारण उपेक्षित पड़े रहते थे। जब चंगेज ने उस साम्राज्य को धूल में मिलादिया और सिंधुतट पर इस्लाम की शक्ति को मंगोलों ने विनष्ट करदिया तब ये सीमांतवर्ती क्षेत्र अराजकता और गड़बड़झाला के चंगुल में फंसगये। बाद में तैमूर के रंगमंच पर आने से भी इस स्थिति में सुधार नहीं

होसका और मध्येशिया की प्रभावशाली सत्ता का केंद्र उठकर समरकंद चलागया। जो क्षेत्र बीच में स्थित थे वे राजनीतिक अस्तव्यस्तता के अभिशाप से पीड़ित होते रहे।

सन् १५०० ई. में बाबर समरकंद के राज्य का स्वामी होगया। किंतु दूसरे वर्ष ही उजबेकों ने उसे वहां से खदेड़ दिया। तीन वर्ष बाद उसने काबुल पर अधिकार जमालिया जिसे दिल्ली की विजय के लिए एक बार सैनिक अड्डे में फिर संगठित कियागया। अप्रैल १५२६ ई. में दिल्ली की सल्तनत बाबर के आक्रमण से धराशायी होगयी और तैमूर का वंशज इस साम्राज्यधारी राजसिंहासन पर आरूढ़ हुआ। दिल्ली के पतन से पंजाब भी उसके हाथ में आगया। किंतु इसके अतिरिक्त उसकी यह उपाधि अभी दंभपूर्ण थी, क्योंकि आगे चलकर उसे और उसके उत्तराधिकारियों को स्वयं विभिन्न प्रदेश जीतने पड़े। इस बात की ओर प्रायः इतिहासकारों का ध्यान नहीं जाता है कि गंगा की घाटी को छोड़कर जहां कहीं भी बाबर को प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और जिससे उसे नाक चने चुनवा दिये उसमें सीधा हिंदुओं का हाथ था। उस समय ग्वालियर पर विक्रमजीत नामक एक हिंदू राजा राज करता था जिस पर चढ़ाई के लिए शाहजादा हुमाऊं को भेजागया था। किंतु सबसे कठिन प्रतिरोधात्मक मोरचा राजपूतों का था जो मेवाड़ के नेतृत्व में राणा कुंभा के जमाने से अपना संगठन कररहे थे। कुंभा के उत्तराधिकारियों ने प्राचीन गुजरात देश के हिंदू राजाओं का एक संघटन बनालिया था। इस समय इन राजपूतों का नेतृत्व सांगा नामक एक शूरवीर राणा के हाथ में था। यह महत्त्वपूर्ण बात है कि दिल्ली के सुलतान महमूद लोदी ने बाबर का प्रतिरोध करने के लिए राणा सांगा से एक मैत्री संधि की थी। इस मैत्री-संधि से जहां एक ओर हिंदू-मुस्लिम संबंधों में परिवर्तन होने का संकेत मिलता है, वहां दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि हिंदू शक्ति का पुनरुत्थान होरहा था और दोनों धर्मों में परस्पर मैत्री-संपर्क बढ़रहा था। बियना में बाबर से हिंदू सेनाओं की टक्कर हुई जिसमें विजयश्री ने मुगल बादशाह का आलिंगन किया। यद्यपि इस पराजय से राजपूतों की शक्ति विनष्ट नहीं हुई फिरभी मुगलों को दिल्ली और लोदी सुलतान के प्रदेश पर अपना पांव जमाने का अवसर मिलगया।

सन् १५३० ई. में बाबर की मृत्यु के बाद, हुमाऊं दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठा और उसने साम्राज्य के विभिन्न प्रांतों पर मुगलसत्ता दृढ़ करनी आरंभ करदी। तभी इस बात के प्रमाण फिर सामने आने लगे कि दिल्ली-सल्तनत की सत्ता दोआबा प्रदेश से बाहर अच्छी तरह स्थापित नहीं थी। हुमाऊं ने सबसे पहले कालिंजर पर चढ़ाई की जो पिछले ८०० वर्षों से भी अधिक काल से हिंदू शासकों के अंतर्गत चला आरहा था। कालिंजर का शासक ९७८ और १००८ ई. में महमूद गजनवी से लोहा लेचुका था। कुतुबुद्दीन, अल्तमश आदि का दावा था कि उन्होंने कालिंजर राज्य को जीतकर दिल्ली-सल्तनत का एक भाग बनालिया है, किंतु आश्चर्य की बात यह कि १५३० ई. में उसी हिंदू राज्य को ध्वस्त करने के लिए हुमाऊं को एक बड़े पैमाने पर धावा बोलना पड़ा। कालिंजर की सेना ने मुगलों के दांत खट्टे करदिये जिसके कारण हुमाऊं को इस हिंदू नरेश के साथ संधि करनी पड़ी और उसे मुगल-राज्य के अमीर का एक सम्मानित पद दियागया।

इस समय उस मुगल नीति का प्रादुर्भाव हुआ जिसने आगे चलकर हुमाऊं के उत्तराधिकारियों के राज्यकाल में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त थी। कालिंजर के हिंदू राजा को एक इस्लाम राज्य का अमीर बनाना राजनीति का एक जबर्दस्त पेंच था जो इससे पूर्ववर्ती तुर्कों और अफगानों के दिमाग में कभी नहीं आसकता था। वास्तव में, यह नीति इस्लाम की उपज भी नहीं थी। इसका बीजारोपण करनेवाले मंगोल थे जिन्होंने चंगेज के उत्तराधिकारियों के समय में एक सामान्य अंतर्राष्ट्रीय नीति का निर्माण किया था जो धर्म पर आधारित न होकर विशुद्ध राजनीति पर आधारित थी। स्मरण रहे, चंगेज और उसके पुत्र दोनों के समय में येलिऊ-चुतसाई नामक महामात्य था जो चीन का एक खितान था। इसलिए किसी हिंदू शासक को मुगल-साम्राज्य का एक अमीर बनाना अब मुगलों के समझ से परे की बात नहीं थी। बाबर की भांति ही उसके अपने उत्तराधिकारी भी जन्मजात बादशाह थे और उनका ध्यान पूरी तरह से राज्य की भलाई में लगा रहता है।

पूरबी प्रांतों में हुमाऊं का प्रशासन निरंतर डांवाडोल रहा। बंगाल तो स्वतंत्र था ही और यदि अब मुगलों के इस नवनिर्मित राज्य को जीवित रहना था तो गंगा की घाटी का दमन करना आवश्यक था। यहां के अफगान राज्यपाल मुगलों के आगे गर्दन झुकाने के लिए कदापि तैयार नहीं थे। संयोगवश उन्हें शेरखां नामक एक सुयोग्य नेता मिलगया जिसने अपूर्व रण-कौशल दिखाकर हुमाऊं को युद्ध में पराजित करदिया। तैमूर का वंशज अपनी जान बचाने के लिए फिर जगह-जगह भटकने लगा, और जब वह इस दुरवस्था में राजस्थान का मरुस्थल पार कररहा था तब अमरकोट में अकबर का जन्म हुआ। हुमाऊं के जीवन के पंद्रह वर्ष निर्वासन में कटे। इसी समय शेरशाह (भूतपूर्व शेरखां) की मृत्यु होगयी। इसके दो वर्ष बाद १५५५ ई. में हुमाऊं विजयी बनकर फिर दिल्ली लौटा और अब उसके साथ में था उसका पंद्रहवर्षीय पुत्ररत्न अकबर।

निर्वासन के यह पंद्रह वर्ष मुगल और भारतीय इतिहास के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण हैं। इतिहासकार इस बात से अनभिज्ञ नहीं कि तैमूर के बाद मंगोल ईरान की संस्कृति में रंग गये थे। प्राडविन का कहना है: "उसका (तैमूर का) विश्वास था कि तूरानियों की सहायता से वह निःसंदेह ईरानियों का दमन कर सकेगा: किंतु उसने जिस ईरानी संस्कृति की रक्षा का दृढ़ संकल्प कररखा था उसने उसे अपने रंग में सराबोर कर दिया क्योंकि वह स्वयं एक अर्ध-घुमक्कड़ जाति के लोगों से अधिक सभ्य न था। उसने मध्येशिया में अपनी विजयों से जिस संस्कृति और सभ्यता का प्रसार किया वह वस्तुतः ईरानी थी"। बाबर असंदिग्धरूप से कुछ सीमा तक उस सभ्यता का प्रतिनिधि था। वह एक लेखक था, उपवन उसे भाते थे और यह जन्मजात बादशाह एक संस्कृति का दूत था। लेकिन हुमाऊं तो इस क्षेत्र में उससे भी बाजी मार लेगया था। अनेक वर्षों तक ईरानी साम्राज्य में रहने के कारण उसके उत्तराधिकारियों के साम्राज्य में ईरानीपन आना स्वाभाविक था। उसके साथ जो अमीर जाकर ईरान में रहे थे तथा ईरान से जो अमीर उसके साथ भारत आये थे वे यहां ईरानी प्रभाव की पोषक नीति के स्तंभ बनगये। इसके अतिरिक्त, यहां सुयोग्य ईरानियों का आगमन निरंतर जारी रहा, जिन्होंने

मुगल दरबार में ऊंचे-से-ऊंचा पद प्राप्त किया। निष्कर्ष यह कि अगले सौ वर्षों तक इस साम्राज्य पर उपर्युक्त दीर्घकालीन निर्वासन का बहुतकुछ रंग चढ़ारहा।

सन् १५५६ ई. में अकबर दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठा। उसे अपने बाप से भारत में जो राज्य प्राप्त हुआ था वह क्षेत्रफल की दृष्टि से दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य से और जनसंख्या की दृष्टि से निश्चय ही बंगाल और गुजरात की सल्तनतों से कम था। यह नया शासक अभी केवल बालक था और हम देख चुके हैं कि हुमाऊं के समय में मुगल अमीरों में आपसी डाह कितनी अधिक थी। उस समय किसी को मालूम तक न था कि कितना उज्ज्वल भविष्य इस नवोदित राज्य और नाबालिग बादशाह के लिए प्रतीक्षा कररहा है! विभिन्न प्रांतों की विजय, साम्राज्य का संगठन, नयी राजभक्ति का समारोपण, बादशाह का आश्चर्यजनक बहुमुखी व्यक्तित्व जिसकी छाप भारत पर हमेशा के लिए पड़गयी है—इन सबका वर्णन यहां संक्षेप ही में संभव है।

अपने शासनकाल के प्रारंभिक चार वर्षों में अकबर को एक सुयोग्य संरक्षक बैरामखां की राजभक्ति का पूरा-पूरा लाभ मिलता रहा जिसने हुमाऊं को फिर से दिल्ली के राजसिंहासन पर बैठाने में उल्लेखनीय सहयोग दिया था। किंतु १५६० ई. में अकबर ने इस पथप्रदर्शक का हाथ छोड़ दिया। बैरामखां ने साम्राज्य की सराहनीय सेवा की थी : उसने ग्वालियर पर नियंत्रण करलिया और जौनपुर को साम्राज्य की सीमा में मिलालिया था। जब अकबर ने प्रशासन की बागडोर सीधी अपने हाथ में ली तब उसके साम्राज्य में पंजाब, और बंगाल सल्तनत की पश्चिमी सीमा तक का गंगा की घाटी का प्रदेश सम्मिलित था। दक्खिन में इसकी सीमा मुश्किल से ग्वालियर को छूती थी। लगातार कई लड़ाइयों के बाद कहीं मालवा और उसका दक्खिनी प्रदेश उसके नियंत्रण में आसका। अकबर ने गोंडवाना जीत लिया, राणा प्रताप के साथ ऐतिहासिक संघर्ष करके रणथंभोर और चित्तौड़ पर अधिकार करलिया, और १५७३ ई. में गुजरात पर विजय पाने से सूरत का विशाल बंदरगाह उसके साम्राज्य का एक अंग बनगया। दो वर्ष बाद, बंगाल के सल्तनत पर धावा बोलकर अकबर ने उसे अपने साम्राज्य में मिलालिया। सारांश यह कि दिल्ली के राजसिंहासन पर आरूढ़ होने से बीस वर्षों के भीतर, जबकि अकबर पैंतीस वर्षों का भी न होगा, उसने एक विस्तृत साम्राज्य स्थापित करलिया जिसकी सीमाएं मध्येशिया से पूरब में असम तक और दक्खिन में विंध्याचल तक फैली हुई थीं। बंगाल और गुजरात के बंदरगाह साम्राज्य के लिए खुलगये थे; अब उत्तर भारत में केवल एक नन्हा प्रदेश बचा हुआ था जिसने सम्राट की प्रबल सत्ता के आगे घुटने टेकने से इनकार करदिया था—यह था एक छोटा-सा मेवाड़ राज्य जिसके राणा, उस दुर्जेय महान प्रताप, ने एक तुर्क के आगे अपना उन्नत मस्तक झुकाने के बारे में टका-सा जवाब देदिया था। और आगेचलकर उसने अपनी इस टेक की अमर कहानी को अमिट अक्षरों में अंकित कराने के लिए, चित्तौड़ के पतन के पश्चात्, दुर्गम पहाड़ियों और जंगलों में जाकर अपना प्रतिरोधात्मक मोरचा लगालिया था।

अपने अधीनस्थ प्रदेशों का, अकबर प्रभु था और उसके इस विशाल राज्य में कहीं भी कोई उसके विरुद्ध आवाज उठाने का दुःसाहस नहीं करता था। अब अकबर को अपनी नयी

नीतियों का सूत्रपात करने का अवसर मिला। स्मरण रहे, १५६२ ई. में, जब अकबर केवल २२ वर्ष का था, उसने उचित रीति से अंबर के राजपूत राजा बिहारीमल की राजकुमारी से विवाह किया था जिससे उन राजपूतों के साथ उसकी चिरस्थायी मैत्री-संधि की नींव पड़ी जिनका उत्तर भारत में सबसे अधिक शक्तिशाली राजनीति का संगठन था। सम्राट के साले के दत्तक पुत्र मानसिंह को राजदरबार में उच्च पद दियागया और स्वयं सम्राट ने उसके प्रति आदर का भाव व्यक्त किया। इस नीति के बड़े दूरगामी परिणाम निकले। पहला यह कि इससे नये साम्राज्य के संपर्क में हिंदुओं का एक शक्तिशाली भाग आगया जिसके कारण उसके विदेशी रूप में न्यूनता आगयी। अकबर का उद्देश्य एक राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना करना था जो उसकी हिंदू प्रजा को बोझिल न जानपड़े। चंगेज के वंशज कर्मणा बादशाह थे और उन्होंने यह शिक्षा अनेक देशों में रहकर ग्रहण की थी। अस्तु, हिंदू राजकुमारी से विवाह करने के बाद, अकबर ने अपने साम्राज्य भर में हिंदुओं पर से तीर्थाटन-कर उठालिया जिसे हिंदू लोग अपने धर्म पर एक निष्ठुर प्रहार मानते थे। कर हटाने का यह शाही फरमान मथुरा से जारी हुआ था। किंतु जब हम सोचते हैं कि केवल मथुरा ही नहीं अपितु वाराणसी, हरद्वार, गया, अजमेर तथा अन्य अनेक छोटे-बड़े हिंदू तीर्थ अकबर के साम्राज्य की सीमा में थे जिन सब पर यह लागू हुआ था तब उस बुद्धि-मत्तापूर्ण नीति का महत्त्व समझ में आजाता है। इसके बाद १५६३ ई. में हिंदुओं पर से जजिया उठालिया गया। इस प्रकार राष्ट्रीय राजतंत्र की स्थापना हुई। यद्यपि राजनीतिक सत्ता का उपयोग दरबारी कियाकरते थे जो प्रायः विदेशी होते थे, फिर भी अब हिंदुओं को साम्राज्य में यह अनुभव नहीं होता था कि वे केवल करदाता हैं और अपने ही देश में विदेशी हैं। यह न भूलना चाहिए कि तीर्थाटन-कर और जजिया के हटने से राज्यकोष की आय में करोड़ों रुपयों की कमी होगयी होगी क्योंकि यह राजस्व के दो प्रमुख साधन थे। किंतु अकबर का विचार था कि एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना कीजाए जो तभी संभव थी जबकि उपर्युक्त प्रकार के अनुकूल परिणामकारी कार्य किये जाएं। इसलिए उपर्युक्त निर्णय करने पड़े और उनके लिए यथेष्ट त्याग दिखानापड़ा।

अंबर राज्य के साथ मैत्री-संधि करने का दूसरा परिणाम यह निकला कि मेवाड़ का राणा अकेला रहगया। मोकल, कुंभा और सांगा शताब्दियों तक मुस्लिम प्रभुत्व का प्रतिरोध करने में लगे रहे और खून की नदियां बहाते रहे। फिर यह कैसे संभव हो सकता था कि उनका वंशज मुगलों की अधीनता स्वीकार करले। सौभाग्यवश, विदेशियों की सत्ता का प्रतिरोध करने के इस परंपरागत दृढ़ संकल्प को अबकी बार महाराणा प्रताप जैसा दुर्जेय नेता मिलगया जिसकी पुण्यस्मृति आजभी देश के हिंदू मानस में हरीभरी है और जिस पर हिंदू गौरव का मस्तक अभिमान से उन्नत है। अंबर के साथ अकबर की मैत्री-संधि से राजपूतों की एकता विनष्ट होगयी। उनमें मुगल दरबार में जाने की होड़-सी लग गयी। मारवाड़, बीकानेर के शासक भी मुगल-दरबार में आगयें जिन्हें सम्मान के साथ अपनायागया और यथोचित पद प्रदान कियेगये। अब राणा इक्कड़ पड़गया और उस पर साम्राज्य की शक्ति का पहाड़ टूट पड़ा। स्वयं अकबर ने विशाल सेना लेकर उसपर चढ़ाई करदी और चित्तौड़ पर अधिकार

करलिया। यद्यपि राजपूतों के संगठन ने राणा का साथ छोड़दिया था और उसकी हालत बहुत नाजुक होगयी थी फिरभी वीर शिरोमणि प्रताप आखिरी दम तक मोरचा लगाये रहा और मेवाड़ के ध्वज की शान को तनक भी बट्टा न लगने दिया।

मानसिंह को उच्च पद प्रदान करने के साथ ही, हिंदुओं को साम्राज्य की सेवा में बड़े-बड़े स्थानों पर नियुक्त करने की नीति चलपड़ी थी जो अब अधिक उदारता के साथ बरतीजाने लगी। टोडरमल १५७३ ई. में सम्राट के साथ गुजरात गया और उस प्रांत में भूमि-व्यवस्था की। वास्तव में, अकबर ने अहमदाबाद पर जो सप्तदिवसीय ऐतिहासिक कूच किया था उसमें उसके कुल २७ व्यक्तियों के निजी दल में १५ हिंदू सम्मिलित थे। यह जानकर आश्चर्य होता है कि उसमें तीन चित्रकार थे। इसके बाद, जब बंगाल जीतकर साम्राज्य में मिलायागया तब वहां की भूमि-व्यवस्था के लिए फिर टोडरमल को भेजागया। कुछ वर्ष बाद राजा मानसिंह साम्राज्य के एक प्रमुख अमीर होगये थे और तब उनको एक प्रमुख राजप्रतिनिधि के पद पर नियुक्त किया गया। सचमुच ही साम्राज्य का रूपरंग बहुतकुछ बदलगया था और यहां तक कि यह लोगों को स्पष्ट दिखायीदेने लगा था। जब मानसिंह ने काबुल का भार संभला, जो एक विशुद्ध इस्लाम देश था, तब तो यह बात बिल्कुल प्रत्यक्ष होगयी।

निचली दफ्तरशाही में तो सदा ही हिंदुओं की भरमार रही थी। अलाउद्दीन के समय में भी यही बात लागू होती थी। किंतु ऊंचे पदों पर हिंदुओं की नियुक्ति अकबर की अपनी नीति का परिणाम थी। अपने इस निर्णय से अकबर ने कुलीन हिंदुओं के लिए महत्त्वाकांक्षाओं का द्वार खोल दिया जो इस नये राज्य को शत्रुता की दृष्टि से न देखकर उसे अपनी उन्नति और ऐश्वर्य-प्राप्ति का साधन मानने लगे। अकबर के दरबार में जो हिंदू अधिकारी थे वे सब मानसिंह की भांति राजपरिवारों के अभिजात व्यक्ति नहीं थे। अकबर का सुविख्यात राजस्वमंत्री टोडरमल एक मध्यम वर्गीय परिवार में उत्पन्न हुआ था और अकबर का मित्र तथा सभासद बीरबल भी पहले उसी प्रकार एक मध्यवर्ग का सदस्य था। इस प्रकार योग्य व्यक्ति को योग्य पद देने की नीति ने मुगल साम्राज्य का कायाकल्प करदिया और वह एक ही पीढ़ी में इतना आगे बढ़गया कि एक राष्ट्रीय राज्य बनगया।

सम्राट की धार्मिक नीति ने उसकी इस राष्ट्रीय प्रवृत्ति को सुदृढ़ कर दिया। उसने जो इबादतगाह या पूजाघर बनवाया था उसमें पहले केवल मुसलमान मुल्ला ही प्रवेश पाते थे और वहां पर धार्मिक संलाप हुआकरते थे, किंतु १५७८ ई. में वह अन्य धर्मों के गण्यमान्य श्रद्धालुओं के लिए भी खोल दियागया। शीघ्र ही वहां धार्मिक वार्ता की पद्धति भी बदलगयी और अब वह घनिष्ठतापूर्वक श्रोताभवन में कीजाने लगी। अकबर जिन विद्वानों के पांच वर्गों से बातचीत करता था उनमें सभी धर्मों के मनुष्य होते थे और अबुलफजल का कहना है कि उनमें कुछ ही ऐसे थे जो लोक और परलोक दोनों का विषय समझते थे। इन कतिपय व्यक्तियों में हिंदू और जैन संतों को भी जगह दीगयी थी। हीराविजय सूरी का जो स्वागत अकबर के यहां हुआ और उन्हें जगद्गुरु की जो उपाधि दीगयी उसकी तुलना इसी सम्राट के महान पूर्वज चंगेज द्वारा १२२० ई. में ताओधर्मावलंबी संत चांग-चुन के सम्मान से की जासकती है।

अकबर ने नया धर्म--दीन-ए-इलाही चलाने का जो प्रयास किया वह इतिहास के पाठकों की उत्कंठा का विषय भले ही होसकता है। फिरभी, इसके अतिरिक्त, इसका इतना महत्त्व तो है ही कि उसमें इस्लाम की परंपरा से हटने की प्रवृत्ति दिखायी। तथ्य यह है कि उसका साम्राज्य सभी धर्मों और जातियों का क्रीडास्थल बनगया। ईसाई पादरियों, पारसी पुरोहितों, जैन साधुओं और हिंदू सन्यासियों को समान श्रद्धा-प्रेम से बुलाया जानेलगा, जिससे कट्टर मुल्लाओं को बड़ा क्षोभ हुआ। इसमें संदेह नहीं कि अकबर ने खुले रूप से इस्लाम की मर्यादा का उल्लंघन नहीं किया। उसके जिस तथाकथित फतवे ने मुसलमानों के आवेश की धधकती आग में घृताहुति का काम किया उसका उद्देश्य सिर्फ खलीफाओं का हस्तक्षेप दूर करना था, अन्यथा वह अपनी अंतिम सांस तक, चाहे उसका व्यक्तिगत विश्वास कुछ भी हो, इस्लाम धर्म के अनुकूल आचरण करता रहा।

अकबर की इस मेलमिलाप की नीति का मधुर फल उस समय चखने को मिला जबकि सीमांत के उस पार से उसके राजसिंहासन के लिए संकट पैदा होगया। काबुल का शासक मुहम्मद हाकिम, जो अकबर का सौतेला भाई था, भारत पर आक्रमण करके बाबर के इतिहास की पुनरावृत्ति करना चाहता था। घात पाकर बंगाल और बिहार ने भी विद्रोह करदिया, किंतु अकबर के नये साथी उसके साथ कंधे-से-कंधा मिलाकर खड़े रहे। राजपूत सैनिकों ने विश्वासघात करना सीखा ही न था और इस कारण अकबर ने अपने प्रतिपक्षियों को अनायास कुचलकर रखदिया।

काबुल के विद्रोह के बाद, यह नया राज्य निष्कंटक होगया और अपने देहावसान के समय १६०३ ई. में अकबर ने अपने पुत्र के लिए एक सुव्यवस्थित साम्राज्य छोड़ा जिस पर राज भक्ति की भावना से ओतप्रोत जनता अपने प्राण निछावर करने को उद्यत रहती थी, जिसके कोषागार में द्रव्यराशि भरी पड़ी थी और जिसके पास एक शक्तिशाली सेना थी जिसने रणक्षेत्र में कभी पराजय का मुंह नहीं देखा था। अफगानिस्तान उस साम्राज्य का एक भाग था जो विंध्याचल के उत्तर में भारत के संपूर्ण प्रदेश पर फैलाहुआ था। गुजरात और बंगाल को साम्राज्य में दृढ़तापूर्वक मिला लियागया था और सिंध जो पिछले ७०० वर्षों से भारत के इतिहास से अलग-थलग जा पड़ा था अब इस साम्राज्य के भीतर आगया था। काश्मीर भी इस साम्राज्य का एक प्रांत बनगया था। सारांश यह कि उत्तरभारत का संपूर्ण क्षेत्र इस नये राज्य के अंतर्गत आगया था।

पिछले दो सहस्र वर्षों का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि जब कभी हिंदुस्तान का संगठन संपादित होगया तब एकीकरण की प्रक्रिया दृढ़तापूर्वक दक्षिण की ओर अभिमुख हुई। इसी की झलक अकबर की नीति में भी मिलती है। अकबर की दक्षिणविषयक नीति साम्राज्य-विस्तार की लोलुपता से उद्भूत न थी वरंच ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुपेक्ष्य प्रभाव के कारण उसे इस दिशा में पग बढ़ाना पड़ा था। तालीकोट्टा के संग्राम के बाद दक्षिण की सल्तनतों में फूट फैलगयी थी और उनकी आपस में तलवार खिंचीरहती थी। यदि इन सल्तनतों ने अकबर के प्रभुत्व को मानलिया होता तो वह संतुष्ट होजाता। अकबर ने अपने

प्रभुत्वविषयक प्रस्ताव के साथ उनके दरबारों में अपना प्रतिनिधि भेजा। लेकिन इन सुलतानों ने यह प्रस्ताव ठुकरादिया और सम्राट को युद्ध के लिए ललकारा। अहमदनगर की बहादुर सुल्ताना चांदबीबी ने अकबर की फौजों का जो प्रतिरोध किया उसे देखकर लोग दांत तले अंगुली दबा उठे, किंतु अंत में १६०० ई. में अहमदनगर को मुगलों की विशाल शक्ति के सामने घुटने टेक देनेपड़े। अब दक्षिण के मोर्चे का श्रीगणेश होचुका था।

अकबर ने अपने उत्तराधिकारियों के लिए जिस त्रिसूत्री नीति की वसीयत की वह इस प्रकार थी: पहला सूत्र, राष्ट्रीय राज्य का अक्षुण्ण स्वरूप रखाजाए; दूसरा, हिंदुओं से मेलमिलाप बनारहे; और तीसरा, भारत का एकीकरण कियाजाए। उसके बाद ही जिन तीन उत्तराधिकारियों ने शासनसूत्र संभाला उनकी नीतियों का अध्ययन इस त्रिसूत्री आधार पर किया जासकता है। प्रथम दो सूत्रों का परिपालन, सच्चे हृदय से न सही, जहांगीर और शाहजहां ने किया, किंतु औरंगजेब ने जानबूझकर उनकी खाल उधेड़डाली जिसके परिणामों पर हम आगे चलकर विचार करेंगे। अंतिम सूत्र अर्थात् भारत के एकीकरण के विषय पर वे तीनों दृढ़ रहे, किंतु वे उसमें कभी पूरी तरह सफल न हो सके। दक्षिण-विजय के युद्धों का तांता अटूट बनारहा जिसके कारण साम्राज्य की धन और जन-शक्ति क्षीण होगयी, यहां तक कि स्वयं आलमगीर के प्राण-पखेरू जब उड़े तब वह दक्षिण ही में था। इस पीढ़ी-पर-पीढ़ी चलनेवाले संग्राम का मूल कारण भारतीय एकता का सिद्धांत था।

अकबर के बाद उसका बेटा सलीम जहांगीर की शाही उपाधि धारण करके राजसिंहासन पर बैठा। वह पहले कट्टर मुसलमानों के हाथ का एक खिलौना था जिनको संतुष्ट करने के लिए वह यहां तक चलागया कि उसने अकबर के मित्र, इतिहासकार और आध्यात्मिक परामर्शदाता अबुलफजल के बध का आदेश दिया। किंतु बादशाह बनने पर उसने अपने पिता के पदचिह्नों का अनुशीलन करने की ठानी और केवल दीन-ए-इलाही के गोरखधंधे को छोड़कर उसने अपने पिता की सभी नीतियों को अपना लिया। यद्यपि वह स्वयं पक्का मुसलमान था फिरभी वह हिंदू संतों के दर्शन करने जाता तथा उनके प्रति बड़ी श्रद्धा-भक्ति प्रकट करता था। उसने स्वयं इसका उल्लेख अपने संस्मरणों में किया है। उसने राजपूतों के साथ मैत्री-संधि और अधिक दृढ़ की और दक्षिणविषयक नीति को कार्यपरिणत करने में लगारहा, किंतु उसमें विशेष अभिरुचि और जागरूकता की भावना नहीं दिखायी। नूरजहां और उसके परिवार के कारण, जहांगीर के दरबार में ईरानियों की पहुंच और भी बढ़गयी और उनका प्रभाव अधिक स्पष्टरूप से सामने आने लगा।

जब शाहजहां अपने पिता जहांगीर के बाद राजसिंहासन पर बैठा तब उसने दक्षिण की नीति कार्यपरिणत करने में साम्राज्य की शक्ति और अधिक लगादी। जहांगीर के शासनकाल में, दक्षिण की सल्तनतों ने मलिक अंबर के साहस और बुद्धि का सहारा लेकर मुगलों के विरुद्ध एक संगठित प्रतिरोधात्मक मोर्चा खड़ा करलिया था। सन् १६३३ ई. में शाहजहां ने दक्षिण पर धावा बोलदिया और दौलताबाद को जीतकर वहां के राजवंश के अंतिम सुलतान हुसैनशाह के पकड़लिया। अब बीजापुर और गोलकुंडा के सुलतान रहगये थे। अब की

बार सम्राट स्वयं मोरचे पर जापहुंचा और दोनों राज्यों पर एक साथ धावा बोलदिया। गोलकुंडा के सुलतान ने तो घुटने टेक दिये और सम्राट की प्रभुता शिरोधार्य करली, किंतु बीजापुर के आदिलशाही सुलतान झुकनेवाले न थे। उन्होंने अपना प्रतिरोध जारीरखा। किंतु अंत में आदिलशाही सुलतान को मुगल–सम्राट की प्रभुसत्ता स्वीकार करनी ही पड़ी और शाहजहां फिलहाल इतने ही से संतुष्ट होगया। किंतु भारत के सीमांत के बाहरी प्रदेशों पर इस सम्राट को इतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई। उसने बलख पर यह बहाना लेकर कि यह उसके पूर्वजों का राज्य था, चढ़ाई कर दी, किंतु इसमें काफी क्षति उठाने के बाद उसे अपना-सा मुंह लेकर काबुल लौटआना पड़ा। भारत की रक्षा की कुंजी कंधार (कंदहर) उसके हाथ से निकलकर ईरानियों के पास चलागया। इन दो दुर्घटनाओं को छोड़कर, जो साम्राज्य उसे अपने पिता से मिला था उसपर उसकी सत्ता अक्षुण्ण बनीरही।

मुगल बादशाहों को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था; किंतु इस क्षेत्र में उनमें से कोई भी शाहजहां की बराबरी नहीं कर सकता। सौ वर्षों की शांति और समृद्धि के कारण मुगल साम्राज्य अपने समय में दुनिया का सबसे धनवान राज्य होगया था। इससे शाहजहां को भवन बनवाने के अपने अरमान पूरे करने का मौका मिलगया। उसने जो सुंदर भवन बनवाये उनकी गणना में आगरा के ताजमहल, दिल्ली के लालकिले, जामा मसजिद और मोती मसजिद के नाम सबसे ऊपर आते हैं। सम्राट को तड़कभड़क बहुत भाती थी जिसकी अभिव्यक्ति उसके समय की अप्रतिम स्थापत्यकला ही में नहीं हुई है अपितु वह तख्त-ए-ताऊस की परिकल्पना से भी फूटनिकली है जिसके सौंदर्य पर अनेक विदेशी दर्शक मुग्ध हो गये हैं।

यद्यपि शाहजहां एक कट्टर मुसलमान था और कुछ मंदिरों, विशेषकर बीरसिंह बुंदेला द्वारा निर्मित मंदिर, को खंडहर करने का कलंक उसके माथे लगाहुआ है फिरभी उसने अपनी हिंदू प्रजा को संतुष्ट रखा और उसे अन्यमनस्क न होने दिया। सुतरां, उसने राजपूतों की मैत्री-संधियों को भलीभांति निबाहा। अब साम्राज्य की सेवा में अकबर के जमाने से कहीं अधिक हिंदू कर्मचारी थे और उसका उपराजस्वमंत्री राजा रघुनाथ एक खत्री था जो छोटे पद से काम करते-करते इस ऊंचे पद पर पहुंचा था। अब उसका पुत्र औरंगजेब दक्षिण का राज-प्रतिनिधि था तब शाहजहां ने उसे पत्र भेजकर उसकी इस नीति की तीव्र भर्त्सना की थी कि वह हिंदुओं के प्रति किसी प्रकार की वैमनस्यता का बर्ताव करे। शाहजहां ने राज्य के राष्ट्रीय स्वरूप की पूर्णरक्षा की और इसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि अब औरंगजेब ने सम्राट के लिए विद्रोह करदिया था तब उसके दमन के लिए जो शाही सेना गयी थी उसकी कमान जोधपुर के राजा जसवंतसिंह राठोर को सौंपीगयी थी।

जो औरंगजेब अपने पिता को राज्यच्युत करके और अपने भाइयों के लहू से हाथ रंगकर राजसिंहासन पर बैठा वह अपने पुरखाओं से भिन्न प्रकृति का सम्राट था। संभवतः वह सभी मुगल सम्राटों से अधिक योग्य था। वह रण-कुशल सेनापति और अच्छा प्रशासक भी था जो स्वयं साम्राज्य-संगठन के अंग-प्रत्यंग पर अपनी कड़ी दृष्टि रखता था। उसने प्रारंभ ही से साम्राज्य को इस्लाम राज्य बनाने का दृढ़ निश्चय करलिया था। उसको अकबर की राष्ट्रीय

राज्य-की नीति इस्लाम के विचारों के प्रतिकूल जंचती थी। अभी वह केवल एक राजकुमार ही था कि उसने हिंदुओं के प्रति अपनी वैमनस्यता जताने का एक प्रत्यक्ष काम कर दिखाया: उसने १६९४ ई. में अहमदाबाद के चितामणि मंदिर को छूत करडाला। वह स्वभावतः बड़ा ही जागरूक था और अपनी नीति को धीरे धीरे आगे बढ़ाता था। उसने सबसे पहले कुछ ऐसे सुधार आरंभ किये जो देखने में बड़े ही साधारण और निर्दोषपूर्ण लगते थे; जैसे उसने पहले मुसलमानों के नैतिक आचार-व्यवहार पर जोर दिया और जो बातें अहले-इस्लाम में इस्लाम के प्रतिकूल पायीजाती थीं उसके लिए उसे दंड दियाजाता था। वह किसी मुसलमान को इस्लाम-विरोधी विचारों के लिए दंड देने से न चूकता था। इस प्रकार उसने इस्लाम कट्टरवादिता को फिर उभार दिया। अपने शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष में उसने दरबार से संगीत का जनाजा निकलवाया। दरबार में जो हिंदू रीति-रिवाज चलपड़े थे उनको भी विदा करदिया। उदाहरण के लिए, सम्राट को सोने से तोला जानेलगा था और राजाओं के मस्तक पर राज्याभिषेक के अवसर पर तिलक लगायाजाता था—इस प्रकार के चलन बंद करदिये गये। यद्यपि इन बातों से हिंदुओं में खलबली मचगयी फिरभी कोई ठोस कदम उनके विरुद्ध उठता दिखायी नहीं दिया। अलबत्ता यहां-वहां कुछ मंदिर अवश्य ध्वस्त कियेगये थे। किंतु आगे चलकर १६६९ ई. में हम देखते हैं कि आलमगीर ने फरमान जारी किया कि "काफिरों के तमाम मंदिरों और विद्यालयों को खंडहर कर दियाजाए।" फिर क्या, मंदिर ढाहने की अंधाधुंध नीति बरती जाने लगी। औरंगजेब के धर्म-विद्वेष की विषवेल चारों ओर फूटपड़ी और जगह-जगह जो मंदिर के बाद मंदिर गिरायेगये उनमें इन तीनों—काशी का विश्वनाथ मंदिर, मथुरा का केशवराय मंदिर और सोमनाथ का ध्वंसावशिष्ट मंदिर—के नाम गिनाना पर्याप्त होगा।

इसी दमनचक्र के अंतर्गत १६७९ ई. में, आलमगीर ने हिंदुओं पर फिर वही जजिया टांक दिया जो, अब एक सौ वर्षों से भी अधिक समय बीता, सम्राट अकबर ने अपनी राष्ट्रीय राज्य की नीति के अनुसार उठालिया था। औरंगजेब ने अकबर की इस नीति के प्रति उलटी गंगा बहाने पर कमर कसली। हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अंतर दिखानेवाले और भी करारोपण हुए। उदाहरणार्थ, सीमाशुल्क केवल अ-मुस्लिमों को देनापड़ता था।

इसमें संदेह नहीं कि अपनी इन नीतियों को कार्यपरिणत करने में सम्राट को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। छोटे-छोटे पदों पर प्रायः सभी कर्मचारी हिंदू थे और साम्राज्य का दैनिक प्रशासन तो हिंदू कानूनगो, पेशकार तथा अन्य निचले अधिकारियों पर बहुतकुछ निर्भर था। लाचार होकर, अंत में, औरंगजेब ने इन हिंदू अधिकारियों के स्थान में मुसलमानों की नियुक्तियों का आदेश जारीकिया। किंतु उसका यह प्रयास अरण्यरुदन की भांति विफल गया। मुसलमानों में इतने अधिक कर्मचारी कहां थे जिनसे हिंदुओं की पूर्ति की जासकती? हताश होकर सम्राट को अपने आदेश में संशोधन करनापड़ा तथा आधे पेशकार हिंदू ही बनेरहे, और हिंदू कानूनगोओं को मुसलमान बनने के लिए प्रोत्साहित किया गया।

जजिया के लगने से, १६८० ई. तक, अकबर के स्वप्न का राष्ट्रीय राज्य विलुप्त होगया और औरंगजेब के इस मूलोच्छेदनकारी प्रयास के विरुद्ध क्या भावना फैलचली थी उसकी

झलक शिवाजी द्वारा सम्राट के नाम लिखेगये पत्र में मिलती है :

"यह बात मेरे कान तक अभी पहुंची है कि मेरे साथ युद्ध करने के कारण आपकी समृद्धि का अवसान और आपका कोषागार खाली होगया है। इसलिए शहंशाह ने हिंदुओं पर जजिया लगाकर धन वसूल करने का हुक्म दिया है ताकि उस धन से शाही आवश्यकताओं की पूर्ति की जासके। जहांपनाह जो कुछ भी करें उनकी मर्जी। किंतु इस साम्राज्यरूपी भवन के निर्माता अकबर पादशाह ने ५२ संवत् भर पूर्ण राजकीय वैभव का उपभोग किया था। फिर भी उन्होंने सदा ही विभिन्न संप्रदायों के संबंध में पूर्ण सौमनस्यता के व्यवहार की नीति अपनायी थी। उनके उदार हृदय में यही सदुद्देश्यपूर्ण भावना विद्यमान थी कि तमाम खलकत अपनी है। इसलिए वह दुनिया के आध्यात्मिक पथप्रदर्शक की उपाधि से समलंकृत होकर जगद्विख्यात होगये। इसके बाद नूरुद्दीन जहांगीर ने २२ वर्षों तक इस दुनिया और इसके निवासियों पर अपनी सुखदायी छत्रच्छाया की, अपने दोस्तों को अपना दिल दिया और अपना काम अपने हाथ में लिया और अपनी मुराद पूरी की। शहंशाह शाहजहां ने ३२ वर्षों तक सुख-समृद्धिपूर्ण छाया की।

"इस सद्बुद्धि का यह मंगलकारी परिणाम दीखने में आया कि जहां भी उन्होंने अपनी सद्भावना से दृष्टि डाली वहां विजयलक्ष्मी उनका स्वागत करने के लिए मार्ग ही में आखड़ी हुई...। इन शहंशाहों की शक्ति और सल्तनत क्या थी, यह बात सहज ही समझ में आसकती है जब हम देखते हैं कि आलमगीर पादशाह अपने पूर्वजों की निर्धारित राजप्रणाली को अपनाने के प्रयासमात्र में असफल होगये हैं और गोरखधंधे में फंसे व्यक्ति की भांति परेशान जानपड़ते हैं। पहले पादशाहों को भी जजिया लगाने का अधिकार प्राप्त था, किंतु धर्मांधता की हवा उनके हृदयों को छूकर तक न निकली थी क्योंकि उनकी दृष्टि में छोटे और बड़े—सभी एक ही ईश्वर के बनायेहोने के कारण समान थे...।

"फिर वह शाही मिज़ाज आपको कैसे इजाज़त देसकता है कि इस दुरवस्था में जजिया लगाकर हिंदुओं के सिरपर और संकट का पहाड़ गिरा दियाजाए। आपकी यह बदनामी पच्छिम से पूरब तक तेजी से फैलजाएगी और इतिहास के ग्रंथों में लिखीजाएगी कि हिंदुस्तान का शहंशाह मानों भिखारी का खप्पर लिये ब्राह्मणों, जैनमुनियों, योगियों, सन्यासियों, वैरागियों, आदि से जजिया मागता है और वह तैमूर के वंशजों के नाम और सम्मान को मिट्टी में मिलारहा है।"

इस उल्लेखनीय पत्र का अंतिम अंश है :

"यदि आप समझते हैं कि धार्मिक निष्ठा का अर्थ जनता को उत्पीड़ित करना और हिंदुओं को सताना है तो आपको जजिया सबसे पहले राणा राजसिंह से उगाहना चाहिए जो हिंदुपति हैं। तब फिर यह कर मुझसे लेना बहुत कठिन नहीं होगा क्योंकि मैं तो आपकी सेवा में सदा ही हाजिर रहता हूं। किंतु यह बात बहादुरी और मर्दानगी के खिलाफ है जो कि (आप) चीटियों और मक्खियों पर हाथ डालते हैं।

"मुझे आपके अधिकारियों की वफादारी पर ताज्जुब होता है कि वे आपको सूरते-हाल का कच्चा चिट्ठा सुनाने की पर्वाह नहीं करते और जलती आग को फूस से ढकते हैं।"

इस पत्र में महत्त्वपूर्ण बात केवल यह नहीं कि इसमें जजिया के प्रति निर्भीक शब्दों में विरोध प्रकट कियागया है अपितु यह भी है कि इसमें अकबर के राष्ट्रीय राज्य के सिद्धांत की मार्मिक शब्दों में व्याख्या कीगयी है। यह इस आशय का एक ज्वलंत प्रमाण है कि पिछले सौ वर्षों की अवधि में इसकी जड़ें हिंदू मस्तिष्क में कितनी गहरी धंस चुकी थीं और हिंदू तथा मुसलमान दोनों समानरूप से जजिया के आरोपण को अकबर की नीति का विपर्यय मानते थे।

इस प्रकार की किसी प्रतिकूल नीति का हिंदुओं द्वारा अत्यंत व्यापक विरोध कियाजाना एक स्वाभाविक बात थी। जजिया लगाने से हिंदुओं के हृदयों में विक्षोभ की जो आग धधक रही थी उसमें एक अन्य घटना ने घृताहुति का काम किया। बात यह थी कि सम्राट औरंगजेब ने मारवाड़ के महाराजा जसवंतसिंह के उत्तराधिकारी को मान्यता न–देने का निर्णय किया। स्मरण रहे, जसवंतसिह अपने समय में मुगल-साम्राज्य के सबसे बड़े पृष्ठपोषक-अधीनवर्ती राजा और शक्तिशाली राठौरवंश के मुकुटमणि थे। इससे वह मुगल-राजपूत मैत्री-संधि टूटगयी जिसकी सुदृढ़ आधारशिला पर विशाल मुगल-साम्राज्य खड़ाहुआ था। मेवाड़ के राणा और अन्य राजपूत सरदार ताड़गये कि ऊंट अब किस करवट बैठने जारहा है। उन सबों ने संगठित होकर एक बारगी साम्राज्य को धरललकारा। इससे राजस्थान में युद्ध की चिनगारी फूटपड़ी किंतु इसी समय उधर दक्षिण में अचानक मराठों ने सिर उठाना आरंभ किया। वस्तुतः इन दोनों संघर्षों ने साम्राज्य की ईंट से ईंट बजादी। मारवाड़ के स्वातंत्र्य-युद्ध से, जिसका नायक दुर्गादास था, संसार की आंखें खुलगयीं कि उस साम्राज्य की सैनिक शक्ति कितनी दुर्बल होती है जो जनता का हार्दिक समर्थन गवां-बैठता है और कई मोरचों पर एक साथ उलझा होता है ?

अब राजस्थान पर जो चढ़ाई कीगयी उसका उद्देश्य विद्रोही अधिकारवर्ती राजाओं को केवल दंड देकर उन्हें फिर-से अपने काबू में लाना था। उसे सबसे अधिक चिंता दक्षिण की थी जहां एक नयी शक्ति सिर उठारही थी। बहुत दिनों की बात है, जब वह स्वयं दक्षिण का प्रशासक था तब एक युवक मराठा सरदार, जिसका नाम शिवाजी था और जो बीजापुर सल्तनत के एक सैनिक अधिकारी का बेटा था, कुछ नाम कमाचुका था। उसने बीजापुर के सामरिक महत्त्व के सीमांतीय दुर्गों पर अधिकार करलिया था; और बीजापुर सल्तनत के एक मुख्य सेनापति की कमान में जो अभियान दल उसका दमन करने के लिए आया था, उसको जिस सर्वनाश के मुख में जानापड़ा उससे 'गये थे हरिभजन को औटन लगे कपास' की लोकोक्ति का व्यावहारिक रूप आंखों के सामने नाचने लगा था। बीजापुर दरबार और उसके अड़ियल जागीरदार के बीच जो संघर्ष छिड़ा उसके कारण शिवाजी को दक्षिण के मुगल-राज्यपाल से समझौता-वार्ता करनी पड़ी और इसप्रकार वह मुरादबख्श के चित्त में चढ़ गये (१६४८ ई.)।

सन् १६५० ई. में औरंगजेब अपने भाई के स्थान में दक्षिण का राज्यप्रतिनिधि अर्थात्

प्रशासक नियुक्त हुआ। इस समय दो दिग्गज विरोधी आमने-सामने आडटे--एक था कठोर और दृढ़ इस्लाम का उन्नायक और दूसरा था समर्थ रामदास का चेला जिसने हिंदुओं की मुक्ति को अपने जीवन का चरम लक्ष्य निर्धारित करलिया था। सन् १६४९ ई. तक शिवाजी एक बहादुर युवक के रूप में सामने आगये जिसके अंतःकरण में सनातन हिंदुत्व के गौरव की भावनाएं उछलकूद मचारही थीं; किंतु वह स्थानीय महत्त्वाकांक्षाओं से ऊपर उठने की बात नहीं सोचता था और न उसके हृदय में अभी राष्ट्रीय भावना ही उदित हुई थी। उसी वर्ष उसका दो भव्य पुरुषों से साक्षात्कार हुआ--इनमें एक थे महाराष्ट्र के संतकवि तुकाराम जो जाति के बनिया थे और जो गृह-परित्याग करके भगवद्भक्ति में तल्लीन होगये थे। वह घूमफिरकर भगवान के गुणानुवाद कियाकरते थे और अपनी सरस वाणी से लोगों को आनंद विह्वल करदेते थे। दूसरे थे धर्मगुरु रामदास जिन्हें महाराष्ट्र में धार्मिक पुनरुत्थान का प्रतीक माना जासकता है।

महाराष्ट्र देश उन प्राचीन परंपराओं का प्रहरी बनारहा है जो उसे अपने पुरखाओं से धरोहर के रूप में उपलब्ध हुई है। सातवाहन राजाओं के समय से लेकर देवगिरि के यादवों के पतन-काल (१३११ ई.) तक महाराष्ट्र प्रदेश हिंदू संस्कृति का प्रांगण बनारहा है। यद्यपि तीन शताब्दियों के मुस्लिम शासनकाल में (बहमनी और बीजापुर सल्तनत) उनका वह वैभव, जिसके अंतर्गत अजंता और एलौरा की गुफाएं निर्मित हुई थीं और चालुक्यकालीन स्थापत्य-कला का आविर्भाव हुआ था, स्वप्न की कहानी बन गया और वहां की जनता आर्थिक दृष्टि से नीचे गिर गयी, फिर भी युवान-च्वांग ने सातवीं शताब्दी में यहां के लोगों में दृढ़ता, ईमानदारी और अध्यवसाय के जो गुण देखे थे वे अबतक बनेहुए थे। बीजापुर सल्तनत ज्यों-ज्यों खोखला होती गयी त्यों-त्यों वहां मराठों का प्रभाव बढ़तागया और वहां छोटे-छोटे भूमिपति तो हमेशा हिंदू ही रहे।

सोलहवीं शताब्दी में जिस हिंदू धार्मिक चेतना का पुनरुत्थान हुआ उसका वर्णन हम आगे चलकर करेंगे। किंतु उसके राजनीतिक प्रतिघातों का यहां उल्लेख करना अभीष्ट है। हम पहले देखचुके हैं कि तीन सौ वर्षों तक निरंतर संघर्ष करने पर भी शत्रु हिंदू स्वातंत्र्य-भावना का दमन करने में असफल रहे। तालीकोट्टा के युद्ध में दक्षिण के मुस्लिम शासकों को एक उल्लेखनीय विजय अवश्य प्राप्त हुई थी, किंतु फिर भी पराजित रामराजा के उत्तराधिकारियों ने पेणुकोंडा से शासन करना जारीरखा और वे सोलहवीं शताब्दी के मध्यकाल तक एक शक्तिशाली साम्राज्य के अधिपति बनेरहे। वेंकट द्वितीय (१५८४–१६१४ ई.) के शासनकाल में साम्राज्य ने बहुतकुछ अपनी प्राचीन सत्ता और समृद्धि फिर वापस करली और मुसलमानों से दक्षिण की ओर पैर फैलाने से रोकदिया। उत्तर में अकबर की नीति के कारण हिंदू राष्ट्रवाद के पास अपना कोई नेता नहीं रहा; किंतु राजपूतों ने साम्राज्य का जो साथ दिया उससे उनको स्वयं यह लाभ पहुंचा कि उनकी अपनी शक्ति उत्तरोत्तर बढ़तीरही जिसका परिचय औरंगजेब को तब मिला जब उसमें राजस्थान को जीतने के लिए रण-दुंदुभि बजायी थी।

इसी शताब्दी के मध्यकाल (१६५० ई.) तक विजयनगर के राजाओं की केंद्रीय शक्ति

बिल्कुल छिन्नभिन्न होगयी और कोई प्रत्यक्ष राष्ट्रीय नेता हिंदू राजनीतिक स्वतंत्रता का नामलेवा नहीं रहा। समर्थ रामदास ने शिवाजी के कान में जो गुरुमंत्र फूंका उससे नयी स्फूर्ति पाकर हिंदुओं की चोटी बचानेवाला यह मराठा वीर उस रिक्त स्थान की पूर्ति के लिए स्वप्न देखने लगा। इसी समय सम्राट औरंगजेब का ध्यान बीजापुर पर केंद्रित था: इस राज्य में बरार भी समेट लियागया था और उसके ओतोमन-वंशी सुल्तानों ने अपना प्रभाव अरब सागर से लेकर बंगाल की खाड़ी तक फैलालिया था। पश्चिम के अधिकांश व्यापारी अड्डों का काम इसी सल्तनत के बंदरगाह देते थे, इसलिए इसकी समृद्धि भारत में चोटी पर पहुंचगयी थी। बीजापुर नगर के सौंदर्य पर आगरा भी निछावर होता था। यहां के सुल्तानों में अपने दो सौ वर्षों के शासनकाल में इस नगर को सुंदर भवनों, आदि से इस प्रकार सजाया था कि राजधानी का भ्रमण करने के लिए आनेवाले लोग उसे देखकर मंत्रमुग्ध-से होजाते थे। इसकी शान और वैभव को देखकर इसे भारत का कुस्तुनतुनियाई साम्राज्य कहा जासकता है। जब औरंगजेब दक्षिण का राजप्रतिनिधि था तब इसकी दशा बिगड़ गयी जिसका मुख्य कारण बीजापुर सल्तनत के दरबार के अपव्यय की प्रवृत्ति थी। भारत के एकीकरण के उद्देश्य से मुगलों ने नर्मदा और विंध्याचल पार किया और वे दानवीय मंतव्य लेकर आगे बढ़ते चलेगये। इसके अतिरिक्त कट्टर सुन्नी मुसलमान, औरंगजेब का, एक अपना लक्ष्य भी था: वह बीजापुर के विरुद्ध युद्ध करके वहां के काफिरों को विनष्ट कर देना चाहता था। बीजापुर के सुल्तान ओतोमन के वंशज अवश्य थे, किंतु वे शिया मुसलमान थे। औरंगजेब ने बीजापुर को ध्वस्त करने की प्राण-पण से चेष्टा की, किंतु बिफल रहा। इसी समय उसे सम्राट शाहजहां की बीमारी का समाचार मिला और उसने तुरंत उत्तर भारत के लिए प्रस्थान करदिया। निदान, इस समय एक ऐसी घटना हुई जिसने उसकी भावी उलझन का संकेत करदिया। बात यह थी कि जब औरंगजेब बीजापुर के युद्ध में फंसा हुआ था तब उसने शिवाजी की ओर कोई ध्यान नहीं दिया। किंतु शिवाजी ने अवसर पाकर उसकी (राजप्रतिनिधि की) राजधानी अहमदनगर पर आक्रमण कर दिया और उसकी अपनी घुड़साल से एक हजार घोड़े उभाड़ लेगया। जब औरंगजेब उत्तर भारत के लिए प्रयाण कररहा था तब वह अपने अधिकारियों के नाम हिदायत करता गया था कि वे "इस कुत्ते-के बच्चे पर अपनी आंख रखें जो सिर्फ अपने मौके के इंतजार में है"।

जब औरंगजेब उत्तर में जाकर फंसगया तब शिवाजी को वह मौका मिलगया जिसकी तलाश में वह बहुत दिनों से था। उसने इस बीच में बीजापुर से अपना झगड़ा निबटालिया और महाराष्ट्र पर अपना पंजा सुदृढ़ करलिया। सन् १६६२ ई. में बीजापुर सल्तनत ने शिवाजी की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी। इस प्रकार जब (१६६३ ई.) सम्राट को दक्षिण की ओर फिर ध्यान देने का अवसर मिला तब वह क्या देखता है कि उसके अधिकारियों को अब वहां एक गौरवशाली और प्रभावशाली स्वतंत्र राजा से टक्कर लेनी है। औरंगजेब कच्ची गोली खेलनेवाला आदमी न था; उसने परिस्थिति को अच्छी तरह भांप लिया और अब शिवाजी का सामना करने के लिए उसने जो मुगल-सेना भेजी उसका सेनापति उसका खास चाचा शायस्ताखां

था जो साम्राज्य का सबसे सम्मानित मुस्लिम अमीर था। लेकिन शायस्ताखां की शिवाजी के आगे एक न चली और शाही सेना भीषण विनाश के मुख में जापड़ी। इसके बाद सम्राट ने अपने पुत्र मुअज्ज़म को सेनापति बनाकर भेजा, लेकिन उसे भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली। तब १६६४ ई. में औरंगजेब ने, अपनी इच्छा के विपरीत, अपनी सेना के सबसे योग्य सेनापति राजा जयसिंह को दक्षिण के मोरचे पर भेजा। शिवाजी ने 'जैसी चले बयार, पीठ तब तैसी दीजे' की नीति का अनुसरण करके जयसिंह के कहने से आगरा चलने का बुलावा स्वीकार करलिया। राजा जयसिंह ने उन्हें सद्व्यवहार का आश्वासन दिया। किंतु आगरा के दरबार में पहुंचने पर उनको बंदी बनालिया गया। औरंगजेब अपनी इस चतुराई पर फूला न समाता था कि उसने मराठा-समस्या सफलतापूर्वक हल करली है। किंतु पहाड़ी चूहा बड़ी चालाकी से पहरेदारों की आंखों में धूल झोंककर नजरबंदी से निकल भागा और आनन-फानन अपने प्रदेश में सुरक्षित जापहुंचा। अब सम्राट ने कमान में परिवर्तन कर दिया, वहां नयी कुमुकें भेजीं परंतु इनसे कोई लाभ नहीं हुआ। फिलहाल इधर औरंगजेब के हाथ उत्तर की समस्याओं में उलझगये और उधर महाराष्ट्र की जनता ने एकमत होकर शिवाजी का राज्याभिषेक करदिया। शिवाजी समय की गंभीरता से अनभिज्ञ नहीं थे। वह खूब समझते थे कि ज्यों ही औरंगजेब को उत्तर की उधेड़बुन से छुट्टी मिलेगी त्योंही वह साम्राज्य की विशाल वाहिनी को उसके नन्हें राज्य के विरुद्ध झोंकदेगा। इसलिए उसने दक्षिण की एक रक्षापंक्ति बनायी और कर्नाटक क्षेत्र को जीतकर भूतपूर्व विजयनगर साम्राज्य के गिंजी स्थान में अपने राज्य की एक दूसरी राजधानी स्थापित की। जब वह १६८० ई. में परलोक सिधारा तब वह निःसंदेह दक्षिण का राजा था जिसकी ओर मुगलों का आक्रमण होने की दशा में बीजापुर और गोलकुंडा दोनों सहायता के लिये ताक रहे थे।

शिवाजी ने मुगलसाम्राज्य से युद्ध करके अपने समकालीन लोगों पर जो प्रभाव डाला था उसका आभास ईरान के शाह के उस पत्र से मिलता है जो उसने औरंगजेब को लिखा था। शाह अब्बास ने लिखा था: "मुझे पताचला है कि भारत के अधिकांश जमींदारों ने विद्रोह करदिया है। उनमें एक सबसे प्रमुख नापाक काफिर शिवा है जिसका अभी तक कोई नाम भी न जानता था, लेकिन अब वह आपके पास साधनों की कमी और आपकी फौजों को पीछे हटते देखकर, पहाड़ की चोटी की भांति सबकी आंखों के सामने प्रस्तुत हो गया है। उसने अनेक किलों पर कब्जा करलिया है, आपके अनेक सैनिकों को मौत के घाट उतार दिया या बंदी बना-लिया है, उसने उधर देश के एक बड़े भाग पर कब्जा भी कररखा है, आपके अनेक बंदर-गाहों, नगरों और गावों को लूट-खसोट लिया और तहस-नहस करडाला है और अब अंत में आपसे जूझना चाहता है।"

शिवाजी के मरने के बाद राजसिंहासन के लिए जो झगड़े उठखड़े हुए और मराठा दरबार में षड्यंत्रों की जो बाढ़सी आगयी उनसे औरंगजेब ने यह निष्कर्ष निकाला कि मराठा-समस्या अब एक साधारण चीज होगयी है। वह सीमांत पर उद्धत कबीलेवालों के संघर्ष से अधिक गंभीर नहीं। उनका दमन करना आवश्यक है, किंतु कृष्णानदी पार दक्षिण की ओर बढ़ने के

कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं करना चाहिए। अब औरंगजेब ने सड़ासी-जैसी गतिविधि अपनायी। उधर उसने बीजापुर पर मोरचे की सरगर्मी बढ़ादी और इधर शिवाजी के उत्तराधिकारी शंभु पर निर्दयतापूर्वक दवाब डालना आरंभ किया। बीजापुर पर आक्रमण होने से, दक्षिण की शक्तियों ने मुगलों के विरुद्ध आपस में एकता करलिया। शंभु ने अपने पिता के पदचिह्नों पर चलकर बीजापुर की मदद के लिए अपनी एक सैनिक टुकड़ी भेजी। गोलकुंडा के सुल्तान ने भी एक सेना भेजी। इस स्थिति में बीजापुर का घेरा डालना बच्चों का खेल न था, किंतु सम्राट स्वयं वहां जाधमका और दक्षिण की ओर अभियान के संचालन का कार्य अपने हाथ में लेलिया। इससे स्थिति एकदम विषम होगयी। बीजापुर ने विवश होकर १६६६ ई० में आत्मसमर्पण करदिया। इसके बाद कुतुबशाही सल्तनत, गोलकुंडा का भी अंत होगया जिसने हिंदू मंत्री मदन्ना के अंतर्गत १५ वर्ष से भी अधिक काल तक मुगलों का प्रतिरोध किया था। औरंगजेब को इस पर अभिमान होना स्वाभाविक था कि अब उसके और भारत पर उसकी असंदिग्ध प्रभुता के बीच में मराठा राज्य को छोड़कर और कोई अड़ंगा न था। एक सम्राट की छत्रच्छाया में भारत के जिस एकीकरण का प्रयास अब तक किया जारहा था, किंतु वास्तव में कभी सफल नहीं होसका था, वह उसके हाथ आगया जानपड़ता था। केवल मराठों को कुचलना शेष था और इस भारी काम में उसने अपनी शक्ति लगादी।

शिवाजी का उत्तराधिकारी शंभु अपने बाप की भांति इस्पात का बना हुआ नहीं था: उसकी जड़ दरबार के षड्यंत्रों तथा आपसी कलह से खोखली होचुकी थी। किंतु फिर भी वह मुगलों के सामने अड़गया और उसने जो बहादुरी दिखायी उससे औरंगजेब भी आश्चर्यचकित होगया। अंत में, शंभु किसीप्रकार सम्राट के चंगुल में पड़गया और शूलीपर चढ़ादिया गया। अबकी बार औरंगजेब को पूरा भरोसा था कि उसके साम्राज्य में शांति छाजाएगी। किंतु शिवाजी ने किसी राजवंश की स्थापना नहीं की थी—उन्होंने तो एक राष्ट्र और एकल जाति का निर्माण किया था। मराठों ने अपने राजा का शोक तो अवश्य मनाया, किंतु वे उस दक्खिनी रक्षापंक्ति पर अपना प्रतिरोध संगठित करने में नहीं चूके जो पहले शिवाजी ने स्थापित करदी थी।

सम्राट के अगले बीस वर्ष अपने भय का भूत मिटाने में बीते: वह इधर-उधर भागता रहा, दुर्गों पर चढ़ाइयां करता और उनको जीतता रहा, किंतु ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया त्यों-त्यों मराठा प्रतिरोध और बल पकड़ता गया। अब युद्ध किन्हीं दो राजाओं में नहीं होरहा था, अपितु एक राष्ट्र अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध लड़रहा था। मराठों के इस मोरचे की तुलना नेपोलियन के विरुद्ध स्पेनवालों के मोरचे से की जासकती है जहां उसके शस्त्रास्त्रों की श्रेष्ठता और सैनिकों की बहुलता देश की समूची जनता के हथियार लेकर उठखड़े होने के कारण नगण्य और निरर्थक होगयी थी। छह वर्षों तक मराठों के दुर्गों पर जा-जाकर स्वयं चढ़ाई करने और रक्त की नदियां बहाने से थक कर औरंगजेब १७०६ ई. में अपनी प्रांतीय राजधानी में लौट आया। उसका साहस भंग होचुका था और अब वह एक पराजित व्यक्ति लगता था। इसके अगले वर्ष ही वह चल बसा। मराठों के पराजित होने की कौन कहे, वे

वास्तव में एक विशाल प्रदेश पर अधिकार जमायेहुए थे और सफलतापूर्वक प्रतिरोध करने के कारण उनका राष्ट्रीय गौरव बहुत ऊंचा उठगया था।

औरंगजेब को केवल दक्षिण ही में राष्ट्रीय विद्रोह का सामना नहीं करना पड़ा। अपनी मृत्यु से एक वर्ष पहले सम्राट को एक संकटग्रस्त मनीषी से, जो अपने को साच्ची पादशाह कहता था, एक सारगर्भित पत्र मिला जिसका शीर्षक था जफरनामा अर्थात् विजयपत्र। इसके लेखक थे सिखों के दसवें गुरु गोविंदसिंह जिन्होंने डटकर साम्राज्य की समूची शक्ति का प्रहार झेला था, जिन्होंने अपने पुत्रों को सरहिंद के सूबेदार (राज्यपाल) के आदेश पर जीवित दीवार में चुनेजाते देखा था और जो यह पत्र लिखते समय अपने मुट्ठी भर अनुयायियों के साथ जंगल-जंगल मारे फिररहे थे। गुरुनानक ने (१३६९–१५३९ ई.) जिस सिखपंथ की स्थापना की उसके दसवें गुरु गोविंदसिंह थे। स्वयं नानक रामानंद और कबीर के अनुयायी थे। उन्होंने एकेश्वरवाद का प्रचार किया और जाति-पांत का ढकोसला नहीं माना। उन्होंने सिखपंथ को चलाया जिसमें प्रायः पंजाब के जाट किसान आकर सम्मिलित हो गये और उन्होंने वीरों का बाना धारण करलिया। उनका प्रधान केंद्र अमृतसर में था जो उनकी एक स्थानीय राजधानी बनगयी। गुरु हरगोविंदसिंह अपने को साच्ची पादशाह कहने लगे जो शस्त्रास्त्रों और कवच से लेस होकर अपने अंगरक्षकों के विशाल दल के साथ बाहर निकलते थे। सिखपंथ का मूलाधार उच्च कोटि की ईश्वरभक्ति है, किंतु प्रारंभ ही से इस पर राष्ट्रीयरंग भी चढ़गया। स्वयं नानक ने अपने निम्नांकित पद में हिंदुओं की दुर्दशा पर क्षोभ प्रकट किया है :

"निजी तौर पर तुम हिंदू विधि से पूजा करते हो,
किन्तु आह! मेरे भाइयों तुम मुसलमानों की पुस्तकें पढ़ते हो
और उनके आचारों का पालन करते हो।"*

जब गुरु गोविंदसिंह बालक ही थे तब पंथ का भार उनके कंधों पर आपड़ा। किंतु वह प्रारंभ ही से मुगलों को खूब पहचानते और उनके कट्टर शत्रु थे क्योंकि उनके पिता अमरशहीद गुरु तेगबहादुर को कुछ काश्मीरी ब्राह्मणों का पक्ष लेने के कारण सम्राट ने कत्ल करदिया था। जब १६९९ ई. में सम्राट मराठों के देश में फंसा हुआ था तब गोविंदसिंह ने एक महत्त्वपूर्ण काम किया जिसको लोग उस समय नहीं समझा सके। उन्होंने खालसा की स्थापना की और सिख उपजाति को एक सैनिक संगठन में परिणत कर दिया जिसमें प्रत्येक सदस्य को पंथ की सेवा में, आवश्यकता पड़ने पर अपने जीवन, परिवार और सम्मान को निछावर करने का व्रत लेना पड़ता था। धीरे धीरे उनकी शक्ति बढ़गयी और सरहिंद तथा लाहौर की मुगल-सरकार से उनकी छिड़गयी। औरंगजेब ने आदेश दिया कि उनके विरुद्ध कठोर कदम उठाया-जाए और जब दिल्ली को विशाल सेना ने गुरु को निःसहाय अवस्था में जंगलों में खदेड़ दिया तब उन्होंने वह जफरनामा लिखा जिसका उल्लेख पहले किया जाचुका है। इसमें उन्होंने घमंडी पादशाह से पूछा था--"जब अग्नि की ज्वालाएं पहले से भी अधिक भीषणरूप से

*अंग्रेजी से अनूदित

जलरही हैं तब उसके दो-चार स्फुलिंगों को बुझाने से का लाभ हो सकता है?" गोविंदसिंह ने जो आग लगायी उसकी लपटें पंजाब प्रांत में, जिसे वस्तुतः मुगलों का घर कहाजाता था, चारों ओर फूट पड़ी इसमें वहां मुगलों की सत्ता जलकर भस्म होगयी।

इस प्रकार जब औरंगजेब मरा तब दक्षिण में मराठा और उत्तर में सिख उसके विरुद्ध उठखड़े हुए थे और मुगलसाम्राज्य के सबसे सुदृढ़ स्तंभ—राजपूतवर्ग-का मन उससे पहले ही फिरचुका था। उसकी तीन पूर्ववर्ती पीढ़ियों ने हिंदुओं के हृदय में मुगलसाम्राज्य के प्रति जो राजभक्ति की भावना पैदा की थी वह अब विलुप्त होचुकी थी। एक पराजित व्यक्ति की भांति उनकी अंतिम सांस निकली, किंतु फिरभी उसके लिए एक आत्मसंतोष की बात यह थी कि उसने एक आदर्श—भारत के एकीकरण—की वेदी पर अपने प्राण-फूल, चढ़ादिये। वास्तव में वह भारत की एकता के लिए शहीद होगया; किंतु उसने जिस एकता की स्थापना करनी चाही और जिसके लिए उसने अपने बाप-दादा आदि के विशाल साम्राज्य को दांव पर लगादिया वह अकबर की परिकल्पना के एक राष्ट्रीय राज्य की एकता नहीं थी प्रत्युत एक इस्लाम राज्य की एकता थी जिसमें विजेता अल्पसंख्यक लोग इस भारत पर राज करते रहें। यह वही आदर्श था जो अब औरंगाबाद के मकबरे में दफन दिखायीदेता है।

अध्याय १७

महान मुगलों का शासनकाल

अकबर के राजसिंहासनारूढ़ होने (१५५६ ई.) और औरंगजेब की मृत्यु (१७०७ ई.) के बीच डेढ़ शताब्दियों में भारत के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास में उल्लेखनीय बातें देखने में आयीं। ईरानी दृष्टिकोण से प्रभावित शासकों के अंतर्गत मुगलदरबार उत्तर में सांस्कृतिक हलचल का इतना उत्कृष्ट केंद्र बनगया था जितना पहले कभी धार के परमार सम्राट भोज के जमाने ही में देखने में आया था। केवल स्वयं सम्राट ही नहीं अपितु शाही परिवार की महिलाएं, हुमाऊं की मां से लेकर औरंगजेब की विख्यात सुपुत्री जेबुन्निसा तक, कला, साहित्य, आदि के उपासकों को आश्रय देती थीं। उद्यान लगानेवालों, चित्रकारों, कालीन बनानेवालों, भवन निर्माण करनेवालों, आदि को भी राज्याश्रय दियाजाता था। कवियों, विद्वानों और तत्त्वदर्शियों का सम्मान होता और उन्हें प्रोत्साहन दियाजाता था। विद्वानों के प्रति उदारता दिखाने और धार्मिक तथा दार्शनिक विषयों में अभिरुचि रखने के कारण सम्राट अकबर के दरबार में तो एशिया के कोने-कोने से विद्वान आकर इकट्ठे होगये थे। मुगल साम्राज्य के उच्च पदाधिकारी और अमीर-लोग भी उच्च तात्त्विक विषयों में दिलचस्पी रखते थे। अब्दुर्रहीम खानखाना स्वयं एक उत्कृष्ट विद्वान थे और साथ ही एक बड़े गुणग्राहक। वह अकबर के संरक्षक बैरामखान के सुपुत्र और स्वयं मुगलों के अग्रगण्य अमीर थे। वह फारसी और हिंदी के विद्वान और कवि थे। हिंदी साहित्य को अपने इस मुस्लिम कवि पर अभिमान है। अबुलफजल और फैजी दोनों भाई थे और सुप्रसिद्ध लेखक। दोनों में अपने पिता मुबारक की भांति प्रकृष्ट धार्मिक रुचि थी फिर भी अबुलफजल को वर्णनात्मक और राजनीतिक साहित्य में सफलता मिली जबकि फैजी ने, जो उससे अधिक विद्वान और मेधावी था, हिंदू साहित्य का फारसी में अनुवाद करके अभूतपूर्व नाम कमाया। मुगल दरबार के हिंदू अमीरों में साम्राज्य के राजस्वमंत्री टोडरमल का नाम विशेष उल्लेखनीय है जिसने या तो टोडरनामा स्वयं लिखा या अपने तत्त्वावधान में लिखवाया। टोडरनामा हिंदू धर्मशास्त्रों का एक सुंदर, स्पष्ट भाष्य है। वेलीकृष्णरुक्मनीरी के लेखक राजपूत राजा पृथ्वीसिंह राठौर अकबर के दरबार से संबंध रखते थे। वास्तव में, अकबर और उनके दरबारियों ने हिंदी, फारसी और संस्कृत को समान प्रश्रय दिया।

इस युग के महानतम साहित्यकार और सर्वकाल में भारत के एक महान कवि गोस्वामी तुलसीदास मुगल दरबार की तड़कभड़क से दूर इस वसुंधरा को अपनी अक्षय्य कीर्ति से गौरवमयी बनारहे थे। टोडरमल, मानसिंह और अब्दुर्रहमान उन्हें अपना श्रद्धास्पद मित्र

मानते थे। इसी समय व्रजभाषा-साहित्य की चरम उन्नति हुई और उनमें केशवदास और सूरदास जैसे कविशिरोमणि उत्पन्न हुए। इसके अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास ने अवधी बोली में जो रसधारा बहाई उससे हिंदू हृदय परिप्लावित होउठा। ये विभूतियां उस युग की महानता की द्योतक हैं। भारत के हिंदू मानस के विकास में इन तीन महान विभूतियों का कितना अधिक हाथ है इसका अनुमान इसी बात से लग सकता है कि इनकी रचनाओं के कारण हिंदी यहां की जनता की आध्यात्मिक पिपासा-शांति के लिए सुखद स्रोत बनगयी है।

यदि मुगल दरबार में साहित्य के प्रधान आश्रयदाता अब्दुर्रहमान, फैजी, अबुलफजल और मानसिंह थे तो चित्रकला और स्थापत्यकला को स्वयं सम्राट अकबर ने प्रोत्साहन और प्रश्रय दिया। भारतीय दरबारों में सदा ही चित्रकला का विशेष स्थान बनारहा है। संस्कृत साहित्य से ज्ञात होता है कि यद्यपि चित्रकारों में भित्ति-चित्रकला को सर्वोच्च दृष्टि से देखाजाता था फिर भी चित्र बनाना और रेखाचित्र खींचना प्रायः शासकों और सभासदों की रुचि का विषय बनारहा है। शाकुंतल और कौमुदीमहोत्सव में नायिका के चित्र कथानक का अंग हैं। भास के स्वप्नवासवदत्ता में ससुर द्वारा उदयन को राजदंपति के चित्र भेंट कियेजाते हैं। गुणाढ्य की कहानियों में नायिकाओं के चित्र देखने से अनेक प्रेमकथाओं की सृष्टि होती है। यद्यपि भारतीय चित्रकला के प्राचीनतम नमूने हमें उपलब्ध नहीं फिरभी हमें ज्ञात होता है कि सूक्ष्मचित्रकला भारत की प्राचीन कला का एक विशेष अंग थी। अकबर को तो इस चित्रकला का इतना अधिक शौक था कि उसने अपने यहां काम करने के लिए ईरान से चित्रकार बुलवाये थे। बेजाद के बाद चित्रकलाविदों के लिए ईरान की ख्याति बढ़गयी थी, लेकिन अकबर ने भारतीय-ईरानी चित्रकला की जिस शैली का सूत्रपात कराया वह थोड़े ही दिनों बाद चल बसी। वस्तुतः यह शैली भारतीय शैली बनगयी और मुगल सूक्ष्मचित्रकला से प्रकट होता है कि किस प्रकार भारतीय प्रतिभा ने अपना सिक्का जमालिया। अकबर के आसपास चित्रकारों का जमघट लगारहता था और वे सम्राट के इतने घनिष्ट संपर्क में रहते थे कि जब अकबर गुजरात पर बिजली की तेजी से टूटपड़ा तब भी उसके साथ जो गिनेचुने लोगों का दल गया था उनमें तीन चित्रकार थे।

अकबर के पुत्र और प्रपौत्र को भी चित्रकारी का बड़ा शौक था। जहांगीर तो चित्रकला का पूर्णमर्मज्ञ होने का दावा करता था और उसने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उसने अपने यहां काम करनेवाले चित्रकारों को कितना प्रोत्साहन दिया। अपने शासन के प्रारंभिक काल में औरंगजेब ने भी, जानपड़ता है कि, चित्रकला को प्रोत्साहन दिया क्योंकि हमें मालूम है कि ग्वालियर किले में जिस शाहजादे को बंदी कियागया था उसका चित्र लेने के लिए वह प्रति छह महीनों बाद चित्रकार को वहां भेजाकरता था। जहांगीर की प्रवृत्ति भारतीय और ईरानी दोनों चित्रकलाओं में रमती थी और उसके चित्रशाला में उत्कृष्ट सौंदर्य के कुछ चित्रों का निर्माण हुआ था। मुगल-शैली की कृतियां इतनी आकर्षक और विख्यात हैं तथा संसार भर के संग्रहालयों में अपनी इतनी छटा बिखरारही हैं कि उनके बारे में कुछ कहना सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा। जिन तत्कालीन कलाकारों के नाम हमारे बीच में अबतक

जीवित हैं उनके आधार पर हम यह परिणाम निकालते हैं कि यह शैली मुख्यतः भारतीय थी और उसका कलेवर हिंदू तथा मुस्लिम दोनों कलाकारों के हार्दिक प्रयत्नों से समलंकृत हुआ था। इस युग की कलात्मक विशिष्टता में हिंदू और मुस्लिम दोनों का समान योगदान है।

अबुलफजल ने जिन १७ प्रमुख कलाकारों के नाम गिनाये हैं उनमें १३ हिंदू हैं। हिंदू कलाकारों ने जिन चित्रों में जीव डाला है वे, अबुलफजल के कथनानुसार "वास्तविक वस्तु के सौंदर्य को निखराकर रखदेते हैं और इस समस्त भूमंडल में उनकी बराबरी कोई नहीं करसकता है।" अकबर के दरबार में कलाकारों के मंडल का अधिनायक ईरानी कलाकोविद अब्दुस्समद था : श्रेष्ठ वासवान और दसवंत ने अल्पकाल ही में चित्रकला में एक नयी विशिष्टता का सूत्रपात किया जिसकी लोकप्रियता के आगे ईरानी चित्रों का रंग फीका पड़गया। अकबर ने स्वयं अपने चित्र इन कलाकारों से बनवाये और शाही संग्रह के लिए दरबार के अमीरों को भी अपने अपने चित्र बनवाने का आदेश दिया।

तैलचित्रों की प्राचीन हिंदू शैली को उपयुक्त नयी शैली की हवा न लगसकी। वास्तव में, ईरानी ओर मुगल शैलियों के संपर्क में आने के कारण तथाकथित राजपूत खेवे की कला, जो पहले मध्यभारत, राजस्थान और हिमालय के पहाड़ी प्रदेशों में फलतीफूलती रही थी, फिर-से जीवित होउठी है। इस शैली में हमें प्राचीन भारतीय परंपरा के सर्वोत्कृष्ट रूप के दर्शन होते हैं। मुगल सम्राटों और उनके दरबार के हिंदू राजाओं और मुस्लिम अमीरों के पुस्तकालयों में सचित्र पुस्तकों और चित्रावलियों का विशाल संग्रह रहता था जिनके सौंदर्य और विशदता का अनुमान जयपुर-संग्रह देखकर लगाया जासकता है। छोटे-छोटे राजदरबारों में महान मुगल दरबार की नकल कीजाती थी और इसलिए प्रतिवर्ष स्टूडिओं से काफी संख्या में चित्रों का बहिर्गमन होता था। यह कहना अनुचित न होगा कि मुगलकाल में चित्रों की फसल प्रतिवर्ष काफी समृद्धिशील होती थी।

जैसा हम पहले देखचुके हैं, दिल्ली के सुल्तानों और प्रांतीय शासकों तथा राजाओं को इमारतें बनवाने का बड़ा शौक था। इसलिए भारतीय-इस्लामी स्थापत्यकला एकमात्र मुगलों की देन नहीं है। किंतु मुगल शासकों का वैभव अन्य शासकों से बहुत बढ़ाचढ़ा था इसलिए वे उत्कृष्ट सौंदर्य के भवनों का निर्माण और मनोहर उद्यानों की स्थापना करवासके जो आज भी करोड़ों नेत्रों को आकर्षण प्रदान करते हैं। ये शासक आद्योपांत नगरों का निर्माण भी करसके। अकबर ने फतेहपुर सीकरी बसाकर और बनवाकर उसे अपनी राजधानी बनवाया। इसमें हिंदू और मुस्लिम दोनों परिकल्पनाओं का सम्मिश्रण उदाहरण के रूप में विद्यमान है। ताजमहल, मोतीमसजिद और लालकिला तथा एतमादुद्दौला के मकबरों को तो सभी जानते हैं और उनके बारे में अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं। काश्मीर के मुगल उद्यानों और कालका के पास पिंजौर में जैसा किसी अमीर का बनवाया उद्यान है, वैसे बागों में सौंदर्य बिखरा पड़रहा है। इन सब को सौंदर्य की भावना से निर्मित कियागया था।

इस काल में बड़े-बड़े राजाओं ने भी जो भवन बनवाये वे सामान्य दृष्टि से उतने ही महत्त्व-पूर्ण हैं। हिंदुओं की घरेलू स्थापत्यकला में बहुत भारी परिवर्तन होगया था। हिंदू राजाओं और

सामंतों ने जो भवन अपनी-अपनी राजधानियों में बनवाये उनमें दीवान-ए-खास, दीवान-ए-आम, शीशमहल और शाही बारादरी का अनुकरण कियागया। परिणामतः यह स्थापत्यकला प्राचीन हिंदू प्रासादों और मुगलों के महलों से विभिन्न प्रतीत होती है। इस समय की हिंदू-स्थापत्य कला के नमूने हैं—वीरसिंह बुंदेला का विशाल राजप्रासाद, बीकानेर का पुराना किला, तथा उदयपुर, जोधपुर और अंबर के प्रासाद जो स्वयं अब तक अपनी कहानी कहरहे हैं।

इसी काल में यह भी स्वाभाविक था कि मंदिरों का निर्माण हुआ। अतएव मंदिरों के बनवाने में उसी परंपरागत प्राचीन शैली का फिर अनुकरण कियागया। अकबर के राजकाल में सहिष्णुता का डंका बजने लगा जिससे प्रोत्साहित होकर राव-राजाओं और सेठों ने मंदिर बनवाना अपना पवित्र कर्तव्य समझ लिया। इस दिशा में मथुरा ने अधिकांश निर्माताओं का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया, किंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि अन्यत्र मंदिर नहीं बनवायेगये। दूसरे स्थानों में भी खूब सूरत मंदिर खड़े कियेगये जिनमें सबसे उल्लेखनीय वीरसिंह का मंदिर है जो उसके राजप्रासाद से सटाकर बनायागया था और जो शाहजहां की अहंमन्यता का शिकार होगया। फिर भी यह न भूलना चाहिए कि उत्तर भारत में आज हमें जो मंदिर दीख पड़ते हैं वे अधिकांशतः इसी काल में बनवायेगये थे।

दक्षिण की सल्तनतों ने स्थापत्यकला में विशेष योगदान किया। बीजापुर के उस्मानी शासक प्रख्यात भवन-निर्माता थे। रोम के पंथिओन के गुंबद से भी बड़ा गोलगुंबज, इब्राहीम का रोजा, ताज सुल्ताना का मकबरा, और आसार महल आदि बीजापुर की रौनक बढ़ा-रहे हैं और आदिलशाही सुल्तानों के इस नगर को वह गौरव प्रदान कररहे हैं जो आगरा अथवा दिल्ली से भी दुष्प्राप्य है। गोलगुंबज का रंग शहद जैसा था। इब्राहीम का रोजा सौंदर्य में ताजमहल से प्रतिस्पर्धा करता है और इसकी कोमलता तथा स्निग्धता मुगलों के किसी प्रख्यात विशाल भवन से कम नहीं। ताज सुल्ताना के मकबरे पर तो इस आशय का अभिलेख उत्कीर्ण कियागया है कि इसके सौंदर्य पर स्वर्ग का वैभव भी निछावर होजाता है। आसार महल में दो मू-ए-रसूल सुरक्षित हैं जिनके चारों ओर इटली के किसी कलाकार ने भित्तिचित्र बनारखे हैं जो बीजापुर के शासकों की अंतर्राष्ट्रीय अभिरुचि का प्रमाण देते हैं। रमणीक उद्यान, मनोहर जलाशय, और मनोरम प्रासाद इस नगर के सौंदर्य में अभिवृद्धि करते हैं।

गोलकुंडा नगर की स्थापत्यकला की ख्याति दूर दूर फैली हुई थी। यहां के विशाल मकबरों के हरे-हरे गुंबद, चित्ताकर्षक मसजिदें, और राजप्रासाद, जिनकी दीर्घाओं में फब्बारे जलकण बिखेरते-रहते थे, राजधानी की उस सुषमा के प्रतीक थे जो बीजापुर के सौंदर्य से किसी प्रकार कम प्रतीत नहीं होती थी। गोलकुंडा की समृद्धि की कहानियां कही जाती थीं और वहां के गगनचुंबी भवनों से वैभव टपक-सा रहा था। ईरान से प्रभावित वहां के सुल्तानों की परिष्कृत अभिरुचि और भारत की १६वीं तथा १७वीं शताब्दियों की विलासता की भावना इन महलों से फूटकर निकली पड़रही है।

वास्तव में, इस युग के राजदरबारों और राजाओं तथा अमीरों के जीवन में जो विलासता पायीजाती थी उसके आगे कुस्तुनतुनिया के साम्राज्य का शाही दरबार भी फीका लगने लगता

था। यद्यपि बाबर की आदतें अच्छी थीं और वह जीवन में सदाचार का महत्त्व स्वीकार करता था फिरभी उसका अधिकांश समय भोग-विलास के क्षेत्र में व्यतीत होता था। अकबर के दरबार में विलासता की जड़ इतनी गहरी धंसगयी थी कि औरंगजेब का कट्टर पवित्र जीवन भी उसे रोकने या कम करने में विफलरहा। जब सम्राट यात्रा पर जाते थे तब भी उनकी तड़कभड़क में कमी नहीं आती थी। लाल शिविरों में शाही प्रवासकाल बीतता था जहां आगरा और दिल्ली की विलासता छायीरहती थी। जानपड़ता था कि राजधानी का समूचा ऐश्वर्य पर्यटन कररहा है। राजधानी से दूरस्थ अंचलों में रण का संचालन करने के समय भी दरबार में किसी प्रकार के वीर-भावना का बोध नहीं होता था। यह बात नहीं कि केवल सम्राट ही इस रंग में सराबोर थे। जब शायस्ताखां अपने दक्खिनी मोरचे पर गया तब वहां उसके साथ ४०० वेश्याएं या नर्तकियां थीं और ठाठबाट के जीवन की समस्त तड़कभड़क तथा साज-सामान साथ में गया था। यूरोपीय इतिहासकारों का कहना है कि छोटे-छोटे अधिकारी तक राजधानी तथा शिविरों में गुलछर्रे उड़ायाकरते थे। वस्त्राभूषण और आहार-विहार में उच्चवर्ग का विलासी जीवन दृष्टिगत होता था। राव-राजाओं और अमीरों के पहनावे में जालीदार मलमल और छपे रेशम का सामान्य प्रयोग था। उच्चवर्ग के लोगों के आहार में हिंदुओं के सादा भोजन की जगह चटपटे मसालेदार व्यंजनों, पुलाव, बिरियानी, स्वादिष्ट पदार्थ और मुरग्गन ईरानी गिज़ा ने लेली थी। हिंदू राव-राजाओं के घर जब कोई बड़ा भोज होता था तब ईरानी और मध्येशियाई अमीरों के तरीके की नकल कीजाती थी। दुर्लभ फल, विलक्षण पेय, श्रमपरिहारक पाक, जिनको तैयार करने का हुनर रोम, चीन और मिस्र के दीर्घ संपर्क से ईरान के बहुजातीय समाज को प्राप्त हुआ था, भारत में भी प्रचलित होगये और उच्च हिंदू और मुस्लिम वर्गों में समानरूप से लोकप्रिय बनगये। आजभी बड़े राजपूत घरानों अथवा अन्य हिंदू राजाओं के यहां जो भोजन परोसा जाता है वह मुख्यतः मुगलपद्धति से तैयार किया जाता है और इन थालों को मुगलसम्राटों के नाम पर शाहजहानी पुलाव, जहांगीरी कबाब, आदि कहकर संबोधित करते हैं।

इस समय का पहनावा भी बहुत बदलगया था। सोलहवीं शताब्दी में नानक ने इस बात पर खेद प्रकट किया था कि हिंदुओं ने मुसलमानों का पहनावा और शिष्टाचार अपनालिया है। बर्लिन के संग्रहालय में सुरक्षित जहांगीर की चित्रावली से प्रकट होता है कि कच्छ और नवानगर जैसे दूरवर्ती प्रदेशों के शासकों तक ने मुगल वेश-भूषा अपनालिया था। राजपूत सामंतों के चित्रों से जानपड़ता है कि जातिचिह्न को छोड़कर जो हिंदू और मुस्लिम के बीच भेद प्रकट करता है, पहनावे को देखकर कोई उनकी पहचान् नहीं करसकता था। देखने में दोनों एक-से प्रतीत होते थे। निःसंदेह साधारण हिंदू आज की भांति तब भी धोती ही पहनता था, किंतु उच्चवर्ग के हिंदुओं ने पायजामा और चपकन पहनना आरंभ करदी थी। महाराणा प्रताप को छोड़कर, जिन राजपूत राजाओं के चित्र हमें प्राप्त हैं उनमें वे दरबारी पोशाक पहने अंकित कियेगये हैं जो इस बात का पर्याप्त प्रमाण हैं कि उच्चवर्ग ने मुगलों की आदतें और चालढाल सीख ली थी।

मुस्लिम चालढाल का प्रचार काफी बड़े पैमाने पर होगया होगा, क्योंकि गुरुगोविंदसिंह ने हुक्के को विशेषरूप से वर्जित किया है। ऊपरी श्रेणी के लोगों में मद्यपान ने घर करलिया था। शिवाजी तक के दरबार में दिल्ली की लटक आगयी थी। संक्षेप में, मुगलों ने जिस पहनावे, सामाजिक चालढाल, आदि का सूत्रपात किया वह विदेशी नहीं रहा और हर जगह उच्चवर्ग के लोगों ने उसे अंगीकार कर लिया

मुगलकालीन विचार-जगत में समन्वय और पुनरुत्थान दोनों धाराएं स्पष्ट दिखायी देती हैं। आश्चर्य की बात यह है कि इन वर्षों में भारतीय इस्लाम में सामान्य इस्लाम की विचार-धारा अथवा संस्कृति में कोई योगदान नहीं किया। यहां सदा ही एकतर्फा सौदा होता रहा अर्थात् भारत के मुसलमान बाहर के इस्लामी सांस्कृतिक स्रोतों से विचारार्जन करते रहे और अपनी ओर से उन्होंने उनको कोई निधि समर्पित नहीं की। यदि इसका कोई अपवाद हो-सकता है तो वह साहित्य है। भारतीय-ईरानी साहित्य में कुछ विभूतियां अवश्य हुई जिनमें अमीर खुसरो का नाम सबसे पहले आता है। लेकिन यह कहना नितांत कठिन है कि भारत में विदेशों के योग्य इतना काफी साहित्यसृजन हुआ कि उसके ईरानी अथवा इस्लामी संस्कृति में प्रवेश करने से वहां उसका अपना प्रभाव दृष्टिगत होने लगा। हां, उससे भारतीय साहित्य की श्रीवृद्धि अवश्य हुई। भारतीय संस्कृति के भंडार में भारतीय इस्लाम का योगदान अनुपेक्ष्य है। दार्शनिक और धार्मिक विचारों तथा सामान्य विद्वत्ता के क्षेत्रों में भारतीय इस्लाम ने इस्लामी विचारधारा में नगण्य योगदान किया। भारत में कोई एवरोज पैदा नहीं हुआ। इसके विपरीत हिंदूधर्म पर इस्लाम का उल्लेखनीय प्रभाव पड़ा। मध्यकालीन हिंदूधर्म के दो प्रबल नेता—कबीर और नानक—इस्लाम के विशुद्ध एकेश्वरवाद से प्रभावित थे और उन दोनों की वाणी में सूफी मत और भक्ति का सम्मिश्रण है। शाहजहां के अभागे पुत्र दाराशिकोह के हृदय में यह सम्मिश्रित विचारधारा अभूतपूर्व रूप से प्रवाहित हुई थी। सूफी मत का उद्भट पंडित दाराशिकोह योग की क्रियाओं से अभिज्ञ और हिंदू संतों के सिद्धांतों से परिचित था। उसके समुद्र-समागम ग्रंथ, फारसी में अनूदित उपनिषद् और कवींद्राचार्य के नाम संस्कृत में लिखाहुआ पत्र, जो अभी हाल में प्रकाशित हुआ है, उसके हिंदूधर्म के ज्ञान के परिचायक हैं। वास्तव में भारतीय मुस्लिमों पर हिंदूधर्म का काफी प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है। हिंदू साहित्य का अनुवाद फारसी में लगन के साथ उत्तरोत्तर होता गया। उस समय जो प्रमुख मुस्लिम विद्वान संस्कृत जानते थे उनकी संख्या कम नहीं थी क्योंकि मुल्ला अब्दुल कादिर बदायूं ने स्वयं लिखा है कि अकबर ने उसे राजतरंगिणी का फिर अनुवाद करने की आज्ञा दी।

उत्तर भारत के हिंदू मानस का, सोलहवीं और सत्तरहवीं शताब्दियों में, कई प्रकार से उल्लेखनीय पुनरुत्थान हुआ। इस पुनरुत्थान-आंदोलन का गढ़ वाराणसी था। यहां धर्म-शास्त्रों के पटन-पाठन का कार्यारंभ हुआ जिसके दिग्गज व्यवस्थापक नंद पंडित, मित्र मिश्र और नीलकंठ भट्ट थे। सत्रहवीं शताब्दी में ये प्रकांड पंडित इस पुण्यनगरी में विद्यादान किया करते थे और उनका प्रभाव दूर दूर तक फैलगया था। विद्वान भारत के कोने-कोने से आकर वाराणसी में इकट्ठे होगये थे। तथ्य यह है कि वाराणसी सदा ही भारत में विद्या का आक्रोड़

बनारहा है और इसे हिंदूधर्म की धुकधुकी कहना अत्युक्ति न होगी। किंतु सोलहवीं शताब्दी में वह हिंदू संस्कृति का प्रसारण-केंद्र बनगया—वहां एक बार फिर एक विशाल विश्वविद्यालय देखने में आने लगा। अद्वैतमत के विख्यात सिद्धांतवादी नरसिंह को जो अभिनंदन ग्रंथ भेंट कियागया था उसमें उनके चरणों में बैठकर शिक्षाग्रहण करनेवाले महापंडितों की नामावली दीगयी है। यह नामावली सचमुच ही बड़े मार्के की है; इसमें देश के विभिन्न भागों के विद्वानों के नाम अंकित हैं। वाराणसी में केवल वेदांत और धर्मशास्त्रों ही का पुनरुत्थान नहीं हुआ, अपितु पहले-पहल यहां धर्मेतर विषयों के पठन-पाठन का भी सूत्रपात कियागया। सत्रहवीं शताब्दी में जो विद्वान इस पुण्यधाम की शोभा बढ़ाते थे उनमें भट्टदीपिका तथा अन्य मीमांसा-ग्रंथों के रचयिता खंडदेव, दिधिति के लेखक रघुनाथ शिरोमणि नैयायिक, और खगोलपंडित कमलाकर के नाम उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार के अनेक विद्याकेंद्र वाराणसी में थे जिनमें एक का वर्णन बर्नियर ने किया है जो आचार्य कवींद्रसरस्वती का एक अभिन्न मित्र होगया था। "वाराणसी नगर", बर्नियर लिखता है, "गंगा के तट पर एक सुरम्य अंचल में और एक अत्यंत समृद्धिशाली तथा उर्वरा प्रदेश में स्थित है। यह विभिन्नदेशीय पुरुषों के लिए एक विद्यापीठ बनगया है। यह भारत का एथेंस है जहां ब्राह्मणों और अन्य भक्तों का समुदाय विद्यमान रहता है। जैसे हमारे विश्व-विद्यालयों में नियमित कक्षाएं लगती हैं या विद्यालय होते हैं वैसा यहां कोई विद्यालय नहीं है। यहां प्राचीन विद्यापीठों की परिपाटी का अनुकरण होता है। अध्यापक नगरभर में फैलेहुए हैं और वे अपने-अपने घरों ही पर—प्रायः उपनगरों के उद्यानों में—शिक्षा देते हैं जिन्हें धनवान सेठों ने बनवादिया है। इनमें किसी गुरु के पास चार शिष्य और किसी के पास छह या सात शिष्य हैं। सबसे अधिक प्रतिष्ठित गुरु के पास बारह शिष्य तक हैं। लेकिन किसी-एक गुरु के पास शिष्यों की सबसे अधिक संख्या बारह ही होती है।"

बर्नियर को कवींद्राचार्य की मित्रता का सौभाग्य प्राप्त हुआ था जो अन्यतम ख्याति के कवि और पंडित ही न थे अपितु उच्चकोटि के योगी भी थे और जनता उन्हें अत्यधिक श्रद्धा की दृष्टि से देखती थी। वह शाहजहां के मित्र भी थे और सम्राट ने उनका अपने दरबार में स्वागत और सम्मान किया था। वह शाहजादा दारा के गुरु थे और दारा ने संस्कृत में उन्हें एक पत्र लिखकर कवींद्राचार्य की शंकराचार्य तथा अन्य प्राचीन गुरुओं से तुलना की है। अपने समय में कवींद्राचार्य वाराणसी के सबसे प्रतिष्ठित पंडित थे और जानपड़ता है कि वह महाराजा जयसिंह के पुत्रों की शिक्षा का दायित्व संभालेहुए थे। बर्नियर को इनके समक्ष उपस्थित होने का अवसर मिला था और उनके विषय में उसका कहना है : "जब मैंने वाराणसी में उनके दर्शन किये तब उन्होंने मुझ पर बड़ी कृपा की और मुझे विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का अवलोकन करने का अवसर दिया जिसमें उनके बुलावे पर नगर के छह अत्यन्त विद्वान पंडित पधारे हुए थे।" बर्नियर ने एक विशाल भवन संस्कृत के सभी विषयों की पुस्तकों से ठसाठस भराहुआ देखा। वाराणसी के पुस्तकालय प्रसिद्ध थे, किंतु कवींद्र का पुस्तकालय तो संभवतः अनुपम था।

मुगल सम्राटों के पास पुस्तकों का विशाल संग्रह था। शाही कुतुबखाने में सभी प्रकार का साहित्य सुलभ था। अकबर के समय में इसमें २४००० पांडुलिपियां या हस्तलिखित पुस्तकें

थीं। ये प्रतिलिपियां सम्राट के लिए विशेषरूप से तैयार कीगयी थीं। इनके सुंदर नमूने हमें अभी तक प्राप्त हैं, उदाहरण के लिए, शाहजहां का शाहनामा अब भी रॉयल एशियाटिक सोसायटी में सुरक्षित है। इससे प्रकट होता है कि सम्राट सुलेख, चित्र, आदि पर कितना ध्यान देते थे। अकबर, जहांगीर और शाहजहां को पुस्तकें संग्रह करने का बड़ा शौक था और हिंदू राजा और मुस्लिम अमीर भी इस दिशा में उनके पदचिह्नों पर चलनेलगे थे। यह जानने लायक बात है कि उत्तर भारत में हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह करनेवाले सभी बड़े निजी पुस्तकालयों का समारंभ इसी काल से हुआ जिनमें बीकानेर का अनूप संस्कृत पुस्तकालय, जयपुर का पोथीखाना और जैसलमेर का विशाल ग्रंथागार उल्लेखनीय हैं। जानपड़ता है कि कवींद्राचार्य की मृत्यु के बाद, उनका अपना पुस्तकालय छिन्नभिन्न होगया, किंतु उनकी अनेक पुस्तकें बीकानेर और जैसलमेर के ग्रंथागारों में अब भी पहचानी जासकती हैं।

इस काल में, उत्तर में संस्कृत साहित्य की लता अंतिम बार पुष्पित हुई। अकबर के दरबार में अनेक कवि थे जिनकी रचनाओं पर दरबारी लोग मुग्ध थे। किंतु इस समय के सबसे उत्कृष्ट संस्कृत लेखक पंडितराज जगन्नाथ थे जिन्हें शाहजहां ने कविराज की उपाधि से विभूषित किया था। संस्कृत महाकवियों में जगन्नाथ को अंतिम महाकवि कहाजाता है। उनकी भाषा लावण्यमयी, साहित्यिक है और उनके भावों से सौंदर्य टपकरहा है। उनके मस्तिष्क में कालिदास की भाषा अब भी गूंजरही थी और उसी सुषमा की उनकी शब्दावली पर छाप पड़ी है। उनकी गंगालहरी तथा अन्य कृतियों को साहित्य में समुचित स्थान प्राप्त है और उनको उच्चकोटि की साहित्यिक रचनाएं मानना सर्वथा उचित है। कवींद्राचार्य की साहित्यिक कृतियां अलंकारिक और परिश्रमसाध्य थीं। उनकी तुलना पंडितराज जगन्नाथ की माधुर्य और लालित्य से परिपूर्ण रचनाओं से नहीं की जासकती, फिरभी उनका उल्लेख किये बिना नहीं रहा जासकता विदग्धमाधव नाटक आदि के रचयिता रूपगोस्वामी, नाटककार गिरिधरनाथ, आदि का नाम इस काल के उल्लेखनीय संस्कृत कवियों में लिया जासकता है। इस समय विद्वत्ता केवल पुरुषों के बांट ही नहीं पड़ी थी। आनंदलतिकाचम्पू की रचना में वैजयंती ने अपने पति कृष्णनाथ की सहायता की और वल्लभदेवी सुभाषितावली की लब्धप्रतिष्ठ रचयिता हैं।

गंगालहरी के नैसर्गिक भाव-प्रवाह और कोमलकांतपदावली अथवा जगद्विजयच्छंदों की परिष्कृत और अलंकृत रचनाओं ही में हमें इस युग की वास्तविक साहित्यिक छटा के दर्शन नहीं होते हैं, अपितु उसका सच्चा भव्य स्वरूप तुलसी के प्रेरणाप्रद अलौकिक महाकाव्य में, सूर-दास के हृदयस्पर्शी सरस पदों में तथा ब्रजभाषा के अन्य श्रेष्ठ कवियों की वाणी में, रामदास के कीर्तन में, और पृथ्वीराज के धिंगल महाकाव्य में भी मिलता है जो उस युग के भारत की साहित्यिक प्रतिमा के मेरुदंड हैं और जिनका अध्ययन किये बिना हमें तत्कालीन साहित्यधारा का परिचय नहीं मिलसकता। महाकवि कालिदास के युग के बाद किसी एक शताब्दी में इतनी प्रचुरमात्रा में सर्वोत्तम साहित्य की सृष्टि कभी देखने में नहीं आयी जितनी इसबार मुगलकाल में। संपूर्ण भारत के कवियों में सर्वोच्च स्थान के अधिकारी, अक्षय्यकीर्ति गोस्वामी तुलसीदास

(१५२३*–१६३२) ने जनता की बोली में अपनी रचनाएं कीं और उन्हें निःसंकोच भारत भर का कवि माना जासकता है। यद्यपि स्वनामधन्य हुलसी-सुत तुलसी स्वयं संस्कृत के एक प्रकांड-पंडित थे फिरभी उन्होंने जन-वाणी में अपने भाव व्यक्त करना अधिक श्रेयस्कर समझा। उन्होंने अपने भाषासंबंधी निर्णय का पक्ष-पोषण करतेहुए, अपने विरोधियों को करारा जवाब दिया था कि मेरी बोली (भाषा) मिट्टी का एक पात्र जिसमें अमृत भराहुआ है, जबकि संस्कृत अन्यतम सौंदर्य का एक रत्नजटित दुर्लभ कलश है जो अब सर्वसाधारण की पहुंच से बाहर होचुका है। उनका लोकविख्यात रामचरितमानस ग्रंथ केवल एक अनुपम महाकाव्य ही नहीं है, जिसमें राम के महान चरित्र का वर्णन है, अपितु वह पर्वतराज हिमालय से विंध्याचल तक और लाहौर से बंगाल तक की समस्त हिंदी-भाषी जनता के लिए आध्यात्मिक उन्नति का मूलाधार बनगया है। वह इस विशाल जनसमुदाय की एक आचारसंहिता बनगयी है जिसकी उक्तियां, प्रमाण, दृष्टांत आदि गरीब-अमीर, किसान-राजा, आदि सभी की जिह्वा पर अहर्निश विराजमान रहते हैं। इतना ही नहीं, इस अदृष्टपूर्व ग्रंथ में काव्य-प्रतिभा निखर उठी है। उन्होंने महर्षि वाल्मीकि की लोकग्राह्य रामकथा को जनता के सामने लोकवाणी में प्रस्तुत किया जो सत्वर उत्तर भारत के लोकजीवन का एक प्रमुख अंग बनगयी। हम यहां यह लिखे बिना नहीं रहसकते कि अन्य स्थानों में भी रामायण को इसी प्रकार की अभूतपूर्व कीर्ति उपलब्ध हुई: तमिल देश में कंबर ने उसका जो भाषांतर किया वह यहां बाइबल की भांति लोकप्रिय होगया। बंगाल में कृत्तिवास और केरल में एज्हूतअच्चन के रामायण ग्रंथ भी जनता के हृदय में घर करचुके हैं। एक अर्वाचीन विद्वान किस्सान कीने ने लिखा है: "तुलसीदास की रचनाओं का, अपने देशवासियों के जीवन और ज्ञान-वर्धन पर कितना व्यापक प्रभाव पड़ा केवल उसे ही आंकना एक बड़ा कठिन काम है। इसके अतिरिक्त, एक साहित्यिक रचना और एक धार्मिक ग्रंथ होने के नाते रामचरितमानस का स्थान और ऊंचा उठगया है और सर्वोपरि होगया है।"

तुलसीदास से पहले रामानंद, कबीर और नानक जिस धार्मिक आंदोलन के विशाल प्रकाश-स्तंभ थे, वह अपनी सफलता की चरम सीमा पर पहुंचकर मानों रामचरितमानस के लोक-रंजनकारी रूप में जनता के सामने प्रकटहुआ हो। गोस्वामीजी ने आध्यात्मिक चेतना को एक स्थायी और कल्याणकारी मानवस्वरूप प्रदान किया जिससे हिंदूधर्म का अधकचरा जनसमुदाय विभिन्न मतमतांतरों और पंथों के चक्कर में फंसने से बचगया। यद्यपि ब्रह्म की कल्पना राम के स्वरूप में कीगयी है फिरभी रामचरितमानस में धर्म का जो निरूपण हुआ है वह इतना सर्वग्राह्य और सहिष्णुतापूर्ण है कि उसमें सभी संप्रदायों के लिए काफी गुंजाइश मौजूद है।

इसी युग में, बंगाल की शस्यश्यामला भूमि पर वैष्णव संप्रदाय की भावुकतापूर्ण भक्ति की एक और रसधारा बहउठी, जिसके प्रवर्तक थे चैतन्य जिनका बंगाल के लोकहृदय पर अमिट प्रभाव पड़ा है। चैतन्य राधाकृष्ण की विशुद्ध भक्ति में तल्लीन रहते थे और विशुद्ध प्रेम या श्रीचरणों की भक्ति ही उनके सिद्धांत का मूलाधार है। उन्होंने राधाकृष्ण की प्रारंभिक

* अन्य प्रामाणिक स्रोतों के अनुसार संवत् १५८६ या १५८३.

क्रीडाभूमि वृंदावन को धरती ही पर स्वर्ग मानलिया। इस धार्मिक आंदोलन को लेकर संस्कृत में काफी साहित्यसृजन हुआ और भारतीय विचारधारा के एक व्यापक अंश पर अब तक इसका गहरा प्रभाव परिलक्षित होता है।

अकबर और उसके दो उत्तराधिकारियों के शासनकाल में भारतीय संगीत गौरव के शिखर पर जाचढ़ा। ग्वालियर के राजा मानसिंह तंवाड़ संगीत के विख्यात आश्रयदाता थे और उनकी संगीतपद्धति का आदर दूर-दूर तक होता था। जो तानसेन भारतीय संगीत के सर्वश्रेष्ठ मर्मज्ञ कहेजाते हैं उनपर अकबर की बड़ी ही कृपादृष्टि थी। संगीतकला पर मुगलसम्राटों की छत्रच्छाया तबतक बनीरही जबतक कि सम्राट औरंगजेब ने, जो स्वयं सादगी पसंद करता था, राजदरबार और दिल्ली में उसकी धूमधाम बंद न करवादी। हिंदू राजाओं के दरबारों में संगीत जीवन का एक आवश्यक अंग बनगया था और दक्षिण की सल्तनतों में तो संगीतकारों के टिड्डीदल देखने में आते थे--उदाहरण के लिए अकेले गोलकुंडा में २०,००० संगीतकार थे। पंद्रहवीं शताब्दी में राणा कुंभा ने अपने संगीतराज ग्रंथ में जिस शास्त्रीय हिंदू संगीत परंपरा का वर्णन किया है वह मुगलदरबार के संगीताचार्यों के हाथ में आकर बहुतकुछ सरल बनगयी थी।

इस समय की कला के इतिहास में बुंदेलखंड के पर्वतीय प्रदेश को एक सम्मानित स्थान प्राप्त है। दुर्गम प्रदेश होने के कारण, यहां पर चंदेला और कालाचूड़ी राजाओं के शासनकाल में देशज कला की अप्रतिहत परंपरा अपने सर्वांगीण रूप में फलतीफूलती रही अर्थात् देसी स्थापत्यकला, संगीतकला और साहित्य की उन्नति निरंतर होतीरही। मध्ययुग के बुंदेलों और बघेलों के शासन में इस क्षेत्र में संगीत और साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। वास्तव में सबसे पहले रामचंद्र बघेला का प्रश्रय पाकर तानसेन का नाम प्रकाश में आया था।

संगीतकारों की सामाजिक प्रतिष्ठा में इसी समय एक आश्चर्यजनक परिवर्तन होने लगा। हिंदूलोग संगीत को एक धार्मिक कला मानते थे और गंधर्वविद्या को व्यवसाय की दृष्टि या अन्य किसी उद्देश्य से सीखने के कारण किसी पुरुष या स्त्री की सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को धक्का नहीं पहुंचता था। आज भी हम देखते हैं कि दक्षिण भारत में अनेक संगीताचार्य ब्राह्मण हैं जिनका समाज में ऊंचा स्थान है। राणा कुंभा अपने को अभिनव भारताचार्य कहने में संकोच न करते थे। वह संगीतविद्या के निष्णात विद्वान थे। मुस्लिम दरबारों में, यद्यपि संगीतकला का बहुत आदर होता था, फिर भी गाना-बजाना यह एक कमीना पेशा मानाजाता था, क्योंकि इसमें प्रायः मान-मर्यादारहित रंडियां घुसीहुई थीं। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप के अभिनेताओं और अभिनेत्रियों की जो स्थिति रही उससे इनकी तुलना भलीभांति की जासकती है। संगीतकारों की इस सामाजिक अप्रतिष्ठा का दुष्परिणाम यह हुआ कि पढ़े-लिखे मध्यवर्ग-के लोगों में संगीत की लोकप्रियता घटगयी क्योंकि वे इसे अमीरों और राव-राजाओं के भोग-विलास का एक साधन समझने लगे। सामान्य लोगों में संगीत की शिक्षा कम होचली जिसके कारण विद्यालयों के संगीत, तथा उस्तादों के संगीत और जनता के ग्राम्य संगीत में भारी अंतर पदा होगया जो उत्तर भारत में आज भी देखा जासकता है। इसके विपरीत, दक्षिण भारत में संगीत राजा और रंक दोनों के बीच समानरूप से विराजमान है।

इस काल में, भारत में कुछ महिमामयी महिलाओं के दर्शन होते हैं। यद्यपि बाहरी आक्रमणों और राजस्थान तथा गंगा की घाटी में पर्दा-प्रथा के कारण महिलाओं की अवस्था दिन-पर-दिन बिगड़ती गयी फिरभी देश इस समय की कुछ गौरवशालिनी महिलाओं पर अभिमान करसकता है। इस समय की कई राजकुमारियां और कुलीन महिला के नाम इतिहास के अमिट अक्षरों में अंकित हैं। जैसे दारा का पक्ष लेनेवाली जहांआरा और औरंगजेब का पक्ष लेनेवाली रोशनारा, औरंगजेब की सुपुत्री जेबुन्निसा, जिसकी कविताएं मख्फ़ी उपनाम से अब भी प्राप्य हैं, अहमदनगर की चांदबीबी और महाराष्ट्र राज्य की राजप ताराबाई। नूरजहां सचमुच ही ईरानी महिला थी, किंतु उसका जीवनचरित्र इतिहास की एक रोचक कहानी है। स्त्रियों के उपर्युक्त उदाहरण बड़े ही मार्के के हैं, किंतु उनसे तत्कालीन समाज में स्त्रियों की क्या अवस्था थी, इसके बारे में कोई अभ्यास नहीं मिलता। शिवाजी की मां जीजाबाई का चरित्र विशेप उल्लेखनीय है। वह एक सची हिंदू माता, दृढ़संकल्प नारी, और समझदार गृहस्वामिनी थीं जिसने अपने निजी स्वार्थों को अपनी संतति पर निछावर करदिया। सारांश यह कि हिंदू नारीजाति अपनी मर्यादा पर दृढ़ थी और उसे अपने धर्म तथा लोकाचारों से प्रेरणा मिलरही थी। किंतु जब हम इस काल में सामान्य उन्नति की ओर दृष्टिपात करते हैं तब हमें उनकी तुलना में स्त्रियों की उन्नति का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

मुगलकाल में भारत की आर्थिक और औद्योगिक अवस्थाएं क्या थीं? इस बारे में हमें अनेक सूत्रों से विपुल प्रमाण मिलते हैं। अनेक सुयोग्य विद्वानों ने इस विपय का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया है। इसलिए इसका चित्रांकन प्रायः सही ढंग से करना संभव है। साम्राज्य के मुख्य केंद्रों के बीच गमनागमन के लिए समुचित मार्ग बनेहुए थे। शेरशाह ने विशाल राजपथ बनवाया था जो पेशावर से बंगाल तक जाता था और यह लगभग वही राष्ट्रीयमार्ग था जिसे हम आजकल ग्रांड ट्रंक रोड के नाम से पुकारते हैं। यह मार्ग-व्यवस्था मुगलों को मौर्यों से मिली थी, किंतु जब कन्नौज का सितारा जगमगारहा था तब यह मार्ग सरहिंद से गंगा की घाटी में अधिक उत्तर की ओर चढ़ाकर निकालागया था। बंगाल मुगल-साम्राज्य का एक प्रमुख प्रांत बनगया था और इसलिए इसके साथ साम्राज्य के संचार-मार्ग उस समय अच्छी अवस्था में थे।

इन राजमार्गों के दोनों किनारों पर हरेभरे छायादार पेड़ थे, काफिलों के लिए सराएं, और धर्मशालाएं बनीहुई थीं और जगह-जगह प्याऊ भी बैठे हुए थे। देश के प्रमुख केंद्रों से राजधानी की ओर जानेवाली गाड़ियों का तांता बंधारहता था। सामान्यतः लोगों की यात्राएं निष्कंटक होती थीं और स्थानीय अधिकारी चोरों, डाकुओं, आदि से मार्गों की सुरक्षा का प्रबंध मुस्तैदी से करते थे। फिरभी इस बात का उल्लेख मिलता है कि कुछ क्षेत्रों में कभी कभी इन उपद्रवी तत्त्वों की सरगर्मी दीखने में आती थीं। गंगा का जलीय यातायात जोरों पर था और इलाहाबाद से बंगाल तक नौकानयन की सुचारु व्यवस्था थी। इस मार्ग पर नौकाओं का एक विशाल बेड़ा था जिसके गमनागमन का कालक्रम निश्चित था। इन नौकाओं का आकार काफी बड़ा होता था और इनमें प्रायः दो-दो सौ टन तक माल लादाजाता था।

हम देखचुके हैं कि दक्षिण के विरुद्ध मोरचा जारी रखना मुगल साम्राज्य की नीति

का एक निर्धारित अंग था। इसलिए दक्षिण का राजमार्ग हमेशा अच्छी हालत में रखाजाता था। वहां नयी कुमुकें निरंतर भेजनीपड़ती थीं, रणक्षेत्रीय सेनापतियों में प्रायः परिवर्तन होते-रहते थे और उच्चतम कोटि के व्यक्ति ही सेनापति हुआ करते थे, इसलिए राजदरबार के साथ उनका नियमित पत्र-व्यवहार चलता था। सरकारी काम के लिए घोड़ों की डाक व्यवस्था थी और जब सम्राट औरंगजेब स्वयं दक्षिण के मोरचे पर जापहुंचा था तब दक्षिण के शिविर और राजधानी के बीच सुगम और द्रुतगामी संचार-व्यवस्था का रखना अत्यन्त आवश्यक होगया था।

साम्राज्य के मुख्य नगर थे लाहौर, दिल्ली, आगरा, अजमेर, इलाहाबाद और वाराणसी। लाहौर एक विशाल नगर था। आगरा मुख्य राजधानी थी, किंतु शाहजहां के बाद दिल्ली को वह गौरव मिलगया।

तत्कालीन भारतीय नगरों के बारे में यूरोपीय दर्शकों ने जो कुछ लिखा है उसके आधार पर यह निर्भ्रांतरूप से कहा जासकता है कि उस समय लाहौर और आगरा धरती के सबसे बड़े नगरों में थे।

डच लेखक डेलाइट ने मुगलसाम्राज्यसंबंधी समस्त उपलभ्य सूचना-सामग्री की छानबीन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि अपने समय में लाहौर, लंदन या पेरिस दोनों से बड़ा था। यमुना के तट पर बसाहुआ आगरा, जहां अमीरों और सरदारों की हवेलियां बनीहुई थीं, जहां का शाही किला अपने समय का निर्विवादरूप से सबसे सुंदर और सुखदायक राज-निवास था, जहां आसमान की ओर सिर ऊंचा किये ताजमहल अपनी अप्रतिम स्थापत्यकला के सौंदर्य द्वारा मुगलों के वैभव की कहानी कहरहा था, और अन्य भव्य भवन नगर की समृद्धि का डंका बजारहे थे, निश्चय ही उस समय सबसे श्रेष्ठ नगर होने का दावा करसकता था। जब शाहजहां ने दिल्ली में अपनी नयी नगरी बसायी और बाद में जब औरंगजेब ने अपने बाप को आगरा के किले में बंदी करदिया तब उसे अनिवार्यतः दिल्ली रहना पड़ा। इसलिए दिल्ली की ख्याति फिर बढ़गयी। अकबर ने इलाहाबाद में एक किला बनवाया क्योंकि यह स्थान सामरिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण था और बंगाल के समुद्री तट पर यूरोपीय व्यापार केंद्रों के खुल जाने से यहां का नदी-मार्ग द्वारा व्यापार बहुत बढ़गया था।

मुगल-साम्राज्य के मुख्य बंदरगाह सूरत, खंभात और सतगांव थे। सूरत पच्छिमी देशों की वस्तुओं का बाजार और मक्का का फाटक था क्योंकि हज के लिए यात्रियों के जहाज यहीं से प्रस्थान करते थे। बड़े बंदरगाहों की भांति यहां भी विभिन्न देशीय लोग रहते थे और सभी देशों के व्यापारियों का जमघट यहां दिखायीदेता था जो व्यापार के लिए यहां आया-जाया करते थे। सत्रहवीं शताब्दी में यहां पुर्तगालियों, डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों ने अपनी फैक्टरियां खोलरखी थीं। वास्तव में, उस समय जो यहां प्रमुख अंग्रेजी फैक्टरी थी उसीने दो शताब्दियों बाद भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की स्थापना करवायी। इस समय इसे देखकर कौन कह सकता था कि इस तुच्छ बीज से कभी अंग्रेजी साम्राज्य का विशाल वटवृक्ष भारत की भूमि पर खड़ा होजाएगा। विभिन्न देशों के एक सौ से भी अधिक जहाज बंदरगाह में लंगर

डाले खड़ेरहते थे। इस नगर का अपना पृथक प्रशासन और प्रशासक था जिसके पास लड़ाकू हाथी, रक्षक दल, राज्य-ध्वज और उच्च पद के लिए उपयुक्त ठाटबाट के प्रतीक थे। जब वह बाहर नगर में निकालता था तब चारों ओर बड़ी चहलपहल दिखायी देती थी।

सूरत में सुंदर धर्मशालाएं और विश्रामगृह थे। यहां के व्यापारियों और महाजनों ने नगर के परकोटे के बाहर मनोरम उद्यान और हरेभरे घास के मैदान लगवारखे थे जहां लोग सैर सपाटे को जायाकरते थे। मुद्राविनिमयकारियों की कमी न थी और काठियावाड़ का बनिया महाजनी के काम में बड़ा ही पटु दीखता था जैसाकि परंपरावश आजकल भी है। भारतीय बैंक-व्यवसाय की साख खूब स्थापित थी और भारतीय हुंडी और बनिया की सभी व्यापारिक केंद्रों पर प्रतिष्ठा कीजाती थी। इस बंदरगाह की समृद्धि का पता इस बात से चल जाता है कि बंदरगाह के शुल्क से साम्राज्य के कोषागार का एक प्रमुख भाग भरजाता था।

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में भारत की गणना संसार के सर्वश्रेष्ठ औद्योगिक देशों में कीजाती थी। सूती कपड़ा बनाना इस देश का असंदिग्धरूप से प्रधान उद्योग था जो देश के किसी एक ही क्षेत्र में सीमित न था। समूचा देश इस उद्योग में हाथ बटारहा था; फिरभी विशेष प्रकार के कपड़े का उत्पादन कुछ विशेष क्षेत्रों ही में होना स्वाभाविक बात थी। मध्य-भारत में चंदेरी का बारीक कपड़ा, मछलीपट्टम की छींट, सूरत के फीते, वाराणसी की जरी और ढाके की मलमल बहुत मशहूर थी और उसकी बड़ी मांग थी। भारत में प्रत्येक किस्म का कपड़ा बुनकर तैयार कियाजाता था क्योंकि आशा अंतरीप के पूरबी क्षेत्रों में, मध्यपूर्व में, बर्मा, मलाया, जावा, आदि देशों में भारत ही के कपड़े की खपत होती थी। ऊनी कपड़ा भारतीय कपड़ा उत्पादन का एक छोटा-सा अंश था। अकबर ने ऊनी कालीन-गलीचों के बनाने का काम आरंभ करवाया था। किंतु यह उद्योग उन्नतिशील अवस्था में पहुंचकर भी इतना विकसित न होसका कि इसके उत्पादन का निर्यात किया जासकता। रेशमी कपड़ा स्थानीय पैमाने पर बनता रहा किंतु फिर भी प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल ही से इस उद्योग ने बहुत उन्नति की।

अन्य उद्योगों के साथ, भारत के जहाज-निर्माण उद्योग का विशेष वर्णन करना आवश्यक होगा। मुगलों ने बंगाल की खाड़ी में एक नौप्रांगण की स्थापना की थी जहां जहाज बनायेजाते थे। गंगा तथा अन्य प्रमुख नदियों के विशाल जलीय यातायात के कारण इस उद्योग में बड़ी उन्नति हुई। बंगाल-की खाड़ी के नौप्रांगण के अतिरिक्त कच्छ, खंभात, तथा अन्य बंदरगाही नगरों में काफी बड़े आकार के जहाज बनते थे। उस समय भारत की जहाजी कारीगरी की भारी धाक थी, यहां तक कि पुर्तगालियों ने भी अपने कुछ सर्वोत्तम जहाज भारत ही में बनवाये थे।

इस समय संसार में भारत का मान बहुत ऊंचा था। भारत में वास्को डा गामा के आने से पहले भी यूरोप में भारत का नाम बहुत कुछ विख्यात था। उससे पहले अनेक यूरोपीय भारत घूमनेफिरने आचुके थे। पुर्तगालियों के यहां आने से यूरोप में भारत की ख्याति और भी बढ़गयी। अकबर के शासनकाल में पुर्तगालियों का संबंध प्रायः पच्छिमी

समुद्रतट, बीजापुर, और कालीकट तथा विजयनगर साम्राज्य से था। किंतु जब अकबर ने ईसाई पादरियों को अपने दरबार में बुलवाया और पश्चिमी व्यापारियों को आगरा आने का प्रोत्साहन किया तब इस महान बादशाह के बारे में यूरोप में चर्चा होने लगी। महान मुगलों के १५० वर्षों के शासनकाल में, भारत का मस्तक संसार में गौरव से उन्नत रहा और उस समय उसका नाम संसार के अन्यतम सभ्य देशों और अन्यतम शक्तिशाली राष्ट्रों में गिनागया।

अध्याय १८

समुद्री शक्ति का भारत में पदार्पण

भारत में जिस राज्य ने समुद्री शक्ति के संगठन की ओर समुचित ध्यान दिया वह केवल चोल-साम्राज्य था। जैसा हम पहले लिखचुके हैं चोल सम्राटों की एक अपनी महासागरीय नीति थी जिसके अनुसार उन्होंने निकोबार में अपने अड्डे बनाये और मलाया के समुद्रतटवर्ती क्षेत्रों पर अपना प्रादेशिक अधिकार स्थापित किया। शैलेंद्र राजाओं की नौसैनिक शक्ति के साथ चोलों का जो युद्ध एक सौ वर्षों तक चला उससे चोल राज्य विनष्ट होगया। तेरहवीं शताब्दी में बंगाल की खाड़ी पर फिर शैलेंद्रों का एकाधिकार होगया और उन्होंने श्रीलंका पर आक्रमण करदिया। जावा साम्राज्य का अभ्युदय होने पर शैलेंद्रों की शक्ति चूर-चूर होगयी और पंद्रहवीं शताब्दी तक हिंदमहासागर का नौकानयन अरबों के हाथ में चला गया। स्थानीय प्रभाववाले भारतीय शासकों में कालीकट के जमोरिनों और गुजरात के सुलतानों का नाम सबसे पहले आता है। इनके पास जो नौसैनिक शक्ति थी उसके कारण इन्होंने लाल सागर के बंदरगाहों और ईरान की खाड़ी के व्यापार पर नियंत्रण रखा, किंतु फिरभी उसका अधिकारक्षेत्र स्थानीय था और महासागर की लहरों पर नियंत्रण करने की क्षमता और हौंसला इनकी नीति को छूकर नहीं निकला था।

सन् १४९८ ई. में एक समुद्री शक्ति ने, जिसका अड्डा यूरोप में था, भारतीय समुद्रों में आघुसी। कालीकट के तट पर वास्को डा गामा के पदार्पण से उस नये युग का समारंभ होता है जबकि भारत संसार की राजनीति और दूरवर्ती देशों की प्रतिस्पर्धा के अखाड़े में घसीटा-गया। वास्को डा गामा ने भारतीय समुद्रों पर अपने राजा के आधिपत्य का दावा किया जिससे उसका कालीकट के शासक से तुरंत संग्राम छिड़गया। उस बंदरगाह से हटकर, पुर्तगालियों ने कोचीन में अपना अड्डा जमाया जहां के शासक ने जमोरिन से अपने वैमनस्य के कारण उन्हें मदद दी। इसके बाद जो नौसैनिक युद्ध १५०३ ई. में छिड़ा वह युद्ध में निपटारे की दृष्टि से अपूर्ण रहा, किंतु फिरभी राजनीतिक दृष्टि से निर्णयकारी था। पुर्तगालियों के बेड़े से जिस कालीकट के बेड़े को टक्कर लेनी पड़ी वह अगाध जल में कूद पड़नेवाला नौसैनिक बेड़ा नहीं था। वह तो तटवर्ती जल में भलीभांति लड़ सकता था और तभी उसकी द्रुतगति शत्रु से श्रेष्ठ प्रतीत होती थी। किंतु उस शत्रु से टक्कर लेने में इसके हाथ-पांव फूल उठे जो अगाध महासागर में तरने का अभ्यस्त था। कोचीन से दूर जो समुद्री टक्कर हुई उसमें जमोरिन की नौसेना के टखने ढीले पड़गये—उसकी दुर्बलता की कलई खुलगयी। फिर क्या था, अगले वर्ष पुर्तगाली अधिक शक्ति लाकर जमोरिन को ललकार उठे और इस भारतीय राजा को विवश

होकर प्रतिरक्षात्मक युद्ध करना पड़ा। मिस्र और गुजरात के सुलतानों की मदद से पुर्तगालियों को भारतीय समुद्रों से खदेड़ने की जो कोशिश कीगयी वह भी बेकार रही, क्योंकि मिस्र का नौसेनापति मीर हुसेन अपनी प्रथम विजय का ठीक-ठीक लाभ उठाने में असमर्थ रहा और फिर वह अपना बेड़ा लेकर अपने घरेलू समुद्री क्षेत्र में चलागया। पुर्तगालियों के भाग्य में तो यहां विजय लिखी थी और उनका पांव भारत में टिकना था।

अलफांसो एलबुकर्क (१५१०-१५१६ ई.) के समय में पुर्तगालियों की स्थिति में आकाश और पाताल का अंतर होगया। उसने जो व्यवस्था की उसके कारण मलक्का, गोआ और सोकोत्रा--इन तीन नाकों ही से पुर्तगालियों का नियंत्रण समस्त हिंदमहासागर पर होगया। जमोरिन को पराजित करने के प्रयास में विफल होनेपर एलबुकर्क ने गोआ और पड़ोसी प्रदेश पर हमला किया और उसे अपना दुर्जेय अड्डा बनालिया। उसने मलक्का पर अधिकार करलिया जिससे उसके लिए प्रशांत महासागर का फाटक खुलगया और साथ ही हिंदमहासागर का पूरबी प्रवेशद्वार भी उसके नियंत्रण में आगया।

मलक्का की विजय और अराकान को शासक के साथ मैत्री संबंधों की स्थापना से, एलबुकर्क की महासागरीय रणनीति अपनी उन्नति की पराकाष्ठा जापहुंची। उसने एक व्यापारिक साम्राज्य बनाने का संकल्प किया था जिसकी ओर हिंदमहासागर में कोई आंख उठाकर न देखसके। अफरीका का समुद्रीतट पहले ही से पुर्तगालियों के प्रभुत्व में आगया था और अब उसके सामने एक ही काम बाकीथा कि कुछ दृढ़ नाकों की स्थापना कीजाए जहां से इस मुख्य विस्तृत क्षेत्र की रक्षा करना संभव होसके। सोकोत्रा को अपने साम्राज्य में मिलाने, ओर्मूज़ पर राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने, और मलक्का को हथियाने से पुर्तगालियों की नाकों की पंक्ति कायम होगयी जो तबतक सुदृढ़ बनीरही जबतक उनकी नौ-शक्ति यूरोप में अक्षुण्ण रही। अपनी इस व्यवस्था को सफल बनाने के लिए यह आवश्यक था कि उनके व्यापारिक साम्राज्य के बीच में पड़नेवाले भारत में उनका कोई अड्डा बनजाए जहां पुर्तगाली शक्ति का केंद्र स्थापित किया जासके। पुर्तगालियों ने गोआ को जीता, वहां अपना उपनिवेश बसाया और एक सर्वांगीण सरकार की स्थापना की, जिससे यह प्रदेश धीरे धीरे पुर्तगाली व्यापारिक साम्राज्य का अभीष्ट नाका बनगया। संक्षेप में एलबुकर्क की व्यूहरचना को निम्नांकित शीर्षकों में लेखनीबद्ध कियाजासकता है : (क) गोआ पर सीधा शासन और वहां के निवासियों के साथ वैवाहिक संबंधों द्वारा उसको उपनिवेश में परिणत करना, (ख) सामरिक नाकों पर दुर्ग और अड्डे स्थापित करना, (ग) सामरिक महत्त्व के तटवर्ती क्षेत्रों के शासकों के साथ गौण मैत्री-संधियां करना। इन उपायों से एलबुकर्क ने भारतीय सागरों पर अपना वर्चस्व स्थापित करलिया जो कम-से-कम एक सौ वर्षों तक अक्षुण्ण बनारहा। इसके अतिरिक्त उसने नौसैनिक शक्तियों का मार्ग प्रशस्त करदिया जिन्होंने आगे चलकर पच्छिम की दिशा से हिंदमहासागर में प्रवेश किया।

पुर्तगालियों का भारत में कभी कोई साम्राज्य नहीं था। वे दंभपूर्ण शब्दों में जिस प्रदेश को अपना 'भारत का' राज्य कहकर पुकारते थे वह जो कुछ हम आजकल देख रहे हैं उससे अधिक बड़ा न था। उनके हाथ में एक साम्राज्य अवश्य था और यह था भारतीय व्यापार का साम्राज्य।

भारत में उनके आगमन के समय, जो कालीकट आजकल एक सामान्य जिले का नगर है, व्यापार का विशाल केंद्र था। उस समय कालीकट के बंदरगाह से प्रचुर मात्रा में माल बाहर जाया करता था। दक्षिण भारत का कपड़ा तथा अन्य माल और मलाबार के मिर्च-मसाले यहां से विदेश भेजे जाते थे। इसी बंदरगाह के नाम पर केलिको कपड़े का नाम पड़ा। लालसागर के बंदरगाहों को यहां से बहुत माल जाता था जिसमें मनार की खाड़ी के मोती और मूंग का बहुमूल्य निर्यात भी सम्मिलित था। जब मा-हुवान ने १४२५ ई. में कालीकट को देखा तब यह एक विशाल वैभवसंपन्न नगर था। सूरत और खंभात की भी ख्याति इसी श्रेणी में थी। परंतु पुर्तगालियों के आने से यह नकशा बिल्कुल ही बदलगया। पुर्तगाल के राजा ने नौका-नयन का अधिपति होने का दावा किया और भारत में उसके प्रतिनिधि ने खुले समुद्र में अन्य देशों के लिए नौकानयन के अधिकार का उपभोग अस्वीकृत करदिया। पुर्तगाली इतिहासकार बेरोज का कहना है : "यह सच है कि समुद्र में नौकानयन का सबको सामान्य अधिकार प्राप्त है और यूरोप में हम उस अधिकार को स्वीकृत करते हैं लेकिन यह अधिकार यूरोप के बाहर मान्य नहीं : और इसलिए पुर्तगालियों को सागरों के अधिपति होने के नाते उन सबका माल छीनने का न्यायपूर्ण अधिकार प्राप्त है जो बिना उनकी अनुमति के खुले समुद्रों में नौकानयन करते हैं।"

सन् १५०९ ई. में मिस्री नौसेनापति मीर हुसेन के भारतीय समुद्रों से अपना बेड़ा लेकर चलेजाने के बाद, पुर्तगालियों ने अपने सामुद्रिक एकाधिपत्य का दावा करना आरंभ किया जिसे एलबुकर्क के समुद्री साम्राज्य की स्थापना के कारण विशेष प्रोत्साहन मिलने लगा था। उनके अधिकारपत्र के बिना यदि कोई जहाज समुद्र में आता-जाता दिखायीदेता था तो उसको पकड़कर उसका माल जब्त कर लियाजाता था। इस प्रकार एक झटके में पुर्तगाली भारतीय व्यापार के मालिक बनबैठे। पुर्तगालियों के इस एकाधिपत्य-प्रणाली ने अरबों के हितों पर कुठाराघात किया जो स्वयं भारत में डा गामा के आगमन से पहले की शताब्दी में भारत के निर्यातक व्यापार का बड़ा अंश ढोकर लेजाते थे। इस प्रकार भारत के साथ अरबों के व्यापार का सत्यानाश होगया और भारत का समुद्री व्यापार पुर्तगालियों के हाथ चलागया।

पुर्तगालियों में एक भलाई छोड़कर सभी दुर्गुण भरेपड़े थे——उनमें धूर्तता, निर्लज्जता, पाखंड, घमंड, आलस्य-तंद्रा और अनैतिकता ने डेरा डालरखा था। उन्होंने भारतीय समुद्रों पर डेढ़ सौ वर्षों के अपने आधिपत्यकाल में, एलबुकर्क को छोड़कर, एक भी सुयोग्य राजपुरुष या प्रशासक प्रस्तुत नहीं किया। फिरभी उन्होंने, यह तो मानना ही पड़ेगा, भारतीय जीवन में कुछ अपना योगदान किया। भारत की जड़ी-बूटियों पर, गार्सिया डा ओर्टा की निबंधमाला बहुत ही महत्त्वपूर्ण है जिसमें इस विषय का सुंदर ढंग से वर्णन है। यहां मुद्रण का सूत्रपात और गोआ तथा वेरापोली में भारतीय पादरियों के विद्यालयों की व्यवस्था करके उन्होंने आत्मिक ज्ञान के क्षेत्र में एक लहर पैदा करदी। उन्होंने पच्छिमी तट पर 'मेन्यूलेरक' स्थापत्यकला का प्रसार और बंगला-नुमां इमारतों की रचनापद्धति का सूत्रपात किया जिनका उल्लेख किया जासकता है।

पुर्तगालियों ने धार्मिक प्रचार के क्षेत्र में भी काम किया। ये मिशनरी कट्टर कैथोलिक थे जो ईसा के संदेशों का प्रसार करना अपना कर्तव्य समझते थे। इस काल में कैथोलिक चर्च ने भारत में अपने दो दर्शनीय मनीषी भेजे जिनके नाम फ्रांसिस जेवियर और एलेक्सि डि मेंज़ेस हैं। जेवियर सोसायटी आफ जेसुस अर्थात् यीशु-समाज के मूल-सदस्यों में से थे और संत इगनेसस लोयाला के शिष्य थे। भारत में उनके आगमन का ध्येय यह था कि जिस भारतीय प्रदेश पर पुर्तगालियों का प्रभाव स्थापित होगया है वहां की विधर्मी जनसंख्या को यीशु की अनुयायी बनायाजाए। उन्होंने अपने उद्देश्य में आंशिक सफलता पायी। उनकी समाधि गोआ के बोम जेसुस चर्च में बनीहुई है जिसका श्रेय टस्कनी के ग्रांड ड्यूक को है। डि मेंज़ेस गोआ के लाटपादरी (आर्कबिशप) होगये थे। वह विधर्मियों को ईसाई मत की दीक्षा देने में इतनी अभिरुचि नहीं रखते थे जितनी मलाबार के प्राचीन ईसाइयों पर से हिंदूधर्म का प्रभाव मिटाने के लिए चिंतित थे और उन्हें मूलचर्च के प्रति श्रद्धालु बनाना चाहते थे। उनका डाइमपुर (उदयमपेरूर) का पादरी सम्मेलन (१५९९ ई.) भारत में ईसाई इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसका महत्त्व ठीक-ठीक नहीं कूता गया है। इसके कारण सीरिया के ईसाइयों का बहुमत कैथोलिक चर्च के अंतर्गत आगया और फिलिप्पाइन को छोड़कर पूरब में भारत सबसे बड़ा कैथोलिक देश बनगया और अब भी बनाहुआ है। राज्य की सहायता और प्रोटेस्टेंटमत के एक सौ वर्षों के प्रचारकार्य के बावजूद भी भारत में कैथोलिक चर्च की प्रधानता बनीहुई है और उसके सदस्यों की संख्या अन्य ईसाई संप्रदायों के अनुयायियों की सम्मिलित संख्या से भी अधिक है। भारत---विशेषकर दक्षिण भारत---में जो ईसाई धार्मिक भवन निर्माण कियेगये उनका श्रेय पुर्तगालियों को है। मैलापुर का विशाल गिरजाघर और पच्छिमीतट के अन्य अनेक गिरजाघरों से स्पष्ट होता है कि पुर्तगालियों में कितना विकट धार्मिक जोश था।

पुर्तगालियों ने व्यापार पर जो एकाधिपत्य कर लिया था उससे मुख्यरूप से लाभ उनके अपने देश पुर्तगाल ही को हुआ, लेकिन साथ ही गौणरूप से भारत को भी हुआ। पहला, भारत का माल, विशेषकर मिर्च-मसाले और उत्तम कपड़ा, दुनिया के बाजारों में इतने बड़े पैमाने पर पहुंच-गया जितना पहले कभी देखने में नहीं आया। दूसरा, पुर्तगालियों ने यूरोप और चीन की चीज़ें भारत के बाजारों में प्रस्तुत करदीं। चीनी बरतनों का व्यापार तो पुर्तगालियों की कमाई का एक मुख्य साधन होगया था। पुर्तगाली विजयनगर को ईरानी घोड़े लाकर देते थे जिससे उनको खूब लाभ होता था। इस विशाल हिंदू राज्य का बाहरी व्यापार प्रायः पुर्तगालियों के हाथ में था और जैसा तब कहते थे, नरसिंग के दरबार के साथ पुर्तगालियों के मधुर मैत्री-संबंध बहुत समय तक बने रहे।

प्रथम बीस वर्षों के मार्गदर्शन के बाद, भारत में पुर्तगाली जीवन का अधःपतन आरंभ हुआ। इस बारे में सभी स्रोतों से प्रमाण मिलते हैं। गोआ पर लुईज़ केमोएंस ने जो कविता लिखी है उससे आभास मिलता है कि धन पाकर पुर्तगाली कैसे पतन के गड्ढे में गिरगये। समय बीतने के साथ, वास्को डा गामा के उत्तराधिकारी डुराटे पचेको और एलबुकर्क समुद्रों का कर उगाहकर प्रचुर धनराशि पाकर मदोन्मत्त होगये। वे इतने निकम्मे होगये जितने भारत में

कभी भी देखे-सुने नहीं गये। उनके दुराचरण की तुलना कहीं भी नहीं होसकती है और विलासता में तो उन्होंने पड़ोसी राज्यों—बीजापुर और गोलकुंडा—को भी मात देदी थी। समुद्रों पर अपने स्वामित्व के कारण पुर्तगाली अपने को बहुत ही सुरक्षित अनुभव करनेलगे थे और इस भावना ही ने अंततोगत्वा उनका बेड़ा ग़र्क करदिया। खुले समुद्रों में, और कौन था जो उनकी शक्ति को चुनौती देता? जमोरिन के नौसेनापति मलाबार के तटीय जल में कुछ भी करते-धरते रहे, परंतु उनमें बाहर जाने की न तो हिम्मत थी और न उनके पास साधन ही थे। इस दशा में, भारत का व्यापार पुर्तगाल के हाथ में चलागया। अब ऐसा कोई दूसरा देश न था जो उसके मार्ग में रोड़ा अटकाता। यदि कोई हो भी सकता था तो वह देश केवल स्पेन था जिसका जहाजी बेड़ा अतलांतक महासागर में हलचल करता था। किंतु इस समय एक विशेष बात यह थी कि स्पेन का राजा फिलिप्प द्वितीय स्वयं पुर्तगाल का भी राजा बनबैठा था। जिससे दोनों देश मिलकर एक होगये थे।

अंत में, सत्रहवीं शताब्दी में पुर्तगालियों की यह गहरी नींद टूटी। लेकिन तब तक डच और अंग्रेज भारत के समुद्रों में आचुके थे और उनके आगमन के कुछ समय बाद ही फ्रांसीसी भी आधमके। यह एक स्वयं प्रमाणित कहावत चलपड़ी थी कि जिसका नियंत्रण अतलांतक पर होगा वही हिंदमहासागर पर भी नियंत्रण रख सकेगा। दूसरे शब्दों में हिंदमहासागर के स्वामित्व का निर्णय उस नौसैनिक शक्ति द्वारा कियाजाता था जो यूरोप के तट के उस ओर विद्यमान होती थी। स्पेन के आर्मेडा अर्थात् नौसैनिक बेड़े की पराजय के बाद कहीं डचों और अंग्रेजों की आंखें खुली कि वे भारत के आसपास के समुद्रों में जाकर वहां के पुर्तगाली बेड़े को ललकार सकते हैं। गोआ के आर्कबिशप के निजी सचिव लिंस्चोटन ने डचों को उकसाकर डच ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना करवायी। सन् १५९५ ई. में चार जहाजों का एक डच बेड़ा पूर्व की ओर चलपड़ा जिसने उनके नियमित व्यापार का द्वार खोलदिया। पुर्तगालियों के लाख सिर पीटने पर भी डचों ने हिंदनेशिया में अपना पांव जमालिया। उन्होंने १६४१ ई. में मलक्का पर कब्जा करलिया जिससे उनके लिए हिंदमहासागर का पूरबी फाटक खुलगया। एलबुकर्क की व्यवस्था दुर्बल सिद्ध नहीं हुई थी अपितु उसके उत्तराधिकारी इतने निकम्मे निकले कि वे उसकी प्रतिरक्षा भलीभांति नहीं करसके। डचों के हाथ में मलक्का के जाने से श्रीलंका पर आक्रमण सुगम हो गया। सन् १६५४ ई. में कोलंबो का पतन होगया और १६६३ ई. तक मलाबार तट पर एक छोटी-सी बस्ती डचों के पास आगयी। इस शताब्दी के आरंभ तक पुर्तगालियों का एकाधिपत्य खत्म होगया; श्रीलंका पर डचों के अधिकार के कारण उनकी राजनीतिक शक्ति विलुप्त होगयी।

अंग्रेजों की ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना १६०३ ई. में हुई और फिर एक लंबे अर्से के बाद फ्रांसीसी भी इस मैदान में उतर आये। प्रारंभ में अंग्रेजों की हलचल का केंद्र हिंदनेशियाई द्वीप थे किंतु अंबोइना के हत्याकांड (१६२३ ई.) के बाद उनका ध्यान भारतीय व्यापार की ओर खिंचा जिसके लिए उनके मुख्य ठिकाने सूरत और मछलीपट्टम में स्थापित कियेगये। सारांश यह कि हिंदमहासागर धीरे धीरे नौसैनिक प्रतिस्पर्धा का अखाड़ा बनगया

जिस पर यूरोप की स्थिति का प्रतिबिंब निरंतर पड़तारहता था। पुर्तगाली तो अब आये-गये होगये थे—सीधी रस्साकशी डच्चों और अंग्रेजों में होने लगी। अचानक यूरोप में डच नौसैनिक शक्ति चौदहवें लुई के अग्रघर्षण का शिकार होगयी जिसका पूरबी मंच पर यह प्रभाव पड़ा कि यहां डच्चों को अंग्रेजों के सामने मुंह की खानी पड़ी।

कोलबर्ट के नेतृत्व में, फ्रांस भी इस संघर्ष में कूद पड़ा। इस प्रवीण फ्रांसीसी मंत्री का मूलभूत विचार यह था कि श्रीलंका में फ्रांसीसी शक्ति की स्थापना की जाए। इस उद्देश्य से प्रेरित होकर उसने एक शक्तिशाली नौसेना १६७० ई. में जेकोब डि ला हाए के नेतृत्व में भारत भेजी। यद्यपि कैंडी के राजा से ट्रिंकोमाली उपलब्ध होचुका था, किंतु जबतक फ्रांसीसी वहां तक पहुंचे तबतक डच्चों ने इस विख्यात बंदरगाह पर पहले ही अधिकार करलिया था।

आगे चलकर इंग्लैंड और फ्रांस में भारतीय समुद्रों पर आधिपत्य का संग्राम आरंभ हुआ। यहां फ्रांस के शक्तिशाली बेड़े की कमान ला बोर्डोना के हाथ में थी। किंतु उसके और सफ्रेंस के नेतृत्व में फ्रांसीसी बेड़े ने इधर जो विजय प्राप्त की उसका, अतलांतक महासागर में फ्रांसीसी बेड़े के बिखरे होने के कारण, कोई ठोस परिणाम न निकलसका और हिंदमहासागर निष्कंटक रूप से अंग्रेजों के प्रभुत्व में आगया। वास्तव में, यूट्रेक्ट की संधि के बाद अंग्रेजों की नौसैनिक शक्ति की धाक यूरोप भर छागयी और वे समुद्रों के स्वामी बनगये।

यहां भारत की नौसैनिक हलचल का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। स्वर्णदुर्ग के अंगरे के नेतृत्व में भारतीय जहाजी बेड़े की सफलता मराठों के इतिहास में अमिट अक्षरों में लिखी रहेगी। शिवाजी ने नौसेना की आवश्यकता अनुभव की थी और उसका संगठन भी किया था। पेशवाओं के शासनकाल में मराठों की नौसेना की कमान एक अत्यंत योग्य, साहसी और कुशल सेनापति के हाथ में थी जिसका नाम कानोजी अंगरे था। कानोजी ने अपना मुख्यालय स्वर्णदुर्ग में स्थापित किया था और जो नौसैनिक शक्तियां उस समय अरब सागर में हलचल कियाकरती थीं उनकी सूची में उसका भी स्थान था। उसने शीघ्र ही तटीय जल में अपनी धाक कायम करली और एक के बाद दूसरी यूरोपीय शक्ति उसका वजन अनुभव करतीरही। बंबई से केवल सोलह मील दूर पर कन्हेरी द्वीप में उसका नौसैनिक अड्डा था। कानोजी ने भी समुद्री क्षेत्र में चौथ उगाहनी आरंभ की। उनकी यह नीति अंग्रेजों द्वारा दियेगये अनुमतिपत्रों और पुर्तगालियों के अधिकारपत्रों से सीधी टकराने लगी जिसके कारण कानोजी और अंग्रेजी नौसेना में युद्ध छिड़गया। अंग्रेज कानोजी का बाल बांका न करसके। इसके विपरीत अंग्रेजों को भारी क्षति उठानी पड़ी और कई बार पराजयों का मुंह देखना पड़ा। इससे आगबबूला होकर अंग्रेजों ने पुर्तगालियों के साथ गठजोड़ किया और शाही अंग्रेजी नौसेना के एक दल ने अंगरे के नौसैनिक गढ़ (१७२२ ई.) पर चढ़ाई करदी। गोआ के वायसराय ने इस चढ़ाई में अंग्रेजों की मदद के लिए अपने ५००० सैनिक भेजे। किंतु विजयश्री ने उल्लासपूर्वक कानोजी का आलिंगन किया और गठजोड़े देशों के नाविकों ने मैदान छोड़कर कहीं अपने अड्डों में जाकर सिर छिपाया। कानोजी के साथ संघर्ष में डच्चों का भी यही हाल हुआ। एक अंग्रेज इतिहासकार ने लिखा है : "अंग्रेजों, डच्चों और पुर्तगालियों, तीनों पर समानरूप से विजय पाकर यह

मराठा नौसेनापति अरब सागर में विजयी की भांति अपना जहाजीबेड़ा चलाता था।"

कानोजी के उत्तराधिकारियों ने उसकी नीति का अवलंबन किया और आगे चलकर जबतक क्लाइव तथा वाट्सन ने १७५६ ई. में स्वर्णदुर्ग पर आक्रमण करके उसपर अधिकार नहीं कर-लिया तबतक कोंकण तट पर मराठा नौसैना एक महत्त्वपूर्ण शक्ति बनीरही। यहां पर यह बताना अनुचित न होगा की अंगरे की नौसेना की हलचल महासागरीय स्तर पर नहीं थी। मराठा नौसैनिक शक्ति केवल प्रादेशिक जल तक सीमित थी और उसने खुले समुद्र में जाकर भी शत्रुओं से लोहा लेने का साहस नहीं किया। अतएव अतल समुद्रों में अंग्रेजी नौसेना की शक्ति सर्वोपरि बनीरही। किंतु भारतीय समुद्रों में उसका एकाधिपत्य १७८४ ई. में सफ्रेन के चलेजाने के बाद ही स्थापित होसका।

जब मुगल सत्ता का सूर्य मध्याह्नकाल में था तब भी समुद्र पर उनकी कुछ न चलती थी। मध्येशियाई परंपरा के प्रभाव में होने के कारण, अकबर की निगाह में समुद्री शक्ति कभी नहीं चढ़ सकी और वास्तव में उसको स्वयं कहीं गुजरात की विजय के बाद समुद्र के दर्शन का सौभाग्य मिला था। उसका साम्राज्य सचमुच में एक महाद्वीपीय भूखंड की परिधि में घिराहुआ था जिसमें सूरत और बंगाल के कुछ छोटे-छोटे बंदरगाह समुद्र की राह की ओर अवश्य इंगित कररहे थे। किंतु, नौसेना क्या होती है? यह विचार अकबर और उसके उत्तरा-धिकारियों के दिमाग में कभी नहीं आया। जब कभी यूरोपीय फैक्टरियों के साथ साम्राज्य का झगड़ा उठखड़ा हुआ, वे उनपर अपनी आज्ञतियां लागू करने में असमर्थ रहे। उदाहरण के लिए, लालसागर के साथ विदेशियों द्वारा मूंगे का व्यापार करने पर साम्राज्य ने जो प्रतिबंध लगाया था, उसका सूरत में स्थापित अंग्रेजी कंपनी की फैक्टरियों ने उल्लंघन किया, किंतु जहांगीर इतना होने पर भी उनका कुछ न बिगाड़ सका। शाहजहां ने बंगाल में एक छोटा-सा तटीय नौसैनिक बेड़ा बनवाया था जिसने पुर्तगालियों के विरुद्ध सफलतापूर्वक काम किया, लेकिन उस समय तक वास्को डा गामा के उत्तराधिकारी भारतीय समुद्रों में एक बड़ी शक्ति का रूप गवांबैठे थे। सामान्यरूप से हम कह सकते हैं कि मुगलों और नौसैनिक शक्तियों के बीच की लड़ाइयां हाथी और ह्वेल की लड़ाइयां थीं जो अपनी-अपनी सीमाओं के बाहर असमर्थ थे। जब मुगल साम्राज्य के हज-यात्रियों को समुद्र में सतायाजाता था या व्यापारियों को लूट-लियाजाता था तो शाही अधिकारी हाथ मलते रहजाते थे। दूसरी ओर, यूरोपीय शक्तियों को स्थानीय अधिकारियों से भिड़ना और उनकी धृष्टता का दमन करना पड़ता था, अपने व्यापार में हस्तक्षेप करनेवालों से निपटना पड़ता था और अपनी फैक्टरियों पर जब-तब होनेवाले आक्रमणों का सामना करनापड़ता था।

याद रहे कि सोलहवीं शताब्दी में महासागरीय पैमाने पर समुद्री शक्ति की समस्या पैदा हुई। वास्को डा गामा के आगमन से भारत के सामने यह विकट समस्या बनगयी, क्योंकि इससे पहले भारत की जो समुद्री सत्ता थी वह केवल समुद्रतटों के समीपवर्ती जल पर सीमित थी। श्रीविजय या चोल राजाओं का साम्राज्य समुद्र के दोनों ओर फैलाहुआ था और इसलिए उनकी सत्ता समुद्र के आरपार तक छायी हुई थी। भारत में और प्रशांत में यूरोपीयों के आगमन से

नौसैनिक अड्डों, जहाजों के लिए ईंधन के केंद्रों और मरम्मत की व्यवस्था के प्रश्न उठखड़े हुए। यूरोप से भारत का मार्ग आशा अंतरीप होकर आता था, इसलिए नौसेना के संगठन की दिशा में पहला पग यह था कि इस मार्ग की सुरक्षा-व्यवस्था की जाए। जब विदेशी अचानक भारत के सामने आखड़ा हुआ तब पहले तो भारत यही नहीं समझ सका कि इस घटना का क्या महत्त्व है और उसने केवल एक स्थानीय पैमाने पर उसके विरुद्ध प्रतिरक्षात्मक संघर्ष किया। इसके अतिरिक्त, ऐतिहासिक घटनाओं के कारण उत्तर का संपूर्ण ध्यान स्थलीय सीमांत की सुरक्षा की ओर केंद्रित था। इससे पहले भारत के सामने कभी यह प्रश्न ही नहीं आया था कि उसके आसपास जो समुद्र फैलाहुआ है उस पर उसका नियंत्रण होना चाहिए।

भारत के इतिहास पर समुद्री शक्ति का क्या प्रभाव पड़सकता है यह प्रारंभ ही से प्रकट होगया। भारत के व्यापार का एकाधिपत्य समुद्री शक्तिओं के हाथ में चलेजाने से भारत की लक्ष्मी पश्चिम को विदा होगयी। किंतु इससे भी अधिक देश पर राजनीतिक प्रभाव पड़ा--- समुद्री शक्तियों की हलचलों से सिद्ध होगया कि यदि उनको अपनी नौसेना की तोपों की छाया प्राप्त है तो उनको ठेठ भूमि से भी निकाला नहीं जासकता और जब उनको अनुकूल अवसर मिलजाएगा तब वे अपना पंजा देश पर फैलालेंगे और अपना प्रभाव बढ़ालेंगे। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि यदि किसी देश की ठेठ भूमिपर सुदृढ़ और सुव्यवस्थित शक्ति विद्यमान है तो आक्रमणकारी नौसेना चाहे सिर पटककर मरजाए, वह उस धरती पर अपना राज्य कायम नहीं करसकती। किंतु इतनी ही स्पष्ट बात यह भी है कि यदि उपर्युक्त संगठित शक्ति नहीं है तो नौसैनिक अड्डे धीरे धीरे भावी साम्राज्यों का केंद्र बनना आरंभ करदेते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि पुर्तगालियों की शक्ति समुद्रों पर स्थापित होचुकी थी किंतु जमोरिन की सुसंगठित शक्ति के कारण एक सौ वर्षों तक उनकी दांव न लगसका, और अगले सौ वर्षों तक डचों की भी दाल न गलसकी। जबतक मुगलसाम्राज्य शक्तिशाली बनारहा था तबतक अंग्रेजों, हालैंडवालों और फ्रांसीसियों में से किसी का फंदा भारत के गले में न पड़सका और व्यापार करने के अतिरिक्त उनके हाथ कुछ न लगसका। लेकिन जब भारत की केंद्रीयसत्ता लड़खड़ाउठी, और उसके प्रांतों में गृहयुद्ध की आग भड़क उठी तब जो फैक्टरियां कोरे व्यापार का ढोंग रचेहुए थीं किंतु दिल में राजनीतिक अरमान छिपाये थीं, मैदान में कूद पड़ीं और भारत की घटनाओं के रुख को अपनी ओर मोड़लिया।

अध्याय १९

राष्ट्रीय राज्य का अवसान

सन् १७९४ ई. में पूना में एक विचित्र और भव्य समारोह देखने में आया। विशाल मराठी साम्राज्य के वास्तविक प्रमुख पेशवा को इस समारोह के गंभीर वातावरण के बीच दिल्ली के सम्राट द्वारा कुछ प्रतिष्ठासूचक उपाधियों से विभूषित कियागया। इन उपाधियों को पेशवा ने उच्चतम आदर की भावना के साथ ग्रहण किया और उन सब औपचारिक कर्तव्यों का पालन तथा ठाठबाट का प्रदर्शन किया जिससे सम्राट की इस कृपा के लिए उपाधि-ग्रहण करनेवाले की ओर से हार्दिक कृतज्ञता का समुचित प्रकाशन होसके। जिस सम्राट की खिलअत इस धूमधाम और श्रद्धा की भावना से ग्रहण की गयी थी वह वास्तव में उस समय पेशवा के एक सेवक का बंदी था। कहां तक लिखें, वह अब जिस राजप्रसाद में रहता था उसका भी स्वामी न था। उसपर पिछले दिनों एक अफगान आक्रमणकारी ने धावा बोलकर उसे बुरी तरह लूट-खसोट डाला था। उसकी बादशाही की धाक धूल में मिलचुकी थी। जब इस अफगान विजेता से अकबर के इस वंशज का पाला पड़ा तब उस आक्रमणकारी ने इस सम्राट की आंखें तक निकलवालीं। यह मुगल सम्राट सिंधिया के हाथ की कठपुतली था और मराठों की दया पर निर्भर था। अपने को बंदी बनानेवाले सिंधिया के दबाव में आकर ही सम्राट ने उसके स्वामी पेशवा को कुछ उपाधियां और गौरव प्रदान करना स्वीकार किया था जिन्हें पेशवा ने पूना में भव्य दरबार करके सम्मानपूर्वक ग्रहण किया।

कुछ वर्षो बाद जब १७९९ ई. में अंग्रेजों और उनके मित्र निजाम की फौजों ने श्रीरंगपट्टम पर कब्जा करलिया और जब मैसूर राज्य के सिंहासन को अन्यायपूर्वक हड़पनेवाले सुलतान हैदरअली का बेटा टीपू अपने किले की बहादुरी के साथ रक्षा करता हुआ घाव-पर-घाव खाकर मररहा था तब इतिहास ने फिर आश्चर्यजनक रीति से इसी प्रकार का एक दृश्य उपस्थित किया। वह दृश्य यह था कि अंग्रेजों की फौज के साथ निजाम के प्रतिनिधि मीर आलम ने जामा मसजिद में पदार्पण किया और दिल्ली के गुड़िया बादशाह के नाम पर खुतबा पढ़ा जिसमें टीपू की करतूतों पर विरोध प्रकट कियागया कि उसने पादशाह के नाम की जगह अपना नाम समाविष्ट करके अन्याय किया था।

बेचारे दिल्ली के बादशाह को अब कौन बूझता था? फिर भी उसके पीछे अकबर की परंपरा जीवित थी—राष्ट्रीय राज्य की भावना बनीहुई थी। इसीलिए, यद्यपि मराठासंघ का प्रमुख अधिकांश हिंदुस्तान पर एक स्वतंत्र, प्रभुसत्ताधारी शक्ति के रूप में निधड़क राज कररहा था फिरभी उसने दिल्ली के सम्राट से उपाधि पाने में गौरव अनुभव किया। दूसरी ओर मैसूर

के लोग कभी मुगल साम्राज्य के अंतर्गत नहीं आये थे, इसलिए जब उपर्युक्त खुतबा पढ़ा गया तब उन्होंने प्रायश्चित्त की ठंडी सांसली---उनकी दृष्टि में इससे टीपू के पाप की निवृत्ति होगयी। यद्यपि साम्राज्य विलुप्त होचुका था, किंतु उसकी भावना लोकग्राह्य होगयी थी।

जब औरंगजेब मरा तब मुगल साम्राज्य की दक्खिनी सीमा केवल तुंगभद्रा नदी तक थी। राष्ट्रीय राज्य का न सही, वह भारतीय एकता का शहीद होगया और इस लक्ष्य पर पहुंचने के प्रयास में उसने अपना समूचा जीवन बितादिया। लेकिन यह विस्तृत साम्राज्य उसके निजी पौरुष के बल पर संगठित था। ज्योंही मंच से उसके अदम्य व्यक्तित्व का तिरोधान हुआ त्योंही वह देखते-देखते छिन्नभिन्न होगया। उसके बाद, उत्तराधिकार का सामान्य संग्राम छिड़गया और राजसिंहासन पर एक के बाद दूसरा बादशाह इतनी जल्दी आता-जाता रहा कि उन्हें साम्राज्य के दूरवर्ती प्रांतों पर अपना शासन चलाने या अपनी सत्ता फिरसे स्थापित करने का समय ही नहीं मिला। इस गड़बड़झाले के दिनों में दिल्ली के दरबार में एक सुयोग्य राजनीतिज्ञ के दर्शन होते हैं जो आसफजाह निजाम उल्-मुल्क था। उसने इस अस्तव्यस्तता को रोकने की एक विफल चेष्टा की और अंत में दक्षिण की निजामत पर अधिकार करके बैठ गया जो अर्ध-स्वतंत्र राज्य-सी थी। राजाराम और ताराबाई के कुशल नेतृत्व में मराठों की राष्ट्रीयता औरंगजेब के अंतिम प्रहार को झेलगयी। सतारा के राजा साहू ने १७१३ ई. में मराठों के सरदार को अपना पेशवा बनाया और उसे सत्ता प्रदान की। पहला पेशवा बालाजी विश्वनाथ था। पेशवा लोग आगे धावा बोलकर उन क्षेत्रों पर अधिकार करने को उत्सुक थे जो अभी तक मुगलों के हाथ में थे। बालाजी के पेशवा नियुक्त होने की घटना भारतीय इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण बात है। इससे मराठा राज्य की राजधानी पूना चलीगयी जो मराठों की मूल जागीर थी और जहां शिवाजी की शक्ति का अभ्युदय हुआ था। मराठों के सामने अब मुगलों का भय नहीं था। अतएव उन्होंने अब अपने राज्य को संगठित करके घर में एक व्यवस्थित सरकार की स्थापना की और साथ ही अपने मन में विंध्याचल के उत्तरवर्ती उर्वर प्रदेश पर आक्रमण करने की ठान ली। उनके राज्य की बागडोर अष्टप्रधानों के एक मंत्रिमंडल के हाथ में होती थी। उन्होंने १७२४ ई. तक गुजरात को भी जीत लिया और वहां मराठा सेनापति दामोजी गायकवाड़ के नेतृत्व में एक सैनिक उपनिवेश की स्थापना कीगयी।

औरंगजेब की आंखें मुंदने के अठारह वर्ष बाद १७२५ ई. में भारत का जो चित्र देखने में आता है वह बड़ा ही विचित्र प्रतीत होता है। मुगल साम्राज्य दक्खिन में तंजोर तक फैला हुआ था और कर्नाटक का सूबेदार अर्काट में रहता था। सन् १७२४ ई. में निजाम-उल्-मुल्क हैदराबाद में आया और उसने दक्षिण का सूबा अपने अधिकार में घोषित करदिया जिसके परिणामस्वरूप उसने कर्नाटक पर भी अपने अधिकार का दावा किया। उधर मराठा अपने मूल प्रदेश में सुरक्षित थे और इस अवसर को हाथ आया देखकर भला कब चुपचाप बैठ सकते थे। उन्होंने उत्तर की ओर हाथ-पांव मारने आरंभ किये और गुजरात को जीतकर वहां एक सैनिक उपनिवेश स्थापित करलिया। उन्होंने १७१४ ई. में मुगल सम्राट के साथ जो समझौता किया था उसके अनुसार खानदेश, गोंडवाना और बरार पर उनका वैध अधिकार हो-

गया था। अभी तक राजपूत दिल्ली दरबार के आभूषण बने चले आरहे थे। उन्होंने भी समय की गति को पहचाना। वे अपने-अपने राज्यों को लौटगये। उन्होंने अपने राज्यों का संगठन किया और प्रभावशाली सरकारों की स्थापना की। इन राजपूत राजाओं में अंबर के राजा जयसिंह सबसे अधिक योग्य थे। उन्होंने गुलाबी रंग का एक भव्य नगर बसाने में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया। इसके राजमार्ग बड़े ही सुंदर और उससे कहीं चौड़े थे जो १३० वर्ष बाद हॉसमान ने पेरिस में बनवाये। उनकी सत्ता छोटे-छोटे राजाओं और जागीरदारों पर स्थापित थी और उन्होंने प्राचीनकाल के हिंदूराजाओं की भांति एक यज्ञ भी किया था। पंजाब में फूट की बेल पनपरही थी और इसमें सिखों का पूरा-पूरा हाथ था। इस महत्त्वपूर्ण प्रांत में साम्राज्य की सत्ता पूर्णतः छिन्नभिन्न होचुकी थी। सआदतखां ने अवध के समृद्धिशाली सूबे पर कब्जा करलिया था जिसे उसके भतीजे सफदरजंग ने, जो १७४८ में साम्राज्य का वजीर बनायागया था, आगे चलकर एक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया। औरंगजेब ने १७०५ ई. में मुर्शिदकुली को बंगाल के विशाल प्रांत का नवाब नाजिम नियुक्त किया था। इस समय मुर्शिद अपनी शक्ति के शिखर पर पहुंचगया था और उसने यह सत्ता अपने साले शुजाउद्दीनखां को देदी। दिल्ली का सम्राट अबभी शाही परंपरा का उत्तराधिकारी और भारत में उपाधि-वितरण का स्रोत था, किंतु उसकी क्रियात्मक शक्ति धीरे धीरे कम होचली थी।

भारत के समुद्रतट पर १७२५ ई. में विदेशी व्यापारियों के दुर्ग भी दिखायी देने लगे। पुर्तगालियों की बस्तियों को छोड़कर सूरत, मद्रास, मसलीपट्टम और फोर्ट विलियम के नाम इन दुर्गों के सिलसिले में गिनाये जासकते हैं। इनमें व्यापार की भारी हलचल देखने में आती थी। ये दुर्ग ईस्ट इंडिया कंपनी के थे। इनके अतिरिक्त अंग्रेजों के हाथ में बंबई का टापू भी आगया था जो राजा चार्ल्स द्वितीय को पुर्तगाल की राजकुमारी के साथ विवाह करने के अवसर पर दहेज में मिला था। फ्रांसीसी पांडुचेरी और चंद्रनगर में जमगये। कोचीन, त्रांक्वेबर, नेगापट्टम और हुगली नदी के किनारे कुछ दूसरी जगहों पर डचों ने बस्तियां बसालीं। सूरत में कंपनी की फैक्टरी बड़ी मजबूत बनायीगयी थी और उसने शिवाजी के आक्रमण का भी दृढ़ता से मुकाबला किया था। मद्रास का फोर्ट सेंट जार्ज फोर्ट विलियम से किसी प्रकार कम मजबूत न था और नौसेना की छत्रच्छाया में किसी भी स्थलीय आक्रमण का सामना करने में समर्थ था। पांडुचेरी की भी रक्षा का सुंदर प्रबंध था। इस सुदृढ़ किलेबंदी के पीछे विदेशी व्यापारी अपने लेखपालों, बाबुओं, गठरीबांधनेवालों, आदि के साथ अपनी दुनिया में मस्त रहते थे और वास्तविक भारतीय जीवन के कोलाहल से उनके कानों पर जूं तक न रेंगती थी। उनका लेन-देन बनियों तक ही सीमित था जो उनके साथ व्यापार करते थे और उनके आसपास भी होरहा है उसमें वे तनक भी हस्तक्षेप नहीं करते थे।

सन् १७२५ ई. में जिस भारतीय जीवन का चित्रांकन कियागया है उसमें समय बीतने के साथ कोई विशेष परिवर्तन देखने में नहीं आया। यदि कोई परिवर्तन हुआ भी तो वह यही था कि केंद्रीय सत्ता दिन-पर-दिन दुर्बल होती गयी; यहांतक कि १७३९ ई. में, एक गड़रिये के लड़के ने, जो ईरान में बादशाह बनबैठा था, भारत पर आक्रमण करदिया। भारत

की अपार संपत्ति लूटने कि लिप्सा और केंद्रीय सरकार की दुर्बलता उसे दिल्ली के नगर तक खींच लायी। वह एक विशाल सेना लेकर भारत में घुसा जिसका कहीं भी कोई सामना नहीं कियागया क्योंकि पंजाब तो पहले ही से अराजकता के चंगुल में फंसा हुआ था। साम्राज्य की सरकार ने अत्यंत भयभीत होकर अपने नवाबों से फौज लेकर मदद के लिए आने की अपील की, लेकिन वह अरण्यरोदन से अधिक उपयोगी सिद्ध न हुई। अब क्या था, नादिर के लिए दिल्ली का फाटक खुलापड़ा था। इस ईरानी आक्रमणकारी ने अपनी रक्त-पिपासा बुझाने के लिए दिल्ली में जो कत्ल-आम करवाया उसकी याद से अब भी रोमांच होआता है। उसने भाई-चारा कायम करने के लिए जब अपने सिर का चोगा मुगल बादशाह के ताज के साथ अदलबदल किया तब मुहम्मदशाह के हाथों के तोते उड़गये—बहुमूल्य रत्नों से जगमगाता, मुगल-वैभव का प्रतीक ताज उसे बिना चूं किये देदेना पड़ा। इस प्रकार नादिर के हाथ दिल्ली के कोषागार की अपार द्रव्यराशि, जगद्विख्यात कोहनूर और तख्त-ताऊस लगा। नादिर अपनी विजय पर फूलकर कुप्पा हो गया। वह जन्म ही से टटोलिया था। जब वह भारत छोड़ने लगा तब उसने यहां के हिंदू शासकों के नाम पत्र भेजे जिनमें लिखा था कि "हमारे प्यारे भाई (हतभाग्य और पद-दलित मुहम्मदशाह) की अधीनता स्वीकार करने और आज्ञा पालन करने में तत्पर रहो" और साथ ही उनमें यह भी धमकी दीगयी थी कि यदि वे विद्रोह करने में लगे रहेंगे तो "सृष्टि में से उनका नाम मिटा दिया जाएगा।"

इस्लाम के पारस्परिक प्रेम का यह भाव प्रदर्शित करके शाह ने ईरान के लिए प्रस्थान कर दिया। दिल्ली औंधे मुंह पड़ीहुई थी। साम्राज्य के कोषागार में फूटी कौड़ी तक न थी। सेना का नाम न था और हतभाग्य सम्राट, जिसके सिर प्रतापी अकबर के जर्जर साम्राज्य का घड़ा फूट रहा था, आदेशात्मक भाषा में अपने अगणित नवाबों और सूबेदारों को मदद भेजने के लिए पत्र पर पत्र लिखरहा था। साम्राज्य के विनियंत्रणकारी निजाम-उल्-मुल्क ने यद्यपि सम्राट के प्रति निष्ठा का परित्याग नहीं किया था फिरभी उसने दक्षिण के सूबे को अपने परिवार की परं-परागत संपत्ति मानने की घोषणा करदी थी। सम्राट के प्रधानमंत्री सआदतखां ने निजाम-उल्-मुल्क के पदचिह्नों का अनुसरण किया और अपने राजवंश को जिसने लखनऊ में रंगरेलियों की धूम मचाकर मानव के अधःपतन के इतिहास का नया अध्याय लिखा। इस समय सबसे बड़ा संकट मराठों ने उत्पन्न किया। पेशवा बाजीराव ने अपने पिता का आसन ग्रहण करलिया था और साहू ने उसे राजप की संपूर्ण शक्ति सौंपदी थी। वह उत्तर की घटनाओं पर आंखें लगाये बैठा था : अपनी घात में था। मराठों ने १७४० ई. में मुगल साम्राज्य के उत्तराधिकार के लिए संग्राम करने का निर्णय किया।

बाजीराव ने, १७२३ ई. में, यह निर्णय किया कि मराठों को दिल्ली पर आक्रमण करके हिंदुस्तान की सरकार की बागडोर अपने हाथ में संभालनी चाहिए। "इस खोखला पेड़ के तने पर कुल्हाड़ी चलानी चाहिए और इसकी डालियां तो अपने-आप ही धरती पर गिर पड़ेंगी"। कहाजाता है कि पेशवा ने परिषद में यह उद्घोषणा की कि अब समय आगया है जबकि "मराठों का ध्वज कृष्णा से सिंधु तक उड़ना चाहिए"। मराठों की ललचायी आंखें उत्तर में साम्राज्य

की शक्ति के केंद्र दिल्ली ही पर नहीं पड़ीं अपितु उनके हृदय में शताब्दियों की प्रसुप्त धार्मिक भावना जागउठी कि हिंदुओं के पुण्य मंदिरों को, विशेषकर वाराणसी के पावन धाम को मुसलमानों के चंगुलों से छुटकारा दिलायाजाए। पूना के चितपावन ब्राह्मणों के चित्त में यह बात चढ़गयी कि गंगा के मैदान में पहुंचकर और काशी, प्रयाग और गया के पावन नगरों पर हिंदू सत्ता फिरसे स्थापित करने का काम केवल एक धार्मिक कार्य ही न होगा प्रत्युत एक सुंदर राजनीतिक दांव भी होगा। हिंदूधर्म का उद्धार करना बाजीराव की एक टेक बनगयी। इस समय अंबर के राजा जयसिंह द्वितीय उत्तर में एक महान हिंदू नेता मानेजाते थे। बुंदेलखंड में हिंदूधर्म की उत्तुंग ध्वजा फहरानेवाले इस ज्योतिर्विद् राजा ने बाजीराव के आदर्श का जो अनुसमर्थन किया उसने उमड़ती हुई हिंदू भावनाओं को मानों एक जोरदार पेंग लगा दी। बाजीराव ने नर्मदा पार करके तीव्र गति से बढ़ना आरंभ किया और साम्राज्य की राजधानी के पास जाधमका। किंतु सहसा उसे पीछे मुड़ने के लिए लाचार होना पड़ा क्योंकि इसी समय निजाम-उल्-मुल्क की फौजें सम्राट की मदद के लिए दिल्ली की ओर बढ़ी चली आरही थीं। दोनों दलों की टक्कर भोपाल में हुई जहां मराठों के हाथों निजाम पराजित होकर मैदान से भागखड़ा हुआ और फिर चुपचाप अपनी राजधानी में जाबैठा।

इस युद्ध के जो परिणाम निकले उनसे सिद्ध होता है कि बाजीराव का उत्तर की ओर बढ़ने का निर्णय बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। यदि दक्षिण में मराठों ने पहले अपनी शक्ति का संगठन करलिया होता और १७३० तथा १७४० ई. के बीच विंध्याचल के दक्खिन में एक राष्ट्रीय राज्य बनालिया होता तो उनकी शक्ति का संचय होजाता और वे अन्य दिशाओं में दृढ़तापूर्वक पांव धरसकते। किंतु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे अपनी अगल-बगल और पिछाड़ी को सुरक्षित किये बिना ही उत्तर पर चढ़दौड़े, निजाम-उल्-मुल्क को अपने प्रदेश को दृढ़ करने का अवसर मिलगया और हैदरअली ने मैसूर राज्य का संगठन करलिया। यदि शिवाजी की योजना का अनुसरण कियागया होता तो मराठों ने, उत्तर की ओर अपनी घुड़सवार सेना को कूच का आदेश देने से पहले, दक्षिण को पुनर्गठित करके एक नूतन विजयनगर साम्राज्य में परिणत करलिया होता। लेकिन यह निर्णय नहीं कियागया। बाजीराव ने उत्तर की ओर कूच किया और मराठों की घुड़सवार वाहिनी उत्तर की ओर बिखर चली। वे अपने घर से निकल कर विभिन्न दिशाओं में बंटगये। होलकर ने इंदौर में और सिंधिया ने ग्वालियर में अपने-अपने झंडे गाड़दिये। छोटे सेनापतियों को अन्य स्थानों में जागीरें मिलगयीं। भोंसले नागपुर से बाहर निकला और वहां से उसने उड़ीसा का प्रांत जीत लिया। किंबहुना, मराठा घुड़सवार सेना ने बंगाल के सीमांत पर भी छापा मारा। अब क्या था, जिधर देखो उधर दक्षिण के घुड़सवार ही नजर आते थे मानों हिंदुस्तान उनका मृगया-बन हो।

पूना-सरकार के पास ऐसा प्रभावशाली प्रशासनिक यंत्र न था जो इतने बड़े प्रदेश को संभाल सकता। मराठों की घुड़सवार सेना ने बड़ी तेजी से जिस देश पर अधिकार करलिया था उसकी शासन-व्यवस्था के लिए जिस कर्मचारीमंडल की आवश्यकता थी वह पूना-सरकार के पास था ही नहीं। इसलिए जागीरप्रथा का विकास करना पड़ा। महत्त्वपूर्ण केंद्रों पर छोटे-

छोटे सैनिक उपनिवेश स्थापित कर दियेगये और ग्वालियर, इंदौर, नागपुर, देवास और धार में छावनी क्षेत्र बनाकर उनकी कमान बड़े-बड़े सेनापतियों को सौंप दीगयी और साथ ही उनको प्रादेशिक शासन का दायित्व भी दे दियागया। संक्षेप में, वे एक प्रकार के सैनिक उपराज्य थे जहां पर अधकच्चरे ढंग की सरकारें कायम कर दीगयी थीं। जो क्षेत्र मराठों के नियंत्रण में आगया था उसकी यह अवस्था थी।

थोड़े समय बाद, स्वयं दिल्ली पर मराठों का प्रभाव स्थापित होगया। उन्होंने १७५७ ई. में दिल्ली पर आक्रमण किया और वहां के कठपुतली सम्राट पर अपनी शांति संधि की शर्तें लाद-दीं। उनके सेनापति रघुनाथराव ने १७५८ ई. में लाहौर पर चढ़ाई करके उसे जीतलिया। उसने पंजाब को मराठा साम्राज्य में मिलालिया और अटक पर मराठों का झंडा गाड़दिया। किंतु पंजाब पर उनका अधिकार कमजोर था। उन्होंने गंगा के मैदान के दुर्गों पर आक्रमण करके अपनी शक्ति को क्षीण करलिया था। उनकी इन अग्रधर्षणात्मक हलचलों ने अफगान शाह अहमदशाह दुर्रानी को पंजाब में प्रवेश करने के लिए लालायित किया और अब मराठों तथा अफगानों के बीच शक्ति-परीक्षा अनिवार्य होगयी। पानीपत के ऐतिहासिक रणक्षेत्र में, १७६१ ई. में, अफगान और भारतीय सेनाओं की रणदुंदुभी बजउठी। मराठों को पराजय बदी थी। यहां रोमहर्षणकारी नर-संहार हुआ। इस विनाश की जो सूचना पेशवा को भेजीगयी थी उसमें लिखा था : "दो मोती विनष्ट हो गये, सत्ताईस मोहरें खोगयीं और चांदी तथा तांबे के सिक्कों की गिनती तो असंभव है।" पराजय की दृष्टि से मराठों की यह पूरी पराजय थी। किंतु फिरभी वे यह झटका झेलकर फिर अपने पैरों उठखड़े हुए। अपनी विजय के बाद अहमदशाह काबुल लौटगया और मराठों ने ग्वालियरमें जाकर शरणली: किंतु वह दिन दूर नहीं था जब वे फिर दिल्ली में लौटकर आएंगे।

पानीपत की लड़ाई को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बखाना जाता है। इसका वास्तविक महत्त्व इतना ही था कि इससे मराठों का, पंजाब में, हाथ-पैर फैलाना रुक गया, बंगाल में अंग्रेजों को दम लेने की फुरसत मिलगयी जिसके लिए वे तरसते थे और मैसूर में हैदरअली को उन क्षेत्रों के संगठन का अवसर मिलगया जो उसने जीत लिये थे। किंतु मराठों ने अपनी हलचलों को दिल्ली के दक्खिनी प्रदेश में सीमित करदिया जिसका परिणाम यह निकला कि उन्होंने मध्यवर्ती भारत पर अपना पंजा इतना दृढ़ करलिया कि उससे एक मराठा राज्य की जड़ जमगयी जो सिंधिया, होलकर और पवार के वंशजों के अंतर्गत लगभग दो सौ वर्षों तक बनारहा।

इसका एक और राजनीतिक परिणाम निकला जिसकी ओर उस समय ध्यान नहीं गया। सन् १७६१ ई. तक मराठा-युद्ध का संचालन वे सैनिक प्रधान करते थे जिन्हें पूना से भेजा जाता था। पानीपत के युद्ध का संचालन सदाशिव राव भाऊ ने किया था। जब मराठा शक्ति फिर बढ़ने लगी तब उसका नेतृत्व स्थानीय मराठा नेताओं ने किया—इस नीति का एक दुष्परिणाम यह निकला कि मराठों की केंद्रीय सत्ता दुर्बल होगयी और जबतक अंग्रेजों से लड़ने का समय आया तबतक उनका साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े होचुका था।

सन् १७६१ ई. के बाद उत्तर में मराठों की शक्ति की जड़ जमगयी। इस शक्ति के नायक बड़े-बड़े मराठा सामंत थे जो पूना के आदेश का पालन करते और मुख्यालय द्वारा निर्धारित नीति का अनुसरण करते थे। धीरे धीरे इन सेनापतियों ने राजवंशों का बीजारोपण किया। माधोजी सिंधिया पानीपत के युद्ध में जीवित बचगया था। जब वह अपनी किशोरावस्था में था तब दिल्ली के दक्खिनी प्रदेशों की मराठी फौजों की कमान उसको मिलगयी। यही कहानी होलकर की भी थी। उसने इंदौर के आसपास मालवा के हरेभरे प्रदेशों में एक राज्य की रचना की। नागपुर के इधर-उधर बिखरा प्रदेश जो प्रायद्वीप के उस छोर उड़ीसा तक चलागया है, बुंदेलखंड के जंगली क्षेत्र समेत, भोंसले के पल्ले पड़ा।

दक्षिण में जो घटनाएं सामने आरही थीं वे किसी प्रकार भी कम क्रांतिकारी न थीं। राज्य के विनियंत्रणकारी निजाम-उल्-मुल्क ने मुगल साम्राज्य के मामलों का दायित्व छोड़दिया और अपने दक्खिनी सूबे में चलागया जहां उसने भांप लिया था कि अपना निजी राज्य स्थापित करने का स्वर्ण अवसर हाथ आगया है। वह १७४८ ई. में हैदराबाद में शांतिपूर्वक मरगया। कर्नाटक का नवाब अनवर्दीन भी उसके पीछे-पीछे चला गया। अब उत्तराधिकार के लिए एक युद्ध छिड़गया जिसे तथाकथित 'उत्तराधिकार का युद्ध' कहते हैं। इसमें पांडुचेरी के फ्रांसीसियों और मद्रास के अंग्रेजों ने पहली बार भाग लिया और वे इन प्रतिद्वंद्वी पक्षों में अपने-अपने पक्ष की पीट ठोंकने लगे। पांडुचेरी का फ्रांसीसी उपनिवेश डूप्ले के हाथ में था जो वहां १७४२ ई. में राज्यपाल होकर आया था। निःसंदेह उसकी सूझबूझ बड़ी प्रबल थी, और उसके हृदय में साम्राज्य की लिप्सा छिपीहुई थी। किंतु अपनी विशाल योजनाओं को कार्यान्वित करने की क्षमता उसमें नहीं थी। फिरभी यहां के दुरवस्थाग्रस्त राजदरबारों में भीषण षड्यंत्रों का जाल फैलाने की तिकड़म कोई भी उससे सीख सकता था। पांडुचेरी में सत्तारूढ़ होते ही डूप्ले ने दूसरों के मामलों में हाथ डालने की अभिरुचि दिखायी। इस समय यूरोप में इंग्लैंड और फ्रांस के बीच युद्ध जारी था। मारीशस का फ्रांसीसी राज्यपाल ला बोर्डोना अपना जहाजी बेड़ा लेकर भारतीय समुद्रों में अंग्रेजों के जहाजी यातायात पर आक्रमण करने के लिए आया। उसने अंग्रेजी जहाजी दल को मारकर हुगली में भगादिया और फिर स्वयं मद्रास पर कब्जा करलिया। इसके बाद फ्रांसीसी नेताओं में फूट फैलगयी। ला बोर्डोना नगर को धन के बदले वापस देने को राजी होगया लेकिन राज्यपाल डूप्ले ने संधि का उल्लंघन किया और अंग्रेजी कंपनी के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण कार्रवाइयां आरंभ करदीं। अतएव जब डूप्ले ने कर्नाटक के नवाब की गद्दी के मामले में हस्तक्षेप किया तब मद्रास के अंग्रेजों के सामने एक विकट समस्या पैदा होगयी। उन्हें साफ दिखायी देने लगा कि यदि राजनीतिक तुरुप का पत्ता फ्रांसीसियों के हाथ लगगया तो दक्षिणभारत में उनका टिकना मुश्किल होजाएगा। कर्नाटक की नवाबी के लिए दो दावेदार थे मुहम्मदअली और चांदासाहब जिनमें पूर्ववर्ती व्यक्ति का नाम भारत के इतिहास में उन लोगों की सूची में लिखाजाता है जो दूसरों के बल ही पर राज करसके हैं। डूप्ले ने चांदासाहब को कर्नाटक के नवाब की गद्दी पर बैठा दिया और इसके बदले में उसे मुगलों की उपाधि, एक फलतीफूलती जागीर, और बहुतेरी बहुमूल्य भेंट मिली

जिसकी चर्चा सुनकर फोर्ट सेंट जार्ज के एक साहसी और निर्भीक लिपिक राबर्ट क्लाइव का दिल उछलउठा। अब क्या था, अंग्रेजी कंपनी ने चांदासाहब के प्रतिद्वंद्वी मुहम्मदअली की पीठ थपथपायी और उसकी मदद को उतारू होगयी। अंग्रेजों ने कमाल की हिम्मत से काम लेते हुए अर्काट के किले पर अनायास अधिकार करलिया। क्लाइव के पास अंग्रेजी और देसी सिपाहियों की एक छोटी-सी खिचड़ी फौज थी जिसके सामने अर्काट के किले ने बिना लड़े ही आत्मसमर्पण करदिया। अर्काट के किले की विजय उस बहादुरी के सामने बिल्कुल मलिन पड़गयी जो क्लाइव ने अपनी मुट्ठीभर फौज के साथ किले का घेरा पड़ने पर उसकी रक्षा करने में दिखायी थी। किले का घेरा अत्यंत भीषण स्थिति में ५३ दिनों जारी रहा, परंतु क्लाइव का साहस भंग न होसका। इसके विपरीत, डूप्ले ने अपनी आंखों के सामने वह योजना विनष्ट होते देखी जिसके लिए उसने यह सब जाल एड़ी-चोटी का बल लगाकर फैलाया था। उसने प्रतिशोध की भावना से मद्रास पर धावा करदिया, किंतु वहां भी उसे मुंह की खानी पड़ी। उधर क्लाइव की सेना अभी पहुंच भी नहीं पायी थी कि शत्रु मैदान से दुम दबाकर भाग निकला। अब रास्ता साफ होगया था और अंग्रेजों ने अपने हाथ के कठपुतले को मुगलों के नवाब की गद्दी पर बैठा दिया।

फ्रांसीसी योजनाओं के हवाई किले गिरचुके थे, और डूप्ले की प्रचुर द्रव्यराशि तथा इतिहास में उसके एक राजनीतिज्ञ होने की अतिरंजित ख्याति के अतिरिक्त फ्रांसीसियों के पास अब कुछ नहीं रहगया था जो उनके घावों पर मरहम का काम करसकता। कर्नाटक में असफलता के बाद उन्हें हैदराबाद में भी नीचा देखना पड़ा। निजाम की गद्दी के फ्रांसीसी उम्मेदवार मुजफ्फरजंग ने डूप्ले को फोर्ट डेविड का पड़ोसी प्रदेश भेंट में देदिया था। नाजिरजंग का समर्थन अंग्रेजों ने किया था; वह मारडाला गया। कृतज्ञता के भार से अवनत मुजफ्फर ने डूप्ले को दक्षिण कृष्णा से कुमारी अंतरीप के मध्यवर्ती प्रदेश का राज्यपाल बनादिया। वास्तव में, वह दक्षिण के विजयनगर साम्राज्य का वैध उत्तराधिकारी बनगया, जिसके एक बड़े भाग अर्थात् मैसूर प्रदेश पर मुगलों को न तो वैध अधिकार ही प्राप्त होसका था और न उनकी वास्तविक सत्ता ही उसपर स्थापित होसकी थी। चांदासाहब को अब उसका सामंत बनना था। किंतु क्लाइव ने इस किये-कराये पर पानी फेर दिया। इसके बाद फ्रांसीसी अपनी तिकड़में जरूर भिड़ाते रहे किंतु कुछ ठोस काम करके नहीं दिखा सके। आगे चलकर फ्रांसीसियों ने अंग्रेजों के शत्रु हैदरअली के साथ फिर गठजोड़ की, किंतु उनकी यह पैतरेंबाजी एक राजनीतिक और सैनिक मुखिया की हैसियत के पिछलग्गू की भांति थी। इसके विपरीत अंग्रेज, जिन्हें कर्नाटक में विजय पर विजय मिलचुकी थी, एक राजनीतिक शक्ति बनगये थे। उन्होंने भांप लिया था कि इस देश की अनुशासनहीन सेनाओं में कितनी सामरिक शक्ति है और वे उनका कहां तक मुकाबला कर सकती हैं! उन्होंने यह भी युक्ति सीख ली थी कि कठपुतले राजाओं या नवाबों द्वारा वह किस प्रकार राजनीतिक सत्ता का सूत्रसंचालन करसकते हैं। आगे चलकर अंग्रेजों ने इस देश में जिस परोक्ष शासन की स्थापना की उसका श्रीगणेश अर्काट में आकस्मिक हस्तक्षेप करने से अपने-आप होचुका था।

एक दूसरी जगह भी एक राजनीतिक नाटक खेला जारहा था। जहां कभी ओडयार राजवंश के अंतर्गत, मैसूर के पठार पर विजयनगर साम्राज्य का एक उपराज्य राज्य में परिणत होकर संगठित होगया था वहां अब एक नयी सैनिक शक्ति का अभ्युदय होचुका था। यहां आपसी फूट का बोलबाला देखकर डिंडीगुल का नायक हैदरअली राज्य का प्रधान सेनापति बनबैठा। धीरे धीरे उसने राज्य की सारी सत्ता अपनी मुट्ठी में करली और हिंदूशासक का केवल एक अधिकारी होने का ढोंग रचकर वह जनता की आंखों में धूल झोंकने में सफल होगया। इसमें संदेह नहीं कि हैदरअली एक योग्य सेनापति था और उसने अराजकता का लाभ उठाकर मैसूर में अपना एक व्यवस्थित राज्य स्थापित करलिया और उसकी सुरक्षा के लिए एक अनुशासनपूर्ण और शक्तिशाली सेना संगठित करली।

सन् १७५७ ई. में, भारत का जो चित्र किसी इतिहास-प्रेक्षक के सामने आता है उसमें उसे विभिन्न शक्तियों का निर्माण होता दिखायी देता है, किंतु उनमें एक भी ऐसी नहीं थी जिसके बारे में यह कहा जासके कि वह अंतिम अथवा टिकाऊ है। हिंदुओं के तीर्थस्थानों और मंदिरों की रक्षा का बीड़ा उठाकर तथा दिल्ली की सत्ता और महत्ता हथियाने की लालसा से मराठे समस्त उत्तर भारत में गंगा तक फैलगये, किंतु दक्षिण में अपने मूलप्रांत को छोड़कर और कहीं भी उनका प्रभाव टिकाऊ दृष्टिगत नहीं हुआ। उनके चरण जहां-जहां पड़े तहां-तहां राजनीतिक व्यवस्था और शांति का बंटाढार होगया। मुगल-साम्राज्य के बड़े-बड़े प्रांतों में प्रशासन इतनी दुरवस्था पर पहुंचगया था कि उसका उदाहरण मिलना असंभव है। इस प्रशासन के भंग होने से भयंकर गड़बड़ी और अराजकता छागयी। प्रशासन भंग होने के क्या कारण थे? अकबर ने मुगल-साम्राज्य के प्रशासन का केंद्रीकरण किया था। साम्राज्य के विभिन्न सूबों के सूबेदार सीधे दिल्ली से भेजे जाते थे। इससे बहुत पहले प्राचीन हिंदू साम्राज्यों में स्थानीय प्रशासन मुख्यतः उन्हीं राजाओं के हाथ में छोड़ दियाजाता था जो साम्राज्य की प्रभुता को स्वीकार करलेते थे और केंद्र के आदेशों का परिपालन करते थे। साथ ही, उनकी अपनी धाक या सत्ता अक्षुण्ण-सी बनीरहती थी और इस प्रकार वे वहां का शासन संभाले रहते थे। जब केंद्र का सुदृढ़ पंजा उनके ऊपर से हटजाता था तब ये स्थानीय शासक अपनी स्वाधीनता फिर पाजाते थे और वे अपना प्रशासन ज्यों-का-त्यों चलाते रहते थे—अतः प्रशासन-भंग या अराजकता का प्रश्न ही नहीं उठता था। अकबर ने साम्राज्य के केंद्रीकरण की जो नीति अपनायी उससे साम्राज्य की शक्ति, साधनों और समृद्धि में बढ़ोतरी हुई। किंतु जब कभी केंद्रीय सत्ता खत्म होजाती थी तब उस दशा में स्थानीय जनता की निष्कलंक निष्ठाभाजन स्थानीय सत्ता पहले ही से न होने के कारण कोई भी सत्ता नहीं रहजाती थी। हां, प्रांतों के राज्यपालों की दफ्तरशाही अवश्य विद्यमान रहती थी जिसमें न तो कुछ वास्तविक योग्यता ही होती थी और न दृढ़ता ही। वह तो न-बराबर थी। सूबेदार जनता के हृदय में अपने लिए राजवंश के आधारपर निष्ठा-जैसी कोई भावना उत्पन्न नहीं कर सकते थे। इसलिए उत्तराधिकार का प्रश्न अनिवार्यतः रणक्षेत्र का विषय बनजाता था। सूबेदार या नवाब अपना संबंध राजवंश से स्थापित करने और अपने को परंपरागत अधिकारी सिद्ध करने का प्रयास करते थे। किंतु न तो वे जनता की परंपरागत

राज्य-निष्ठा पर और न शक्तिशाली सेना के समर्थन ही पर भरोसा करसकते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्य के बड़े-बड़े सूबों (प्रांतों)—दक्षिण, कर्नाटक और बंगाल में कोरे नाम का प्रकाशन था जो मिट्टी के घरौंदे की भांति अस्थिर था। ज्यों ही दिल्ली से आनेवाले निजाम-उल्-मुल्क, अनवर्दीनखां और अलीवर्दीखां जैसे व्यक्ति प्रशासन के मंच से हटगये, उपर्युक्त प्रांतों की नौका एकबारगी डांवाडोल होउठी।

अध्याय २०

साम्राज्य के लिए लड़ाई

बंगाल के विस्तृत प्रांत का नवाब अलीवर्दीखां सन् १७५६ ई. में मर गया। उसका उत्तराधिकारी सिराजुद्दौला अभी नवयुवक था। यदि स्थिति सामान्य होती तो वह अपने जीवन में साम्राज्य की उपयोगी सेवा करके परलोक सिधारता। किंतु स्थिति विषम बनगयी थी। उसे नवाब की गद्दी पर बैठने का कोई वैध परंपरागत अधिकार प्राप्त नहीं था और न कोई उस पद पर उसका मजबूत सरकारी हक था। उसके पीछे केवल एक दल था जो उसका समर्थन कररहा था। इसके अतिरिक्त कुछ नयी शक्तियों का आविर्भाव होगया था जिनका उसे पता तक न था और जिनका सामना करने के लिए अधिक योग्यता की आवश्यकता थी। भारत के बंदरगाहों में यूरोपीय व्यापार का दौरदौरा होने से एक नये बनिया-वर्ग का अभ्युदय हुआ जो बहुत ही धनवान होगया था और वे बनियें यूरोपीय फैक्टरियों के घनिष्ट संपर्क में आगये थे क्योंकि कंपनियों का भारीभरकम व्यापार उनके हाथों से गुजरता था। सूरत के गुजराती, मदरास के चेट्टी और बंगाल के मारवाड़ी खूब फलफूल रहे थे। मारवाड़ी, वास्तव में, दूरवर्ती राजस्थान के रहनेवाले थे और कलकत्ता में व्यापार के नये खुलतेहुए द्वार देखकर वे वहां पहुंचगये थे और हुगली नदी के किनारे की अंग्रेजी, फ्रांसीसी और डच कोठियों से उनका संपर्क जुड़गया था।

बंगाल की फैक्टरियों का इतिहास रंग-विरंगा है। जोबचारनोक एक अक्खड़ और मनमौजी आदमी था। उसकी आदतों और चालढाल पर उसके अपने देश का गहरा रंग चढ़ाहुआ था। उसने एक विधवा को सती होने से बचाया था और उसके साथ ही अपना विवाह करलिया था। उसके नेतृत्व में अंग्रेजी व्यापार खूब बढ़ा और अंग्रेजी कंपनियों की साख बनगयी। किंतु इसी समय अंग्रेजों की अक्ल मारी गयी जोकि वे औरंगजेब से लड़-झगड़ बैठे और कुछ समय के लिए उनका बंगाल-का व्यापार खटाई में पड़गया। इसी चारनोक ने १६९० ई. में कलकत्ता नगर की नींव डाली जहां वह हेमिल्टन के शब्दों में "किसी भी राजा से अधिक निरंकुश सत्ता का उपभोग करता था और मानुषिक हृदय से कोसों दूर था"। सन् १६९६ ई. में कलकत्ता की किलेबंदी करने की आज्ञा मिलगयी और कंपनी को जमींदारी भी मिलगयी—इस प्रकार मुगल नवाब के अंतर्गत उसकी हैसियत जमींदार और व्यापारी दोनों की होगयी।

अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कलकत्ता की दशा सुधरगयी और बंगाल प्रांत का व्यापार बहुत बढ़जाने के कारण कलकत्ता नगर बनियों से ठसाठस भरगया। बंगाल के नवाब नाजिम के सामने कंपनी की हैसियत एक तुच्छ सेवक की थी क्योंकि १७१५ ई. में कंपनी के अध्यक्ष जान

रसल ने मुगल नवाब को संबोधित करते हुए उसकी तुलना में अपने को "मिट्टी का एक नाचीज ज़र्रा" बताया था और वह जिसके "पांव की धूल को अपने माथे पर रगड़ने में अपना गौरव समझता था"। जब एक शाही फरमान द्वारा कंपनी को जमीन खरीदने की अनुमति मिलगयी और उसको अपनी जमींदारी का मालिक स्वीकार कर लियागया तब कंपनी की स्थिति और भी अच्छी होगयी। अलीवर्दीखां की नवाबी में प्रांत में शांति का राज्य बनारहा और कंपनी तथा उनके साथ काम करनेवाले भारतीय सेठों की तिजोरियां सोने से भरगयीं। जब सिराजुद्दौला नवाब हुआ तब स्थिति इतनी बदलचुकी थी कि उसका सामना करने के लिए अत्यधिक चंट व्यक्ति की जरूरत थी। तथ्य यह है कि मुगलों के नवाब नाम-भर के शासक रहगये थे और वास्तव में सत्ता बड़े-बड़े हिंदू सेठों और उनके साथी व्यापारी अंग्रेजों के हाथ में चलीगयी थी जो हुगलीनदी के किनारे किले में बैठहुए थे। इसी समय अंग्रेजों ने क़िलेबंदी आरंभ की जिसके लिए नवाब ने उन्हें रोकना चाहा। बस, इस विषय ही पर नवाब और कंपनी में चलगयी। कलकत्ते पर नवाब की फौज ने कब्जा करलिया और जो अंग्रेज किले में छूटगये थे उनको बंदी बना लियागया। यह कलकत्ते की काल-कोठरी की कहानी है जिसके बारे में जो प्रमाण मिलते हैं वे परस्पर विरोधी और अपर्याप्त हैं। हृदयद्रावक और रोमांचकारी गप्पें उड़ाकर युद्ध-प्रचार करने के हुनर में हॉवेल अपने समय का बेजोड़ आदमी था। वह पक्का झूठा और बेसिर-पैर की बातें गढ़ना उसके बाएं हाथ का काम था। निदान, इस दुर्घटना की कहानी नमक-मिर्च लगाकर फैलायी गयी। इसमें संदेह नहीं कि नवाब ने भी बंदियों के साथ किसी प्रकार की विशेष दया का व्यवहार नहीं किया। फ्रांसीसियों के साथ संघर्ष छिड़जाने के कारण अर्काट के मोर्चे के विख्यात विजेता क्लाइव और वाटसन के नेतृत्व में अंग्रेजी फौजें शीघ्र ही बंगाल में आगयीं। इस समय तक नवाब से अंग्रेजों की कोई तनातनी नहीं आरंभ हुई थी क्योंकि वे चाहते थे कि नवाब तटस्थ ही बनारहे तो अच्छा होगा। किंतु कलकत्ता और मुर्शिदाबाद के हिंदू सेठ परिवर्तन के लिए कटिबद्ध ही नहीं प्रत्युत उतावले भी थे। सिराजुद्दौला ने एक मारवाड़ी करोड़पति सेठ के वंशज सेठ जगत का अपमान किया था। इस सेठ के वंश के पास आज भी असंख्य द्रव्य है। सेठ जगत उस समय अपमान का कड़ुवा घूंट पीगये। किंतु अब प्रतिशोध का अवसर उनके हाथ लगगया। उन्होंने एक अन्य मारवाड़ी अमीचंद द्वारा नवाब को गद्दी से हटवाने का प्रस्ताव कंपनी के पास भिजवाया। कंपनी से अमीचंद का घनिष्ट संबंध था। इस प्रकार यूरोपीय बनिया-दल, अंग्रेजी कंपनी और मारवाड़ी व्यापारियों में, जो बंगाल की संपत्ति के स्वामी थे, एक गठजोड़ होगया। अब नवाब के इनेगिने दिन रहगये थे।

शनैः शनैः वे ऐतिहासिक घटनाएं रंग पकड़ने लगीं जिनकी पराकाष्ठा प्लासी के रणक्षेत्र में देखने को मिलती है। सामान्य धारणा यह है कि प्लासी के युद्ध से भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव पड़ी। नवाब को धोखा दियागया क्योंकि इस युद्ध में उसके पक्ष के केवल पांच सौ सिपाही काम आये और मीरजाफर तो दूर से खड़ा युद्ध देखतारहा। विजयी सेनापतियों ने इस विजय का समारोह स्थगित करदिया और वे सेठ के भवन पर पहुंचे जहां अमीचंद को मालूम हुआ कि उसे धोखा दियागया है। युद्ध की दृष्टि से प्लासी का कोई महत्त्व नहीं है,

किंतु यह विजय राजनीतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण थी क्योंकि इससे कंपनी को २४-परगना की जमींदारी मिलगयी जो कलकत्ता के दक्खिन में लगभग ९०० वर्गमील के क्षेत्र में फैलीहुई थी। यद्यपि कंपनी स्वयं बंगाल में सत्तारूढ़ नहीं हो सकी, किंतु उसमें सत्तारूढ़ करने की शक्ति आगयी। कंपनी की वैध शक्ति में कोई अंतर नहीं आया था क्योंकि उसको यह जमींदारी सामान्य कानून के अनुसार ही दीगयी थी और दिखावे के लिए नवाब नाजिम का अधिकार उस पर बनाहुआ था। सन् १७५७ से १७७२ ई. तक पंद्रह वर्षों की अवधि में कठपुतला नवाब कोरे नाम के लिए शासन करता रहा और एक व्यापारिक कंपनी ने देश में जिस संगठित रूप से लूटखसोट और छीनाझपटी मचादी उसका उदाहरण और कहीं नहीं मिलेगा। कंपनी और उसके कर्मचारी व्यापार के बहाने निर्भयतापूर्वक देश की दौलत को लूटरहे थे, और हिंदू व्यापारी वर्ग इसमें उनका साथ देकर लूट में साझा कर रहा था। इतिहास में इस जोड़ का दूसरा उदाहरण पढ़ने को न मिलेगा जबकि एक बड़े प्रांत की संपत्ति पर इतनी अच्छी तरह हाथ साफ कियागया हो! परिषद् ने मनमानी करके नवाब के कोषागार को हड़प लिया। कंपनी का प्रत्येक गुमाश्ता और कर्मचारी व्यापारी बनबैठा था और कंपनी के नाम पर बिना चुंगी या शुल्क दिये अपना निजी व्यापार करने लगा था। एक प्रमुख बंगाली जमींदार ने इस बारे में परिषद् के सामने जो अपना प्रार्थनापत्र भेजा था उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत कियाजाता है:—

"अंग्रेज महानुभावों की फैक्टरियां बहुत-सी हैं और उनके गुमाश्ते हरेक जगह, गांव-गांव में, लगभग तमाम बंगाल सूबे में फैलेहुए हैं।...वे सब प्रकार का गल्ला, कपड़ा और देश में जो जिन्सें मिलती हैं बेचते हैं। इन चीजों को खरीदने के लिए वे जबर्दस्ती रियाया को अपना रुपया देते हैं। और इन अत्याचारपूर्ण तरीकों से कम दर पर माल खरीदते हैं और फिर वही माल उससे कहीं ऊंचे भाव से अन्य लोगों या दूकानदारों के मत्थे मढ़ देते हैं जिस पर खुले बाजार में मिलता है।...वे सरकार के कारण चुंगी भी अदा नहीं करते हैं...इसलिए देश में हरेक चीज की तंगी महसूस होरही है।"

सन् १७६५ ई. में कंपनी की फौजों ने बक्सर की लड़ाई में मुगल सम्राट की फौजों को भी पराजित कर दिया। क्लाइव बंगाल का राज्यपाल बनगया और उसे सम्राट ने बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी अर्थात् राजस्व संग्रह करने का काम सौंप दिया। इस कार्रवाई के कारण, वास्तव में, ईस्ट इंडिया कंपनी भारत की मुख्य भूमि पर एक सर्वसत्ताधारी शक्ति बनगयी।

क्लाइव एक लुटेरा था जिसे नामवरी मिलगयी थी। उसने जाली दस्तावेज लिखने का आरोप स्वीकार करलिया था। वह झूठा और ठग था। उसकी सैनिक सफलताएं तत्कालीन सेनापतियों की सफलताओं के सामने उपहासास्पद थीं। उसने जिस राज्य की संस्थापना की और जिस पर सात वर्षों तक राज किया, वह एक डाकू राज्य से बेहतर न था, जिसका एक यही उद्देश्य था कि अपने प्रशासित प्रदेश से अधिक-से-अधिक धन चूसा जाए। अंग्रेज इतिहासकार १७५७ से १७७४ ई. तक के इतिहास पर पर्दा डालना अच्छा समझते हैं किंतु इस बात को जोरदार शब्दों में व्यक्त कियाजासकता है कि भारत के दीर्घकालिक इतिहास में,

तोरमान और मुहम्मद तुगलक के शासनकाल में भी, किसी प्रांत की जनता की इतनी दुरवस्था नहीं हुई थी जितनी बंगाल की जनता की क्लाइव के जमाने में देखने में आयी।

दूसरी जगह भी घटनाएं बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही थीं। मराठों के पानीपत के रणक्षेत्र के घाव भर चुके थे और हिंदुस्तान पर उनका सिक्का जमगया था। ग्वालियर की कमान अब माधोजी सिंधिया के हाथ में थी जो एक राज्य की प्रस्थापना में संलग्न था जबकि भविष्य उसे दिल्ली पर प्रभुत्व जमाने और इलाहाबाद तथा कड़ा तक गंगा की घाटी पर नियंत्रण करने के लिए पुकाररहा था। राघोजी भोंसले भी नागपुर में अपना प्रभाव बढ़ाने के लिए कम जागरूक न था और बंगाल में जो घटनाएं दिन-पर-दिन संघटित होरही थीं उन्होंने इन दोनों मराठा नेताओं के कान में खतरे की घंटी बजादी थी और वे जान गये थे कि अब निरंतर सजग रहने की आवश्यकता है।

जो राज्य अभी अच्छी तरह स्थापित भी नहीं होपाया था और लूटमार की नींव पर खड़ा किया था उसका शासनसूत्र एक सात्त्विकबुद्धिवाली युवती के हाथ में देना कहां तक ठीक था? यह परीक्षण खतरे से खाली न था। यह शासनकर्त्री एक विधवा युवती थी। राज्य में चारों ओर अराजकता छायी हुई थी। इस दशा में यह पहले ही समझ लेना चाहिए था। राज्य की जर्जर नौका भंवर में फंसकर डूबे बिना न बचेगी। किंतु मराठों को इस बात की क्या पर्वा थी। उन्होंने इंदौर में वही कर-दिखाया जिसे न करना चाहिए था। उन्होंने होलकर राज्य के राजप-पद के लिए अहल्याबाई का चुनाव किया जो एक बड़ी पवित्रात्मा और परम साध्वी महिलारत्न थी। अपने जीवनकाल में उसका सम्मान चारों ओर हुआ। किंतु जिस राज्य का शासनसूत्र उसके हाथ में न्यस्त था उसे स्थापित हुए अभी बीस वर्ष भी न-होने पाये थे और वह जिस सैनिक सत्ता का प्रतिनिधित्व करती थी उसके प्रति लोगों में निष्ठा तक न थी। उसका राज्य चारों ओर उन लोगों से घिराहुआ था जिनको होलकर सत्ता फूटी आंख न सुहाती थी। फिरभी मराठों का यह परीक्षण सफल हुआ। लगभग उसी समय के राजनयज्ञ, प्रशासक, इतिहासकार और राजनीतिक घटनाओं के एक प्रमुख सूत्रधार सर जोन मालकम की प्रामाणिक लेखनी से यह पता चलता है कि अपने राज्य के आंतरिक प्रशासन में अहल्याबाई को अश्रुतपूर्व सफलता मिली। अहल्याबाई की उदारता की कहानियां सुनकर लुटेरे और डाकू तक उसके राज्य को हाथ न लगाते थे। उसके राज्य के सीमांत से कोसों दूर रहनेवाले लोग उसके नाम को श्रद्धापूर्वक लेते थे और कहते थे कि यद्यपि वह मध्य भारत के लिए एक बाहरी महिला है फिर भी होलकर राज्य की प्रजा सच्चे हृदय से उसके प्रति राजनिष्ठा रखती है और उसकी निष्कलंक पवित्रता से कुछ सीमा तक होलकरों के पाप की कालिमा धुलगयी है।

दक्षिण में हैदरअली ने मैसूर पर अपनी सत्ता दृढ़ करली थी और उसने मद्रास के फाटक पर जाकर अंग्रेजों तक को अपनी शर्तें मानने के लिए लाचार करदिया था। यद्यपि निजाम के हाथ से उसका बहुत-सा प्रदेश छिनगया था फिरभी उसमें काफी शक्ति थी और उसके पास काफी फ्रांसीसी सेना थी। मराठों के प्रदेश में सामान्य जीवन दिखायी देता था और जनता अपने रंग में मस्त थी।

जब वारेन हेस्टिंग्ज बंगाल के महाराज्यपाल (गवर्नर-जनरल) के पद पर नियुक्त हुआ तब भारत के इतिहास में एक नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ अर्थात् इंग्लैंड ने भारत में अपनी सर्वोपरिता का युद्ध आरंभ करदिया। क्लाइव की भांति हेस्टिंग्ज ने वाक्-छल करना या लड़ाई का जाल फैलाना नहीं सीखा था। जब राज्य या अपनी स्थिति की सुरक्षा के लिए कोई अड़चन पैदा होजाती थी तब वह नैतिकता को उठाकर ताक पर भले ही रखदेता था, नहीं तो वह निजी तौर पर एक ईमानदार आदमी था। वह एक बुद्धिमान और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ था। प्रशासनिक कार्यों में भी उसका हृदय उदारता से आर्द्र रहता था और जनता से सहानुभूति करना उसे आता था। उसके महाराज्यपाल होने से कंपनी की नौका डूबते-डूबते बचगयी। बंगाल में अंग्रेजी शक्ति को उदित होते देखकर यहां देसी शक्तियां अर्थात् मराठे और हैदरअली समझगये थे कि तूफान आनेवाला है और उससे उनको क्या खतरा पैदा होसकता है। हेस्टिंग्ज को कई वर्षों तक इन संयुक्त शक्तियों का सामना करना पड़ा जो भारत में कंपनी का राज्य स्थापित करने के मार्ग में सचमुच रोड़ा बनगयी थीं। बंबई के अंग्रेजों की हलचल के कोलाहल से मराठों की नींद टूटचुकी थी और सौभाग्यवश इस समय उनका पथप्रदर्शन नानाफड़नवीस जैसा योग्य व्यक्ति कररहा था जिन्हें उस काल के स्वतंत्र भारत का अंतिम दक्ष राजनीतिज्ञ मानाजाता है। इस समय मराठों और अंग्रेजों में जो युद्ध हुआ उसमें कंपनी की सेनाओं को पराजय का कड़ुवा घूंट पीकर आत्मसमर्पण करना पड़ा। उन्हें मराठों से एक लज्जाजनक समझौता करना पड़ा जिसे बादमें उन्होंने तोड़दिया और फिर हथियार उठालिये। किंतु मराठा शक्ति के आगे इस बार भी उनकी दाल न गल सकी और उन्हें उस संधिपत्र पर हस्ताक्षर करने पड़े जिससे दोनों पक्षों के बीच फिर अगले बीस वर्षों तक लड़ाई बंद रही। जब हेस्टिंग्ज ने महाराज्यपाल के पद से अवकाश ग्रहण किया तब तक कंपनी की राजनीतिक शक्ति के लिए खतरा विलुप्त होचुका था। दूसरी ओर, उसने दो शक्तिशाली मराठा सेनापतियों के मस्तिष्क में अपने अपने स्वतंत्र राज्य स्थापित करने का बीज बोदिया था। माधोजी सिंधिया के हृदय में अपना स्वतंत्र राज्य बनाने की महत्त्वाकांक्षा पैदा होगयी थी जिसे अंग्रेजों ने सालबाई की संधि द्वारा प्रोत्साहित करदिया। क्योंकि महाराज्यपाल ने इस संधि में उसकी अर्द्ध स्वतंत्रता को मानलिया था। नागपुर के भोंसले को चिट्ठी-पत्री लिखकर हेस्टिंग्ज मित्रता के भुलावे में डाले रहा और इस प्रकार मराठों की केंद्रीय शक्ति के प्रति उसकी सेवा-भावना में शिथिलता पैदा करदी। किंतु जबतक नानाफड़नवीस के हाथ में पूना की बागडोर रही तबतक अंग्रेजों की चालें मराठों के संगठन में दरार डालने में नाकामयाब रहीं। उनके षड़यंत्र पूरे न होसके। फिरभी उन्होंने फूट का बीज तो बो ही दिया था जिसके विनाशकारी फल आगे चलकर सामने आये।

उत्तर में मराठों का मुखिया सिंधिया था जिसके बीच में पड़ने से सालबाई की संधि हुई थी। इस कूटनीतिक सफलता के कारण उसकी प्रतिष्ठा बढ़गयी और अब वह कंपनी की पलटनों के नमूने पर सेवोय के कॉमटे डि बोइन की मदद से अपनी सेना संगठित करने लगा। इन सेनाओं से उसने समस्त हिंदुस्तान को रौंद डाला और उस पर अधिपत्य

जमालिया, राजपूत राजाओं की शक्ति कुचल डाली और दिल्ली पर कब्जा करलिया। अब मुगल सम्राट शाहआलम, जिसकी आंखें निकाली जाचुकी थीं, और जो बड़ी ही दयनीय अवस्था में जीवन बितारहा था, सिंधिया का बंदी बना लियागया। लेकिन उसकी शाही टीम-टाम अब भी बनीरही। इस समय ही सम्राट ने सिंधिया के हाथ पेशवा के लिए साम्राज्य के उप राजप की उपाधि भेजी थी। सिंधिया मुगलों का प्रतिनिधि बनकर पूना में अपने स्वामी पेशवा को सम्राट द्वारा प्रदत्त तमगे और खिलअत से विभूषित करने गया था। सतारा के गुड़िया राजा की स्वीकृति पाकर एक विशाल समारोह के बीच इस तमगा और खिलअत से पेशवा को विभूषित कियागया था। माधोजी सिंधिया १७९४ ई. में मर गया और उसकी जगह दौलतराव सिंधिया गद्दी पर बैठा। अगले वर्ष खरदा के रणक्षेत्र में मराठा-संघ की फौजों ने निजाम की उस सेना को चूर-चूर करदिया जिसे रेमंड ने प्रशिक्षण देकर संगठित किया था और जिसकी कमान निजाम के वजीर के हाथ में थी। जिस संयुक्त मराठा शक्ति को देखकर शत्रुओं के छक्के छूट जाते थे, यह उसकी अंतिम विजय थी।

हेस्टिंग्ज के प्रशासनकाल में एक विचित्र घटना हुई जिसका वर्णन करना यहां आवश्यक है। यह था सन्यासी-विद्रोह। नवीं शताब्दी में सन्यासियों के अखाड़ों का संगठन श्रीमज्जगद्गुरु आद्य शंकराचार्य ने किया था। जानपड़ता है कि इन सन्यासियों ने अकबर के समय तक राजनीति में कोई हाथ नहीं डाला। अकबर के शासन के प्रारंभिक काल में, हथियारबंद मुस्लिम फकीरों ने हिंदू सन्यासियों पर हमला किया और कई को मार डाला। यद्यपि मधुसूदन सरस्वती ने सम्राट के सामने यह मामला पेश किया था फिर भी प्राधिकारियों ने उनकी शिकायतों को दूर करने की चेष्टा नहीं की। तब मधुसूदन ने दस अखाड़ों में से सात अखाड़ों में क्षत्रियों की भरती आरंभ करदी। तीर्थ, आश्रम और सरस्वती—इन तीन अखाड़ों में उनको प्रविष्ट नहीं कियागया। इन क्षत्रियों को सन्यासी संप्रदाय और धर्म की रक्षा का भार सौंपागया। मुगलों के जमाने में इस प्रकार के अनेक उदाहरण मिलते हैं जबकि हिंदू सन्यासियों और मुस्लिम फकीरों में लड़ाइयां होती रहीं। जब क्लाइव द्वारा डाकू राज्य स्थापित होने के बाद बंगाल की अराजकता, कुशासन और लूटपाट अपनी पराकाष्ठा पर पहुंचगयी तब सन्यासियों ने विद्रोह करदिया जिसका दमन बड़ी कठिनाई से होसका। इस घटना से पता चलता है कि बंगाल में मुगल सरकार के अंत होने तथा अंग्रेजी सत्ता की स्थापना के बाद जो अराजकता फैली उसमें हिंदूधर्म को अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए जागते देर नहीं लगी।

हेस्टिंग्ज के बाद कार्नवालिस महाराज्यपाल नियुक्त हुआ। उसने यहां अंग्रेजी साम्राज्य का संगठन किया और उसके पूर्ववर्ती महाराज्यपाल ने जिस विषम अवस्था में बंगाल सरकार को छोड़ा था उससे उसका उद्धार किया। उसने कंपनी के व्यवहार में से व्यापारिक प्रवृत्ति को दूर किया जिससे कंपनी की शान और सत्ता दोनों में वृद्धि हुई। स्मरण रहे कि अभी तक कंपनी में बनियाशाही का बोलबाला था और वह एक व्यापारिक निगम की परंपराओं से बुरी तरह चिपटी हुई थी। उसकी स्थायी भूमिव्यवस्था से बंगाल में चैन की बंसी बजउठी और खिन्न लोगों के जी हरेभरे होउठे। कार्नवालिस का ध्येय इस देश को जीतकर यहां साम्राज्य

स्थापित करना नहीं था और उसके बाद जब लार्ड टेगनमाउथ महाराज्यपाल नियुक्त हुआ तब उसने भी इसी नीति का अवलंबन किया। लेकिन वेलेजली के पदग्रहण करते ही इस देश की अंग्रेजी नीति में एक नये युग का श्रीगणेश हुआ। कार्नवालिस ने प्रशासन में सुधार किया था। पंद्रह वर्षों की शांति के कारण कंपनी की आर्थिक दशा सुधरगयी थी और उसकी सेवा के लिए उत्तम श्रेणी और उच्च कोटि की प्रतिभा के व्यक्ति लालायित होउठे थे। क्लाइव के जमाने में भ्रष्टाचारी लोगों ने कंपनी की सेवा पर बदनामी का धब्बा लगादिया था, लेकिन अब डुंडा के स्काट जातीय परिवारों द्वारा अपनी पीढ़ी के जो कर्कपेट्रिक, मेटकाफ, मालकम और अल्फेंस्टन—लोग भेजे गये वह उच्च कोटि के पुरुष थे। इस प्रकार के योग्य व्यक्तियों को पाकर वेलेजली के हाथ मजबूत होगये और वह उच्च कोटि की राजनीति में हाथ डालने के लिए समर्थ होसका। एक अल्पकालिक मोरचे द्वारा महाराज्यपाल ने मैसूर की शक्ति को कुचल डाला और उसके अन्याय से सिंहासनारूढ़ राजवंश को निर्वासित कर दिया। नाना फड़नवीस की मृत्यु के बाद मराठों में आपसी झगड़े उठखड़े हुए थे। फिर दो वर्ष के षड्यंत्रों ने उनकी जड़ खोखला करदी थी। अब असाई और लासवाड़ी के युद्धों में शिवाजी का साम्राज्य ध्वस्त होगया और पेशवा अंग्रेजों का एक कोरा पिछलग्गू साथी की स्थिति में पहुंचगया। सन् १८०३ ई. तक ब्रिटेन की भारत में एक सर्वोपरि सत्ता स्थापित होगयी। जो देसी राजे अपने प्रदेशों में शासन करते हुए बचरहे थे वे अब अपनी बचत के लिए कलकत्ता में अंग्रेजी कंपनी का मुंह ताका करते थे।

मुगल साम्राज्य का दीपक बुझचुका था। अकबर का वंशज दिल्ली नगर और उनके आसपास के क्षेत्र पर एक अंग्रेज वासामात्य (रेजीडेंट) की सलाह से शासन करता और प्रभुसत्ता का उपयोग करता था। अपने इस आसन से उसने उपाधियों का व्यापार बहुत बढ़ालिया था और उसकी सत्ता विनष्ट होने से भारत में राष्ट्रीय राज्य का सिद्धांत परिपूर्णता को प्राप्त होगया। भारत में, १८०३ ई. में, कोई भी शासक नहीं था जिसे दिल्ली की प्रभुसत्ता शिरोधार्य न थी। राणा प्रताप का वंशज आलीजाह दौलतराव सिंधिया को कर देता था। धुर दक्षिण में तिरुवांकुर में मुसलमान विजेता कभी नहीं घुस सके, किंतु अब वहां का शासक, जो चेरों का उत्तराधिकारी होने का दावा करता था, कर्नाटक के नवाब से शमशेर जंग की एक छोटी-सी उपाधि पाकर बहुत प्रसन्न था। पंजाब को छोड़कर शेष भारत पर वास्तविक प्रभुसत्ता का उपभोग कंपनी कररही थी, लेकिन नाम तेरा गांव मेरा की लोकोक्ति के अनुसार विधि-विधान की खानापूरी करने के लिए मुगल फरमानों से सत्ता प्राप्त करती थी और वह अपने को ईस्ट इंडिया कंपनी बहादुर कहती थी। वास्तव में, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में मुगलों ने जिस राष्ट्रीय राज्य की परिकल्पना का प्रतिनिधित्व किया उसके अब छिन्नभिन्न होजाने पर भारत की एकता के सिद्धांत की भी प्रेरणा अंग्रेजों को उसी से प्राप्त हुई।

जो एक के बाद दूसरे तड़कीले-भड़कीले अंग्रेज फोर्ट विलियम की गद्दी पर एक नियमित अवधि के पश्चात् बैठते रहे उनका यह काम होगया कि उन्होंने देसी राजाओं को गद्दी से उतारा, उनका राज्य अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाया और फिर यहां से इंग्लैंड जाकर लार्ड सभा के सदस्य

बनगये और शांतिपूर्वक अपना जीवन बिताने लगे। भारतीय इतिहास की दृष्टि से इन अभिजात पुरुषों का कोई महत्त्व नहीं—वे आये-गये होगये। भारत में अंग्रेजी इतिहास की दृष्टि से उनका महत्त्व असंदिग्ध है, लेकिन भारतीय इतिहास के प्रसंग में इन महाराज्यपालों की चर्चा का कोई अर्थ नहीं है। ब्रिटेन की संसद ने १८१२ ई. में कंपनी को भारत में व्यापार करने से विरत कर दिया। अब ईस्ट इंडिया कंपनी वह व्यवस्था बनगयी थी जिसके माध्यम से ब्रिटेन की संसद भारत पर शासन करती थी। सन् १८१३-१८१८ ई. की अवधि में मार्क्विस ऑफ हेस्टिंग्ज ने राजस्थान के राज्यों पर अंग्रेजों का राजनीतिक नियंत्रण कायम करके सिंधिया और होलकर की शक्ति को कम करदिया और उसने दक्खिन में पेशवा के राज्य को अंग्रेजी साम्राज्य में मिलालिया। सतलज नदी के पूर्व समस्त भारतीय प्रदेश अब कंपनी के मुट्ठी में था। इसमें संदेह नहीं कि इस प्रदेश में बहुत-सी जगह भारतीय राजे लार्ड वेलेजली की सहायक संधि के अंतर्गत राज कररहे थे किंतु उनपर अंग्रेजों की प्रभुसत्ता स्थापित होचुकी थी। सन् १८३३ ई. के अधिकारपत्र द्वारा कंपनी के व्यापारी रूप का पूर्णतः अंत कर दियागया और भारत में सभ्य सरकार की स्थापना का बीड़ा अब अंग्रेजों ने उठालिया। महाराज्यपाल की परिषद् में विधि-सदस्य के पद पर मेकॉले नामक एक अंग्रेज की नियुक्ति कीगयी। भारतीयों की शिक्षा की एक योजना भी बनायीगयी और उसे कार्यान्वित कियागया। सन् १८४५-४८ ई. में पंजाब को, जहां रणजीतसिंह के सुयोग्य नेतृत्व में सिखों ने अपना राज्य स्थापित करलिया था, अंग्रेजी साम्राज्य में मिला लियागया। घटना इस प्रकार है कि रणजीतसिंह के मरने के बाद सिख राज्य में अराजकता फैलगयी जिससे अंग्रेजों को वहां हस्तक्षेप का मौका मिला। अवध के प्रदेश पर अंग्रेजों की ललचायी आंखें पिछले कई दशकों से लगी थीं। अंत में उनकी घात लगगयी और उन्होंने उसे अपने सीधे शासन में लेलिया। सिंधु से लेकर ब्रह्मपुत्र तक और हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक भारतवर्ष की समस्त परंपरागत विस्तृत भूमि पर निधड़क यूनियन जैक लहराने लगा जिसकी सर्वोपरि सत्ता की ओर कोई आंख उठाकर नहीं देखसकता था। ईस्वी सन् से शताब्दियों पहले भारत की जिस एकता का निरूपण हिंदुओं के धार्मिक ग्रंथों में कियागया है किंतु जिसे न तो अशोक और न अकबर ही प्राप्त करने में समर्थ होसका, तथा मराठों के मस्तिष्क से जिसकी कल्पना तक छूकर नहीं गयी वह अब प्रत्यक्ष स्थापित होगयी थी। भारत के मानस में जिस राष्ट्रीय राज्य का सिद्धांत अठारहवीं शताब्दी में व्याप्त होगया था वह अंग्रेजी संगीनों की शक्ति से भारत की धरती पर अब मूर्तिमान होगया।

वेलेजली और भीषण विद्रोह के बीच में जो महाराज्यपाल हुए उनमें दो के नामों का उल्लेख करना आवश्यक होगा। ये हैं लार्ड विलियम बैंटिंक और मार्क्विस ऑफ डलहौजी। बैंटिंक ने अपने शासनकाल में सतीप्रथा का उत्सादन करदिया। यह पहला अवसर था जबकि एक राजकीय अधिनियम द्वारा हिंदूधर्म में पहला सामाजिक सुधार कियागया। डलहौजी बड़ा ही दबंग आदमी था और उसका नाम प्रायः अनेक देसी राज्यों, विशेषकर अवध, अंग्रेजी साम्राज्य में मिलालेने के सिलसिले में याद कियाजाता है। प्रशासन के क्षेत्र में भी उसने जो

सफलता पायी वह किसी भी महाराज्यपाल या उपराज (वायसराय) के बढ़चढ़कर है। भारत में केंद्रीय विधानसभा की स्थापना का श्रेय उसी को था। उसने इस देश में पहली रेलवे लाइन बिछवायी। उसके अपने प्रयास से पहली तार लाइन भी लगायी गयी। और उसने आधा आनेवाला डाक टिकट चलाया। भारत की पहली सबसे बड़ी नहर उसीने बनवायी जो गंगा की नहर के नाम से पुकारीजाती है। महाराजपथ (ग्रांड ट्रंक रोड) का जो आधुनिक रूप हमारी आंखों के सामने है उसका श्रीगणेश उसीने करवाया था। सारांश यह कि राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से डलहौजी भारत का सबसे सफल प्रशासक था। मानवोपयोगी कार्यों में भी उसकी बड़ी अभिरुचि थी। उसके एक साथी बेथून ने एक महिला विद्यालय की स्थापना की थी। उसने अपनी गांठ से रुपया लेकर उसके व्यय का भार वहन किया था। वही रुड़की के विशाल इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय का संस्थापक था। भारत इस महान स्कॉटवासी का चिरऋणी बनारहेगा।

आंग्ल-भारतीय प्रशासन की बाहरी शांति के पीछे कुछ अस्तव्यस्तता फैलानेवाली शक्तियां पनपरही थीं। जिन वर्गों को राज्याधिकार से वंचित कर दियागया था उनका जनता पर अब भी बहुत प्रभाव था। उत्तर भारत के मुस्लिम यह अब भी सोचरहे थे कि उनका राज्य छीनकर एक ही पीढ़ी में उन्हें इतना नीचे गिरा दियागया है कि वे प्रभावशून्य होगये हैं। अब मुगलों के विशाल साम्राज्य का जो रूप रहगया था वह यह था कि बादशाह दिल्ली में एक दयनीय बंदी की भांति जीवन बितारहा था। उसे उपाधियों के व्यापार की भी मनाही (१८३० ई.) कर दीगयी थी और राजप को दिल्ली में जो अधिकार प्राप्त था उसके कारण उसकी शान को और भी गहरी ठेस पहुंची थी।

इस शताब्दी के प्रारंभ में अवध का सूबा (प्रांत) एक राज्य के स्तर पर पहुंचगया था। भारत में इस्लाम के गौरव के इस एकमात्र प्रतीक को अभी खुरच न लगी थी। अपने अत्याचारों, कुशासन और अधःपतन के बावजूद अवध उत्तर भारत के मुसलमानों के लिए इस्लाम शासन के गौरव की कहानी कहरहा था। इसके अंग्रेजी साम्राज्य में मिलने के कारण भारत भूमि पर से मुस्लिम सत्ता का अंतिम चिह्न विलुप्त होगया। और दिल्ली से मुर्शिदाबाद तक मुसलमान यह अनुभव करउठे कि वास्तव में अब उनकी सत्ता का सूर्यास्त होचुका है।

मराठों के हाथों से जिस प्रकार सत्ता छिनी थी उसके कारण वे भी तिलमिला रहे थे। फिर भी उनकी स्थिति निःसंदेह विभिन्न थी। सिंधिया और होलकर राजवंशों के पास अब भी उत्तर भारत में विस्तृत प्रदेश थे जिनपर उन्हें प्रभुसत्ता प्राप्त थी। किंतु सतारा, झांसी और नागपुर के अंग्रेजी साम्राज्य में मिलने से उनकी प्रतिष्ठा को जो धक्का लगा था उसको सहन करने में वे असमर्थ थे। जिन दो बड़ी जातियों के हाथ से भारत का साम्राज्य छिनगया था वे बड़ी खिन्न थीं और उनका यह वैमनस्य शीघ्र ही एक विद्रोह के रूप में भड़क उठा जिसका श्रीगणेश मेरठ (१० मई १८५७ ई.) से हुआ जहां तीन भारतीय पलटनों ने अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठालिये। अड़तालीस घंटों के भीतर ही दिल्ली पर अधिकार

कर लियागया और वहां मुगल बादशाह बहादुरशाह को भारत का सम्राट घोषित कर दिया-गया। यह इस समय के राष्ट्रीय राज्य का अंतिम नाटकीय दृश्य था! पंजाब को छोड़कर समूचे उत्तर भारत, विशेषकर अवध और गंगा की घाटी, ने अंग्रेजों की गुलामी के जूए को उतार फेंका। इस विद्रोह का संचालन किसी संगठित सरकार ने, जिसकी सत्ता को सभी मानते हों, नहीं किया था। यह तो एक सामान्य अव्यवस्था थी जो एकदम फूटपड़ी थी। विभिन्न स्थानों पर विभिन्न नेताओं के हाथ में सत्ता थी जो अपने मनमाने ढंग से काम कररहे थे और केवल नाम भर के लिए सम्राट के अधीन थे। दिल्ली तक में नेताओं में फूट थी। वे कोई एक सर्वसामान्य नेता तलाश नहीं कर सके—मिर्जा मुगल और बख्तखां फौज की कमान के लिए आपस में झगड़ते रहे। लेकिन इस विद्रोह की आग की लपटें समस्त हिंदुस्तान में फैलगयीं। अंग्रेज प्राधिकारी विद्रोह की भयंकरता देखकर हक्के-बक्के रहगये और आरंभिक चार महीने में अंग्रेजी सत्ता अस्तव्यस्त होगयी और भारत में अंग्रेजी शासन की नींव हिलउठी। अंग्रेजों के हाथ-पांव फूलगये और कुछभी करने-धरने में असमर्थ होगये। यदि इस अवधि में कोई केंद्रीय सरकार बनाली जाती और विद्रोहियों की गतिविधियों को एक धागे में पिरोया जाता तो देश के भीतर अंग्रेजों के पांव टिकना कठिन होजाता और उन्हें अपने समुद्रतटवर्ती किलों में जाकर छिपने के लिए विवश होना पड़ता किंतु इसप्रकार का कोई संगठन न होने के कारण यह भीषण विद्रोह स्थानीय उत्पातों के रूप ही में प्रकट होकर फिस्स होगया। उधर इसका दमन करने में, अंग्रेज प्राधिकारियों की केंद्र-संचालित रणनीति को, समय रहते, कोई भारी कठिनाई नहीं उठानीपड़ी।

यह सच है कि जिन लोगों का राज्य छिनगया या जिनकी निर्वाह-वृत्ति बंद कर दीगयी थी वे ही इस विद्रोह के नेता थे। किंतु जिस उद्देश्य के लिए वे लड़ारहे थे उसके बारे में उनका मतैक्य था। यह उद्देश्य था अंग्रेजों को भारत भूमि से निकाल बाहर कियाजाए और देश में एक राष्ट्रीय राज्य की स्थापना हो। इस दृष्टिकोण से यह 'विप्लव' विप्लव या गदर न था अपितु एक महान राष्ट्रीय विद्रोह था। यद्यपि इस विद्रोह में बड़े-बड़े प्रदेशों और शक्तिशाली राजाओं ने हाथ नहीं डाला, फिरभी इसे राष्ट्रीय रूप देने से वंचित नहीं किया जासकता, क्योंकि यह स्पष्ट है कि ये लोग भी हवा का रुख देखरहे थे और जब जनता के जोश का पहला तूफान समाप्त होगया तभी दूरदर्शी लोग ताड़गये थे कि विद्रोह की सफलता का कोई लक्षण शेष नहीं रहगया है। इस देश में विभीषणों की भरमार थी। उदाहरण के लिए हैदराबाद के सालारजंग का नाम प्रस्तुत किया जासकता है। किंतु यदि विप्लव के नेताओं ने एक केंद्रीय सरकार का संगठन करलिया होता और लखनऊ की छोटी-सी फौज का घेरा डालने की जगह उन्होंने अंग्रेजी फौजों से सीधी टक्कर लेकर विजय प्राप्त की होती तो शत्रुओं की मदद करने-वाले विभीषणों के लिए जनता की उत्तेजना दबाना असंभव होगया होता। विद्रोही नेता ऐसा करने में असमर्थ रहे और विद्रोह फिस्स होगया।

इस विप्लव ने कुछ मार्के के नेताओं को जन्म दिया : तात्या टोपे, अजीमुल्लाखां, झांसी की रानी लक्ष्मीबाई और खान बहादुरखां, केवल तात्या टोपे के विरुद्ध अंग्रेजों को बड़ी गंभीरतापूर्वक

मोरचा लगाना पड़ा। यह सचमुच ही मराठों का एक सुयोग्य नेता था जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहास की असंदिग्धरूप से महिला-रत्न वीरांगना झांसी-की रानी का सहयोग पाकर सुचारुरूप से कई मोरचे लड़े। इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में जो झड़पें हुईं वे युद्ध न होकर विद्रोहियों के विरुद्ध दमनकारी कार्रवाइयां थीं। टोपे और लक्ष्मीबाई की संयुक्त सेना की पराजय के बाद, इस विद्रोह का सैनिक रूप काफ़ूर होगया। फिर जो श्वेत आतंक बरपा हुआ वह मुख्य रूप से राजनीति से उत्प्रेरित था। उसका उद्देश्य भारतीयों के हृदयों में भय उत्पन्न करना था जिससे इस प्रकार का कोई विद्रोह भविष्य में न उठखड़ा होसके।

भारत के अंग्रेजी इतिहासों में गदर का वर्णन असाधारणरूप से बढ़ाचढ़ाकर हुआ है। इसका मुख्य कारण यह है कि तत्कालीन अंग्रेजों के मन में इससे बहुत भारी भय उत्पन्न होगया था और इस विप्लव ने यह भी प्रकट करदिया था कि उनकी स्थिति यहां सदा ही खतरे में रहेगी। प्राधिकारिओं का इससे माथा ठनक गया था और वे इस परिणाम पर पहुंचे थे कि यदि एक तुच्छ विजातीय अल्पसंख्या को, जो यहां की जनता से संबद्ध नहीं और उसके लिए हमेशा नवागंतुक बनी रहेगी, भारत में अपना राज्य कायम रखना है तो उसके पास बहुत भारी शक्ति होने की आवश्यकता है और साथ ही शासित जनता की आंखों में उसकी नैतिकता ऊंची उठनी चाहिए जिसे बहुत दिनों तक शान के नाम से पुकारते रहे हैं। जातीय पारस्परिक अधीनता उत्पन्न करनी और बरतनी आवश्यक है। विजेता जाति ने कानपुर का कुआं, लखनऊ रेजीडेंसी, आदि तीर्थस्थान बना लिए और गदर के स्मारक उसके देवालय बनगये जो प्रत्येक शहर में महत्त्वपूर्ण स्थानों पर स्थित हैं। उनके जो लोग मारे गये वे संत और शहीद मानलिये गये। भारतीय पक्ष में गदर का प्रभाव यह देखने में आया कि उनके मानसपटल पर उसका आतंक छायारहा। विद्रोहियों को बुरी तरह मारा और सताया गया था। श्वेत आतंक के भीषण दृश्य भारतीयों के मस्तिष्कों में दीर्घ काल तक अंकित रहे और अनेक दशकों तक दो जातियों के आपसी संबंधों को विषाक्त करते रहे।

यदि विशुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो इस गदर के दो महत्त्वपूर्ण पहलू देखने में आएंगे। पहला, प्राचीन व्यवस्था ने अपनी राष्ट्रीयता और गौरव फिर-से प्राप्त करने के लिए यह अंतिम प्रयास किया था और यद्यपि इसपर नृशंसता के धब्बे लगहुए थे फिर भी जिन लोगों के राज्य या पेंशनें छिनगयी थीं उनका राष्ट्रीय सम्मान फिर पाने का यह वीरतापूर्ण प्रयास था। दूसरा, आधुनिक भारतीय इतिहास की यह विशाल विभाजन-रेखा थी जिसके बाद अंग्रेज सरकार की रीति-नीति और आदर्श कंपनी सरकार से पूर्णतः विभिन्न होगये। सन् १८५८ ई. में ब्रिटिश ताज ने भारत सरकार की बागडोर अपने हाथ में लेली और इतिहास के मंच से ईस्ट इंडिया कंपनी विलुप्त होगयी।

यदि कोई पूछे कि गदर से पहले के, भारत में अंग्रेजी इतिहास में नहीं, अपितु भारतीय

इतिहास में किन तीन अंग्रेजों का नाम याद किया जाएगा तो उनमें किसी महाराज्यपाल सेनापति, या प्रशासक का नाम नहीं आएगा जिनकी धूम प्रायः आंग्ल-भारतीय किताबों में मची रहती है। इनमें तो एडमंड बर्क, विलियम जोंस और मेकौले के नाम ही आएंगे। इनमें बर्क तो कभी भारत में पधारे तक न थे। किंतु भारत में उनके देशवासियों ने जो दमन, अत्याचार और भ्रष्टाचार किये थे उनके विरुद्ध उस युग के एक सबसे श्रेष्ठ मस्तिष्क ने जिन अमर शब्दों में अपनी बौखलाहट प्रकट की थी उससे, जैसाकि मोर्ले का दावा है और यह दावा करना ठीक ही है, उस युग का अंत होगया जबकि नैतिक विचारों ने भारत में प्रवेश नहीं किया था। बर्क ने जो आवाज उठायी थी उसने केवल कंपनी के अन्यतम प्रतिभासंपन्न महाराज्यपाल के घृणित अपराधों को अपना लक्ष्य नहीं बनाया था प्रत्युत उसका उद्देश्य यह भी था कि भारतीय जनता के साथ न्याय कियाजाए। उसके हृदय में भारतीय जनता के लिए जो सहानुभूति जागृत हुई और अत्याचारों के प्रति उसे जो घृणा थी और इनके साथ उसने नैतिकता के नाम पर जो आवाज उठायी, उनसे भारत के इतिहास का रुख ही बदलगया क्योंकि उस समय से भारत के प्रशासन में नैतिकता की रुझान आगयी और क्लाइव के डाकू राज्य का जनाजा बिना आंसू बहाये निकलगया। ब्रिटेन की संसद में वारेन हेस्टिंग्ज का मामला चलाने से पहले, भारतीय किसानों का खून चूसकर जो बेनफील्ड और मैकफर्सन आदिमजातियां अपनी दिवाली मनारही थीं और इस देश की दौलत को लूटकर जो अंग्रेज अफसर इंग्लैंड में जाते और नवाबी शान से रहने लगते थे, अब उनके दिन लदगये थे और उनके गुलछर्रे उड़ाने के लिए धन मिलने का द्वार बंद होचुका था। भारत में उदार परंपरा का सूत्रपात होचुका था जिसके जन्मदाता बर्क थे।

अंग्रेजी भारत में सर विलियम जोन्स एक ऊंचे पद पर आरूढ़ थे, किंतु भारतीय इतिहास में उन्हें जो सम्मानित स्थान प्राप्त है उसका कारण उनकी अन्य उपयोगी सेवाएं हैं। वह १७८३ ई. में कोलब्रुक के साथ भारत में पधारे और उसके अगले वर्ष बंगाल एशियाटिक सोसायटी की स्थापना की। उनके और श्रीमद्भगवद्गीता के अंग्रेजी भाषा में अनुवादक चार्ल्स विल्किन्स के कारण भारतीय साहित्य पहली बार संसार के सामने प्रस्तुत होसका। जोंस के शकुंतला के अंग्रेजी अनुवाद से यूरोपीयों की पौर्वात्य संस्कृति में अभिरुचि बढ़ी। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों-त्यों इस अभिरुचि में उत्कर्षता और प्रौढ़ता आती गयी। आज इस बात का दावा साफ तौर पर किया जासकता है कि यद्यपि भारत और पूर्व के साहित्य, कला और दार्शनिकता का समावेश यूरोपीय विचारधारा में बहुत धीरे-धीरे हुआ है और उसका उस पर बहुत व्यापक प्रभाव नहीं पड़ा है फिरभी वह सभी सभ्य मनुष्यों की थाती बनगया है। किंतु भारतीय ग्रंथों और साहित्य के अध्ययन, संपादन, और व्याख्या के लिए विद्वान पुरुषों की जो गोष्ठियां प्रत्येक यूरोपीय देश में बनगयी हैं उनकी संख्या से सिद्ध होता है कि शकुंतला का अनुवाद करने और एशियाटिक सोसाइटी की संस्थापना द्वारा 'एशियाई जोंस' ने जो काम किया वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण था।

सर विलियम जोंस के सराहनीय कार्य से भारतीय संस्कृति का द्वार केवल पश्चिम के लिए

ही नहीं खुलगया किंतु स्वयं भारत पर उसका अनुकूल प्रभाव पड़ा। अठारहवीं शताब्दी में बंगाल की जनता जिस अधःपतन के गड्ढे में गिरगयी थी धीरे-धीरे यह सारा देश उसी ओर चलागया। जोंस और उसके पौर्वात्य संस्कृत के मर्मज्ञ साथियों ने इस दुरवस्था को प्राप्त जनता का उद्धार करने में प्रशंसनीय सहयोग दिया। उनके कार्य ने यहां की जनता के घावों पर मरहम का काम किया। अठारहवीं शताब्दी के अंत में भारत का राष्ट्रीय आत्मगौरव जिस अधोगति को प्राप्त होचुका था उसको जोंस के प्रयास से डूबते को तिनके की भांति सहारा मिलगया। अंग्रेजी में भारतीय साहित्य के अनुवाद को पढ़कर यूरोप के परम विख्यात साहित्यिक भी प्रभावित होउठे जिससे भारतीयों के हृदय में आत्म-सम्मान की भावना पैदा होचली। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के जिस महापुनरुद्धार का समारंभ हुआ उसका जन्मदाता, उसी अर्थ में, जोंस को माना जासकता है।

यद्यपि थामस वेबिंगटन मेकौले का नाम प्रबुद्ध भारत में लोकप्रिय नहीं है, स्वयं मेकौले में संकीर्ण यूरोपीयता गरजती रहती थी तथा अंग्रेजी की महानता के दंभ में वह खोया-सा रहता था, फिर भी यदि उसके कार्य को, सचाई के साथ परखें तो हमें मालूम हो जायगा कि आधुनिक भारत का जो रूप हमारी आंखों के सामने है उसमें रूह फूंकनेवाला वही व्यक्ति था। वह भारत का नूतन मनु था--आधुनिक विधि-विधान की प्रत्यक्ष आत्मा था। भारत ने जिस विधिव्यवस्था के अंतर्गत अंग्रेजी राज के अंतिम एक सौ से भी अधिक वर्ष बिताये हैं और जिसका इस्पाती चौखटे के भीतर उसका सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास हुआ है उसका निर्माता मेकौले ही था। उस समय की परिषद् की बैठक की कार्यवाही की पुस्तक का जो संपादित रूप हमारे सामने आया है उससे प्रकट होता है कि जिन सिद्धांतों को हम अब स्वयंप्रमाणित स्वीकार करने लगे हैं उनकी स्थापना के लिए यहां मेकौले को अपने साथियों से कितना माथा पच्ची करना पड़ा था। उदाहरण के लिए यह सिद्धांत यहां मेकौले ही ने स्वीकार करवाया था कि यदि अभियुक्त को अपराधी सिद्ध नहीं कर दियाजाता है तो उसे निर्दोष समझना चाहिए। जिस देश में हिंदू सिद्धांतों के अंतर्गत शूद्रों के प्रमाण देने पर ब्राह्मण को दंड नहीं दिया जासकता था और जहां वर्ण के अनुसार दंड में भी विभिन्नताएं पायी जाती थीं तथा मुस्लिम कानून के अनुसार मुसलमानों के खिलाफ काफिर का सबूत स्वीकार नहीं कियाजाता था, वहां कानून की दृष्टि में सबको समान मानने से महान सिद्धांत की स्थापना करके मेकौले ने यहां एक बहुत महत्त्वपूर्ण वैधानिक क्रांति कर दी। जो लोग मेकौले की विधिसंहिता की तुलना उसके पूर्ववर्ती विधानशास्त्रियों--चाहे वह मनु हों या जुस्तीनियन या नेपोलियन--से करते हैं उनमें से कोई भी इस दावे का मिथ्या खंडन करने को तैयार न होगा कि उसके नेतृत्व में विधि आयोग ने जो दंडसंहिता बनायी वह पूर्ववर्ती दंडप्रणालियों से कहीं अधिक परिष्कृत और श्रेष्ठ थी। इस उपमहाद्वीप में ४० करोड़ लोग जिस विधि-विधान की छाया में निर्भीकतापूर्वक जीवन बितारहे हैं उसके शानदार ढांचे का निर्माण करनेवाला मेकौले ही था और यह विधि-व्यवस्था उसका गौरवास्पद स्मारक है।

शिक्षा के विषय में मेकौले ने जो सुप्रसिद्ध निर्णय करवाया उसका भारतीय जीवन के विकास पर बेजोड़ प्रभाव पड़ा है। जिस सरकारी लेख्य में शिक्षासंबंधी निर्णय दियागया है, यदि उसके विवरण में से हिंदू सभ्यता के विरुद्ध जो विष वमन कियागया है उसे निकाल दें, और पौर्वात्य साहित्य की अखिल निधि को मेकौले की पुस्तकों की एक अल्मारी पर निछावर करडालने की जो दर्पोक्ति संकलित है उसपर ध्यान न दें, तथा "गब के उदधि और मक्खन के उदधि" की जो अलंकारपूर्ण उक्ति लिखी है उसकी खटास को अनुभव न कियाजाए, तो यह भारत में तत्कालीन अंग्रेजी सरकार के एक अत्यंत लाभदायक क्रांतिकारी निर्णय का ऐतिहासिक पत्र था। उसमें लिखा था कि अंग्रेजी भाषा के माध्यम से नयी रोशनी या नूतन विद्या (न्यू लर्निंग) की शिक्षा भारतीयों को दीजाए। मेकौले के व्याख्यान में जो अतिरंजित उद्गार भरेपड़े हैं उनपर नाक-भौं सिकोड़ना व्यर्थ होगा। हम इस निर्णय का महत्त्व तब समझ जाएंगे जब हम यह विचार करें कि यदि अंग्रेजी सरकार ने मेकौले का प्रस्ताव न मानकर दूसरी नीति अपनायी होती तो उसका क्या दुष्प्रभाव पड़ा होता। देसी भाषाओं को अपनी-अपनी डफली, और अपना अपना राग के कारण इतनी विषम स्थिति पैदा होगयी होती कि भारतीय एकता का विचार तक विलुप्त होजाता। जिस नयी रोशनी या नूतन विद्या पर भारत का महापुनरुद्धार आधारित रहा है उसका अधिकांश लाभ हमें प्राप्त नहीं होसकता था। इसमें संदेह नहीं कि अंग्रेजी से अभिज्ञ न होने के कारण भारतीयों को पश्चिम की विज्ञान-संबंधी जानकारी सीधी न मिलकर, किसी अन्य माध्यम से उपलब्ध होती और इस प्रकार संसार के वैज्ञानिक कार्य में उनके भाग लेने का मार्ग लंबा होजाता। अंग्रेजी में शिक्षा पाने के लिए उद्यत होकर भारत संसार के परिवार में प्रविष्ट होगया। यदि ऐसा न होता तो दूसरा मार्ग क्या था। संस्कृत और फारसी को छोड़कर, उस समय कोई भी भारतीय देसी भाषा ऐसी न थी जिसमें माध्यमिक शिक्षा तक दी जासकती। इन भाषाओं का इतना साहित्यिक विकास नहीं हुआ था। इस दशा में इनके द्वारा विश्वविद्यालय की शिक्षा का स्वप्न देखना तबतक के लिए असंभव था जबतक कई दशकों तक उसकी तैयारी न की जाती। इस तैयारी के लिए उन लोगों की एक लंबी फौज की जरूरत थी जो अंग्रेजी से अभिज्ञ और पश्चिम की नूतन विद्या से परिचित होते। मेकौले की शिक्षापद्धति ने इस समस्या को हल कर दिया। उसने भारतीय भाषाओं का विकास इस सीमा तक करदिया कि उनमें विश्वविद्यालय की शिक्षा अब संभव होतीजारही है। यदि विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी की शिक्षा न दीगयी होती और अभीष्ट कार्यकर्ताओं का दल तैयार न कियागया होता तो इस प्रकार का विकास होना कठिन होगया होता। भारत के जिन महान महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और विद्यालयों ने विद्या जगत में जो न्यूनाधिक ख्याति प्राप्त की है उसका सीधा श्रेय मेकौले की शिक्षा-पद्धति को है।

इस समय लोगों की जो महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति देखने में आयी वह यह थी कि वे भारतीय इतिहास में रुचि प्रकट करने और बौद्धमत की पुनर्गवेषणा करने लगे। सात सौ वर्षों तक भारतीय इतिहास से केवल यही अभिप्राय लिया जातारहा कि उसका श्रीगणेश महमूद गजनवी

के भारत पर आक्रमण से होता है और जो कुछ ऐतिहासिक अभिलेख मुस्लिम इतिहासकार अपने पीछे छोड़गये हैं वे ही उसके पृष्ठ हैं। शिलालेखों और ताम्रपत्रों से ऐतिहासिक घटनाओं की खोजकरके, विदेशी स्रोतों से सामग्री संकलित करके, तथा राजमुद्राओं से विस्मृत भारतीय इतिहास का ज्ञान संग्रहीत करके, भारतीय इतिहास के लेखन का यह महान कार्य बाद में आरंभ कियागया। किंतु डफ ने मराठों का इतिहास, विल्क ने मैसूर का इतिहास और टॉड ने राजस्थान का इतिहास लिखा। ये लेखक कंपनी के अधिकारी थे और उनका तत्कालीन ऐतिहासिक घटनाओं से सीधा संबंध था। उनकी रचनाओं ने भारतीयों के हृदय में इतिहास के अध्ययन की अभिरुचि ही उत्पन्न नहीं कर दी अपितु वे देश के अतीत गौरव पर अभिमान करना भी सीखगये जिसका आगे चलकर महत्त्वपूर्ण परिणाम निकला।

अध्याय २१

महान पुनरुत्थान

सन् १८४८ ई. तक, भारत का एकीकरण होगया था। इसके दस वर्ष बाद ब्रिटिश पार्लमेंट (अंग्रेजों की संसद) ने भारत सरकार का दायित्व सीधे अपने हाथ में लेलिया। यह व्यवस्था लगभग एक सौ वर्षों तक जारी रही जिसे हम महान पुनरुत्थान का समय कह सकते हैं। जिस आंदोलन ने भारत को उठाकर अपने वर्तमान पद पर प्रतिष्ठित कर दिया है उसका विहगावलोकन करने से पहले इस मध्यवर्ती अवधि में यहां आंग्ल-भारतीय प्रशासन के मुख्य रूपों का संक्षिप्त वर्णन करना अनुचित न होगा।

कंपनी के समय में धीरे-धीरे उस भारी-भरकम प्रशासकीय यंत्र का निर्माण कियागया जिसकी नींव डालने का श्रेय लार्ड कार्नवालिस को प्राप्त है। भारत में गदर के बाद उस प्रशासकीय यंत्र का विकास और परिवर्धन हुआ जिसके जोड़-का उदाहरण संसार के इतिहास में मिलना दुर्लभ है। संसार के इतिहास में और दो बड़े साम्राज्यों के नाम हैं—ये हैं कुस्तुनतुनिया का साम्राज्य और चीन का साम्राज्य जो घोर दफ्तरशाही पर अवलंबित थे। किंतु ब्रिटिश सरकार ने भारत के केंद्र और प्रांतों में प्रशासकीय सेवा का जो विशाल जाल बिछाकर दिखाया उसके आगे उपर्युक्त दोनों साम्राज्यों का नाम पिछड़जाता है। विशाल अखिल भारतीय सेवाओं अर्थात आई. सी. एस., इंडियन पुलिस तथा इंडियन ऑडिट एंड एकाउंट्स सर्विसेज तथा प्रांतीय सेवाओं (विशेषकर राजस्व और न्यायांगसंबंधी सेवाओं) ने एक ऐसे प्रशासकीय यंत्र की स्थापना की जो ४०करोड़ व्यक्तियों के शासन का भार अपने कंधों पर उठासका। इससे पहले इतनी बड़ी शासन-व्यवस्था अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आयी। यह विस्तीर्ण शासन-व्यवस्था केवल सरकारी कार्य करने में सक्षम नहीं थी प्रत्युत देश में अकाल, प्लेग और बाढ़ जैसे संकटों का भी तत्परता से सामना करसकती थी। भारत में इस विस्तृत व्यवस्था की स्थापना इसलिए संभव हो सकी क्योंकि उसके पास दफ्तरशाही सरकार की परंपरा विद्यमान थी। इस परंपरा का मूलस्रोत क्या था? इस बारे में निश्चयपूर्वक कुछ भी कहना कठिन है; किंतु फिरभी हमें मालूम है कि कम-से-कम मौर्यकाल में भारत में एक सुव्यवस्थित दफ्तरशाही कायम थी। अंग्रेजी शासनकाल में भारत में जो यूरोपीय सरकारी सेवा में लगेहुए थे उनकी संख्या भारतीय कर्मचारियों की संख्या का एक छोटा-सा अंश थी। भारत में पहले भी जो साम्राज्य स्थापित हुए थे वे भी जिन वर्गों की सेवा पर अधिकांशतः निर्भर रहते थे अंग्रेजों ने भी उन्हीं में से अपने लिए कर्मचारी भरती किये। उत्तर में ब्राह्मण, कायस्थ और खत्री तथा दक्षिण में ब्राह्मण और कुछ अन्य पढ़ेलिखे

वर्ग इस योग्य समझे जाते थे। यह सेवक वर्ग चाहे भारतपर किसी का राज्य क्यों न स्थापित होगया हो, भारत का प्रशासन-कार्य दो हजार वर्षों तक संभालता रहा। इस वर्ग की निष्ठापूर्ण सेवा प्राप्त किये बिना इस देश में विशाल दफ्तरशाही का संगठन संभव नहीं होसकता था।

इस प्रकार प्रशासकीय यंत्र के सुगठित होजाने पर अंग्रेजी सरकार से इस देश में इतने बड़े पैमाने पर प्रशासन का काम अपने हाथ में लिया जितना इस आधुनिक युग में उस के बाहर और कहीं भी नहीं लियागया है। रेलों और डाक-तार के जाल ने सारे देश को एक धागे में पिरोदिया। इस देश में, विशेषकर पंजाब और युक्तप्रांत में, विशाल सिंचाई योजनाओं को कार्यपरिणत कियागया। देश में शांति का राज्य था और उदारतापूर्ण तथा व्यापक न्यायक्षेत्रीय पद्धति के अंतर्गत जो कानून-व्यवस्था कीगयी उसकी दृष्टि में आदमी और आदमी के बीच कोई भेदभाव नहीं था। भूमिकर-प्रणाली में व्यापक परिवर्तन हुआ और यद्यपि देश के विभिन्न भागों में जमींदारी की खर्चीली और दोषपूर्ण प्रथा चलतीरही फिरभी भूमि-व्यवस्था और लगानबंदी करदी तथा यह भी स्पष्टरूप से तय करदिया कि रियाया को कितना लगान सरकारी खजाने में जमा करना होगा। तात्पर्य यह कि एक सौ वर्षों तक प्रशासकीय दृष्टि से भारत में चैन की बंसी बजती रही।

यद्यपि सरकार की शिक्षा-नीति प्रगतिशील नहीं थी फिरभी प्रांतीय राजधानियों के बड़े-बड़े विश्वविद्यालयों और सरकारी विद्यालयों की प्रणाली ने देश में एक बड़े और सुशिक्षित वर्ग का निर्माण किया। इस प्रणाली में बहुत-से दोष होने पर भी मध्यवर्ग की शिक्षा अच्छी तरह होतीरही और भारत भर में समान शील और विचार-वाले लोगों का एक विशाल समुदाय उत्पन्न होगया जो एक सामान्य भाषा बोलता था, एक सामान्य दृष्टिकोण का परिपोषण करता था और अखिल भारत के पैमाने पर विचार करने में समर्थ था। चिकित्सा-व्यवस्था और सार्वजनिक-स्वास्थ्य के क्षेत्रों में इससे भी कम प्रगति हुई। मोटे तौर पर, इस दिशा में सरकार ने प्रायः जो कुछ किया वह शहरी इलाकों तक ही सीमित रहा।

संक्षेप में, प्रशासकीय कार्यपद्धति की दृष्टि से भारत में अंग्रेजी सरकार संसार की सर्वोत्तम सरकार थी, किंतु जब हम इस दृष्टि से विचार करते हैं कि उसने यहां राष्ट्रीय मंगल के कार्यों का कितना संगठन किया तो हमें ज्ञात होता है कि जितना हम उससे इस क्षेत्र में विधिपूर्वक आशा कर सकते थे उसने उतना भी नहीं किया। उस पर औद्योगिक विकास की उपेक्षा करने का जो दोषारोपण कियाजाता है यदि हम उससे सहमत भी न हों फिरभी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि ब्रिटेन के हित-साधन में भारत के औद्योगिक हितों का बलिदान कियाजाता रहा। जबतक लार्ड हैलीफैक्स (तब लार्ड इर्विन) के हाथ में भारत के शासन की बागडोर नहीं आयी तबतक इस कृषिप्रधान देश में कृषि-विकास तक की ओर सरकार ने अधिक दिलचस्पी नहीं दिखायी। भारत की कलाओं और शिल्पकलाओं का पतन होने लगा और जीवनस्तर के ऊंचे उठने के कोई लक्षण दृष्टिगत नहीं होते थे। भारतीय अर्थशास्त्रियों की पहली पीढ़ी तो इसी विवाद में उलझकर खत्म होगयी कि ब्रिटेन ने व्यापारिक और आर्थिक शोषण के ढंग निकालकर इस देश को कितनी बुरी तरह चूस डाला है और भारत की जनता में जो गरीबी

झलकने लगी है उसका कारण यह है कि यहां की संपत्ति निकलकर ब्रिटेन चलीगयी है। इस दोषारोपण में सचाई का अंश कहां तक है, इसका दिग्दर्शन कराना यहां अभीष्ट नहीं। फिरभी इसका खंडन नहीं किया जासकता कि भारत सरकार ने १८५८ से १९२१ ई. तक केवल लगान वसूल करने, देश में कानून और शांति का राज्य बनायेरखने, भारत के सीमांतों को बाहरी आक्रमणों से बचाने पर ध्यान दिया जो किसी भी सरकार के तीन न्यूनतम आवश्यक कार्य माने जासकते हैं। उसने न तो यहां के समाज के पुनर्गठन की योजनाओं ही में हाथ डाला और न यहां की जनता की नैतिक और भौतिक संपन्नता का स्तर ऊंचा उठाने और राष्ट्रीय संपत्ति बढ़ाने की कोशिश की। अंग्रेजों ने इस देश पर सभ्यता की चमकदमक तो चढ़ा दी पर यहां सभ्यता की जड़ जमानेवाले ठोस कार्य नहीं किये।

भारत में अंग्रेजी राज को इस बात का भी श्रेय प्राप्त है कि उस समय यहां लोकप्रिय राजनीतिक संस्थाओं का आविर्भाव हुआ। यद्यपि इन संस्थाओं की दीर्घसूत्री प्रवृत्ति थी फिर भी वे इस कारण क्षम्य थीं कि उन्होंने भारतीय जनता की जीवन में एक नया मोड़ पैदा किया। सन् १८६१ ई. में विधान परिषद् का विस्तार किया गया जिसमें कुछ मनोनीत भारतीय सदस्यों को स्थान मिला। लार्ड रिपन ने भारत में स्थानीय स्वायत्तशासन की नींव डाली थी जिससे इस देश में स्थानीय और नगरपालिका-के स्वशासन का जन्म हुआ। यह स्वशासन भारत की भूमि में गहरी जड़ करगया और देश की भावी उच्चस्तरीय प्रजातंत्रीय संस्थाओं के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने में सफल रहा। इसी शताब्दी के अंत में, प्रांतीय विधानमंडलों ने प्रतिनिधि चुनकर केंद्रीय विधान सभा के लिए भेजने आरंभ करदिये। आगे चलकर मिंटो-मोर्ले सुधारों ने इस सभा का जो कायाकल्प किया उससे इसमें लोकप्रिय अभिमत को व्यक्त करने की क्षमता आगयी। यद्यपि वे प्रारंभिक सुधार बहुत थोड़े और परिमित थे तथा उनसे भारत की सरकार के ढांचे में किसी प्रभावशाली प्रजातंत्रीय पद्धति का समावेश नहीं होसका था फिरभी इसमें संदेह नहीं की इस कार्य से संसदीय कार्यपद्धति सीखने का द्वार भारतीयों के लिए खुलगया। भारतीयों ने इन सुधारों से लाभ उठाया और उनमें से निकलकर कुछ प्रतिभाशाली व्यक्ति सामने आये जिन्होंने नगरपालिका के प्रशासन और संसदीय जीवन में आगे बढ़कर नाम कमाया। फिर मांटेग्यु-चेल्म्सफोर्ड सुधारों ने इस स्वशासन की गाड़ी को एक धक्का और लगाया। दूसरे शब्दों में, उन्होंने भारत के केंद्र और प्रांतों में प्रत्यक्ष चुनाव का सिद्धांत लागू किया और प्रांतीय सरकार में भारतीयों को आंशिक उत्तरदायित्व भी सौंप दिया। आगे चलकर १८३५ ई. के अधिनियम द्वारा प्रांतों को व्यवहारतः स्वशासन प्राप्त होगया।

भारत में अंग्रेजी राज का सबसे मधुर फल यह निकला कि भारत का एकीकरण होगया। भारत में अखंडता का डंका बजउठा। भारत ने मुगल-शासन से राष्ट्रीय राज्य की जो भावना ग्रहण की थी उसे इस देश में अंग्रेजी राज ने पुष्ट किया जानपड़ता है। यह सच है कि एक तिहाई देश में देसी राजे और नवाब राज कररहे थे। सन् '५७ के गदर के तत्काल बाद इस देश के एक बड़े क्षेत्र पर अंग्रेजी राज नाममात्र के लिए था। किंतु देश के एकीकरण की प्रक्रिया आरंभ होगयी थी जिसका ध्येय भारतीय राज्यों में अंग्रेजी सत्ता की धाक कायम करना

ही नहीं, अपितु भारत को एक अखंड देश बनाना था। रेलों, डाक तथा तार, मुद्रा, नमक-प्रशासन आदि वे स्थूल व्यवस्थाएं थीं जिनके जारिए देश में एकता की स्थापना हो सकी। इसके अतिरिक्त सर्वोपरि सत्ता का सिद्धांत सामने था जिसके आधार पर केंद्रीय सरकार देसी राज्यों के ऊपर अपनी सत्ता रखने का दावा करती थी—इसी प्रकार देसी राजाओं और नवाबों के ऊपर ब्रिटिश ताज की सर्वोपरि सत्ता थी। इन बातों ने इस देश की शासन-शैली और प्रशासक यंत्र पर गहरा प्रभाव डाला। घटनाओं ने १८७५ ई. में सबसे बड़े हिंदू राजा बड़ौदा के गायकवाड़ को अपदस्थ करके, १८९५ ई. में मणिपुर के युवराज को दंडित करके और निजाम के नाम लार्ड रीडिंग ने अंग्रेजी सरकार की नीति की स्पष्ट लिखित पत्र में घोषणा करके भारतीय एकीकरण के आंदोलन को और तेज करदिया था। अंग्रेजी सरकार मुगल सरकार की साम्राज्यशाही सत्ता का उत्तराधिकारी होने का दावा करती थी। उसने रजवाड़ों और रियासतों की स्वतंत्रता को धीरे-धीरे घटाकर नगण्य और अंग्रेजी शक्ति के अधीन करदेने में अचूक सफलता पायी। ब्रिटेन की रानी ने भारत की सम्राज्ञी की उपाधि धारण करने और दिल्ली में सम्राट का भव्य दरबार होने से दुनिया की आंखों के सामने यह स्पष्ट कर दियागया कि भारत की एकता अखंड और अविभाज्य है।

प्रथम महासमर के बाद कहीं अंग्रेज प्राधिकारियों को यह सूझपड़ा कि भारत की एकता के आंदोलन को दृढ़ करना राजनीतिक दृष्टि से उनके लिए हितकर न होगा। लेसली स्कॉट ने आगे चलकर जो यह चारा डाला कि भारतीय रजवाड़ों का संबंध सीधा इंग्लैंड के ताज से है, वह बहुत देर से सामने आया और १९२९ ई. से बटलर-प्रतिवेदन के अनुसार देसी राजाओं और साम्राज्यवादी हितों के बीच सांठगांठ उस भारतीय एकता को विच्छिन्न करने में अब असमर्थ थी जो इतने वर्षों के दीर्घकाल में अच्छी तरह पनपचुकी थी। ताजके प्रतिनिधि और महाराज्यपाल के बीच तो वैधानिक पृथक्ता की रेखा खींची जासकती थी; किंतु केंद्रीय सरकार के आर्थिक, वित्तीय और प्रशासकीय डोरियों ने राज्यों को उसके साथ इतना जकड़कर बांध दिया था कि उनको किसी प्रकार केंद्र से अलग नहीं किया जासकता था। एक सौ वर्षों के प्रभावशाली प्रशासन के कारण भारत की जो एकता प्रादुर्भूत हुई थी उसका दुर्भेद्य गढ़ ढाहने में अंग्रेज विधिज्ञों और राजाओं तथा नवाबों के वंशगत हितों की पैंतरेबाजी विफल रही।

भारत में अंग्रेजी राज के जमाने में अन्य क्षेत्रों में भी उल्लेखनीय प्रगति हुई। सन् १८३४ ई. में जेम्स प्रिंसेप ने अशोक के स्तूपलेखों का मर्म ढूंढ निकाला। इससे भारतीय इतिहास की कुंजी हाथ लगगयी। वास्तव में इस घटना ने भारतीय इतिहास के अध्ययन में क्रांति पैदा करदी। अब प्राचीन भारत के क्रमबद्ध अध्ययन का द्वार खुलगया। सन् १८६० ई. में अलैग्जेंडर कनिंघम को पुरातत्त्व विभाग का निर्देशक नियुक्त कियागया। फर्ग्यूसन ने भारत के स्मारकों की स्थापत्यकला का अध्ययन करके जो चिरस्थायी साहित्य लिखा उसने भारतीय कलात्मक अभिरुचि को पुनर्जीवित करदिया और इससे विविध कलाओं के पुनरध्ययन का श्रीगणेश होगया। भारत सरकार ने डा. हुल्ट्ज़ को शिलालेख तथा मुद्रालेख के अध्ययन

विभाग का पदाधिकारी नियुक्त किया। यहीं से भारतीय इतिहास का फिर-से अध्ययन करने के गुरुतर कार्य का समारंभ होता है। प्राचीन भारतीय लिपियों के गूढ़ाक्षरों को स्पष्ट करने और देश भर में बिखरे शिलालेखों तथा अन्य लेखों की सरकारी तौर से गवेषणा करने और उनके परिणामों को प्रकाशित करने से पहली बार जनता के हाथ में वह सामग्री पहुंचसकी जो उसके इतिहास की फिर-से रचना करने में योगदान करसकती थी। वास्तव में यह एक पौराणिक कथा-सी प्रतीत होती है। भारतीयों के मस्तिष्क में ऐतिहासिक जिज्ञासा पैदाकरने, अपने अतीत पर गौरव करने और अपनी राष्ट्रीयता की भावना में आत्मविभोर होजाने में उसने क्या मदद की है, इसको छिपाना संभव नहीं है। आज जब हम मौर्य, गुप्त, चालुक्य, और पल्लव राजवंशों की चर्चा करते हैं तब हमें यह नहीं भूलजाना चाहिए कि भारतीय इतिहास में इन बड़े नामधारी सम्राटों के प्रख्यात शासनकाल की कहानियों का पता उन यूरोपीय विद्वानों के अथक परिश्रम से चला है जो भारत में अंग्रेजी सरकार की सेवा में नियुक्त हुए थे।

उपर्युक्त ढंग से भारतीय इतिहास का पुनरुद्धार हुआ। ठीक इसी प्रकार दो अन्य भारतीय विचारधाराओं की खोज हुई। ये हैं बौद्धमत और पाली-साहित्य। एक सहस्राब्दी तक लोग बुद्ध को भूले रहे और स्वयं संस्कृत में जो बौद्ध साहित्य है उसकी भी उपेक्षा और अवहेलना कीजाती रही। हिंदुओं की दृष्टि में बुद्ध विष्णु भगवान् के एक छोटे अवतार थे। किंतु यूरोपीय विद्वानों की गवेषणाओं ने शाक्यमुनि को फिर अपने मूलदेश में स्थान दिलाया। भारतीय इतिहास से अशोक का नाम निकाल दिया जानपड़ता था; किंतु अब वह फिर सम्मानपूर्वक उसमें प्रविष्ट कियागया और आज तो उनका नाम भारत के किसी भी राजा की तुलना में भारतीय मानस में उच्चतर आसन पर विराजमान है। यह भारतीय अनुसंधानों का फल नहीं प्रत्युत यूरोपीय विद्वानों के प्रयास और काम का परिणाम है।

भारत में संस्कृत के फिर-से अध्ययन के आधुनिक रूप का अधिकांश श्रेय अंग्रेजी राज्य और उसके आश्रित विद्वानों को है। वाराणसी में क्वीन्स कालेज की स्थापना करके सरकार ने भारतीय युवकों को संस्कृत के क्रमबद्ध अध्ययन का अवसर दिया। यह उल्लेखनीय है कि इस समय यूरोपीन विद्वानों ने हिंदू धार्मिकग्रंथों के जो आलोचनात्मक अनुवाद किये उनके कारण भारत के इन महान धार्मिक ग्रंथों—वेद, उपनिषद्, तथा मनु और बौधायन के धर्म शास्त्रों—के अध्ययन का क्षेत्र बढ़गया।

'हिंदू स्टुअर्ट' ने मंदिरों से मूर्तियां चुरायी थीं और यही पहला यूरोपीय व्यक्ति था जो भारतीय मूर्तिकला का सौंदर्य परख सका था। जबतक भारतीय लोगों ने अपनी कलात्मक निधि का महत्त्व अनुभव किया उससे कहीं पहले यूरोपीय समालोचकों में उनके प्रति अभिरुचि प्रौढ़ होचुकी थी। इस सचाई पर पर्दा नहीं डाला जासकता कि इस देश के एक बड़े भाग में भारतीय लोगों का अनुराग अपनी संगीतकला और साहित्य तक ही सीमित रहगया था और वे अपनी संस्कृति की धरोहर सुरक्षित रखने में अक्षम थे। उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में एलौरा, अजंता, और महाबलीपुरम भारतीयों के लिए निरर्थक थे। एलीफेंटा की भव्य

मूर्तिकला, और उड़ीसा के मंदिर उनकी आंखों को चमत्कृत भले ही करते हों किंतु वे उनका महत्त्व कूतने में असमर्थ थे। वे नहीं समझते थे कि चोल की कांस्य मूर्तियां बोलती हैं। हमारे शिल्पकारों के कुशल हाथों ने अपनी परंपराओं को सुरक्षित रखा। किंतु अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की दुर्गति और उन्नीसवीं शताब्दी की अराष्ट्रीय प्रवृत्तियों ने कम-से-कम उत्तर के भारतीयों को अपनी ही विरासत से अपरिचित कर दिया। हेवेल और कुमारस्वामी जैसे कलाकोविदों की कृपा से हम में फिर हमारी विस्मृत कलात्मक भावना जागउठी। कुमारस्वामी एक आंग्ल-तमिल महानुभाव थे जिनका लालन-पालन इंग्लैंड में हुआ था। निःसंदेह ब्रिटेन ने भारत में अनेक उपयोगी काम किये और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाएगा हम उनकी कद्र करते जाएंगे। जिन महाराज्यपालों और राज्यपालों की मूर्तियां सार्वजनिक स्थलों पर खड़ी हमें अंग्रेजी प्रशासकों का स्मरण करवारही हैं और उनकी पत्नियों के नाम से पुकारीजानेवाली सार्वजनिक उपयोगी इमारतें उनके भारतीय संपर्क की कहानी कहरही हैं, जब वे विस्मृत के गर्त में डूब जाएंगी तब भी हमें फर्ग्यूसन, और हेवेल, हिंदू स्टुअर्ट और मार्शल के नाम याद आते रहेंगे।

गदर के बाद भारत में अंग्रेजी शासनकाल का जो सबसे बड़ा कारखाना था उसका उत्पादन यह था कि उसने इस देश में धड़ाधड़ देशद्रोहियों की संख्या बढ़ादी। तोपों की सलामी की एक तालिका बनायीगयी और गिब्बन के शब्दों में जिसे "आशाओं और सम्मानों का धूर्ततापूर्ण क्रम" कहते हैं वह अंग्रेजी नीति में बड़ी गहराई तक घुसआया। "उपाधियों का एक निःसार कोष" ढूंढने के लिए एड़ी-चोटी का पसीना बहाया गया और नमूने के तौर पर इस प्रकार की प्रशस्तियां गढ़ी गयीं--फरजंद-इ-खास-इ-दौलत-ए-इंगलिशिया, अर्थात् अंग्रेजी साम्राज्य के लाड़िले पूत, इंद्र-महेंद्र अर्थात् अधिपतियों के महाधिपति, सिपर-ए-सल्तनत अर्थात् साम्राज्य की ढाल, इत्यादि। उन दिनों लिटन ने बड़े तपाक के साथ लिखा था कि इन तरीकों से अपरिवर्तनवादी शिष्टजन अर्थात् जमींदार--राजा--नवाब वृंद साम्राज्य की मुट्ठी में आगया है। सचमुच ही बड़े-बड़े जमींदारों और राजाओं में उपाधि पाने की होड़-सी चलपड़ी थी और वे सम्राज्ञी की राजभक्त प्रजा बनने के लिए बड़े ही उत्सुक रहते थे। बड़े-बड़े राजालोग सम्राट से उपाधियां, पद और समलंकरण पाने के लिए अभ्यर्थना करते थे और जब उन्हें कोरा सम्मानसूचक पद प्रदान कर दियाजाता था तब वे उसे अपना अहोभाग्य समझते थे। मध्यवर्ग साम्राज्य को बोझा न समझकर अपने लिए अवसर का स्रोत मानता था, और रायसाहब तो अपने को नाइट ग्रांड कमांडर से कम नहीं समझते थे और अपने को साम्राज्य का एक स्तंभ मानते थे। किंतु अंग्रेजों की क्रमबद्ध नैतिक पतन करने की यह चाल भी सिर्फ थोड़े समय के लिए ही सफल होसकी। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक भारत में विशुद्ध उत्साह का संचार होने लगा और राष्ट्र अपनी आत्मा के फिर दर्शन करने लगा। अब हम यहां इतिहास के इसी अंग पर प्रकाश डालेंगे।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत के एक बड़े भाग में सभ्यता और सौजन्यता का अवसान देखने में आता है। तीस वर्षीय युद्ध के दौरान में जो परिस्थितियां जरमनी में पैदा होगयी थीं वैसी ही हालत बंगाल और गंगा की घाटी में देखने में आयी। पंजाब में सैनिक उथलपुथल और गड़बड़ी ने इस सोना उगलनेवाली भूमि को मरुस्थल जैसा बनादिया। केवल मराठों के अपने देश में, मैसूर में, और धुर दक्षिण में सामान्य भारतीय जीवन अक्षुण्ण था। राजस्थान, मैसूर, तंजौर और तिरुवांकुर जैसे प्रदेश एक ओर पड़ेहुए थे और लोग उनमें कला और विद्या का परिशीलन कररहे थे। वास्तव में, अठारहवीं शताब्दी के अंत में भारत के वे प्रदेश, जहां की जनसंख्या सघन थी और जहां परंपरागत सांस्कृतिक केंद्र स्थापित थे, औंधे मुंह पड़ेहुए थे और हांफरहे थे। धर्म का अधःपतन होरहा था और नैतिकता का दम टूटरहा था। भारत की आत्मा अगाध नैराश्य में डूबगयी थी।

नूतन शताब्दी में देश का पुनर्जन्म हुआ। बंगाल पर यूरोपीयों की विजय से हिंदूधर्म की स्थिति में एक आकस्मिक परिवर्तन होगया। मुस्लिम शासन में अधिक-से-अधिक यही देखने में आया कि हिंदूधर्म के प्रति सहिष्णुता बरत दीजाती थी। किंतु अब सत्ता के परिवर्तन के कारण हिंदूधर्म को स्वतंत्रता मिलगयी। तत्कालीन अंग्रेजों की दृष्टि में हिंदूधर्म और इस्लाम दोनों विधर्म थे। कंपनी को धर्म में कोई दिलचस्पी न थी। इसलिए पांच सौ वर्षों बाद पहली बार यह अवसर आया जबकि हिंदूधर्म अपने देश में दूसरे धर्मों के साथ समानता के स्तर पर खड़ा हो सका। पुराने मठों पर फिर सफेदी होने लगी। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में इस भारत के वक्षःस्थल पर उस मनीषी ने पदार्पण किया जिसे भारतीय पुनरुद्धार का जन्मदाता कहा जासकता है। यह राममोहन राय (१७७२-१८३३ ई.) थे जिनका जन्म बंगाल के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और जिन्होंने बंगाल के नवाबों की सेवा में रहकर ख्याति प्राप्त की थी। उनकी शिक्षा-दीक्षा इस प्रकार की हुई थी कि इससे उनका दृष्टिकोण उदार बनगया था। उन्हें संस्कृत, फारसी, अरबी और अंग्रेजी का ज्ञान था। उन्होंने कंपनी की सेवा स्वीकार करली और धीरे-धीरे वह एक ऊंचे पद पर पहुंचगये। किंतु राममोहन राय के हृदय में मानवता का स्रोत उमड़रहा था। उन्हें एक धार्मिक और सामाजिक सुधारक बनना था। उन्होंने कंपनी की सेवा को लात मार दी और अपने देश की जनताजनार्दन के सेवाक्षेत्र में कूद पड़े। यूरोपीय उदार दृष्टिकोण से अत्यधिक प्रभावित होकर राममोहन राय इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यदि देश की काया पर से नैराश्य की केंचुल उतार फेंकनी है तो हिंदूधर्म के सिद्धांतों में और हिंदुओं के सामाजिक लोकाचारों में मौलिक परिवर्तन करने की आवश्यकता है।

राममोहन राय की धार्मिक विचारधारा बहुत बुद्धिवादी, हिंदूधर्म की परंपरा से असंबद्ध और आधुनिक विचारों से इतनी अधिक ओतप्रोत थी कि जनता पर समष्टिरूप से उसका कोई बड़ा प्रभाव नहीं पड़ा। किंतु फिरभी इसने बंगाल के मध्यवर्गों को उस समय आध्यात्मिक आहार प्रस्तुत किया जब वे नैराश्य में डूब रहे थे और इस प्रकार हिंदूधर्म को एक भारी संकट से बचालिया। वह जिस सार्वभौम धर्म की स्थापना के लिए उत्सुक थे वह उनके मरणोपरांत न टिक सका क्योंकि अगली पीढ़ी में महर्षि देवेंद्रनाथ ठाकुर और केशवचंद्र सेन की प्रेरणा

से हिंदूधर्म ने फिर जोर मारा और ब्रह्मसमाज एक पृथक धार्मिक संप्रदाय होने की अपेक्षा एक सामाजिक प्रभाव के रूप में हमारे सामने आया।

धार्मिक सुधार में राममोहन राय ने जो योगदान किया उसको भारतवासी नहीं भूल सकते। किंतु भारत के इतिहास में उनका नाम अमर इसलिए रहेगा कि उन्होंने इस देश में उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण काम किया जो यह था कि उन्होंने धर्मनिरपेक्ष आंदोलन को जन्म दिया। वास्तव में, वह इस भारत देश के सर्वप्रथम आधुनिक पुरुष थे। उन्होंने दूषित सतीप्रथा के उत्सादन के लिए जो स्तुत्य कार्य किया था वह इस देश के इतिहास में सदा स्वर्णाक्षरों में लिखाजाएगा और भारत की संतानें उनकी चिर-ऋणाभारी रहेंगी। वह भारत में स्त्रियों की आवाज उठानेवाले प्रथम भारतीय थे और १८२२ ई. में उन्होंने स्त्रियों के प्राचीन अधिकारों का अतिक्रमण करनेवाले आधुनिक प्रयासों के बारे में जो संक्षिप्त उद्गार प्रकट किये थे वे नारियों को पुरुषों के साथ बराबरी का पद दिलाने के पक्ष में संयत और विवेकपूर्ण तर्कों के रूप में हमारे सामने आते हैं। उनकी यह पुस्तक बड़ी ही सारगर्भित है। उन्होंने हिंदूशास्त्र में सुधार के लिए आवाज उठायी, समाचारपत्रों पर से प्रतिबंध हटाने की मांग की, दमनकारी भूमि कानूनों के विरुद्ध सरकार को निवेदनपत्र भेजा, और एक लिखित ज्ञापन सम्मिलित प्रवर समिति के पास भेजकर इस बात को तर्कसंगत ठहराया कि सरकार में भारतीयों को अपना योगदान करने का अवसर दियाजाए। वह एक प्रकांड शिक्षाशास्त्री थे और यहां यह बताना अप्रासंगिक न होगा कि वह भारत में अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली के एक प्रबल समर्थक थे।

हिंदूधर्म के पुनरुद्धार का स्वाभाविक प्रवाह अधिक काल तक नहीं रुका रहा। सन् १८७५ ई. तक अंग्रेज सरकार कुछ-कुछ हिंदूपक्षपाती बनी रही और मुसलमानों को अपना असाध्य शत्रु मानती रही। एक महाराज्यपाल ने तो यहां तक गाल बजाया था कि मैंने गजनी को धूल में मिलाकर सोमनाथ को ध्वस्त करने का प्रतिशोध लिया है और मैं उस ऐतिहासिक मंदिर के फाटक वापस ले आया हूं। हिंदूधर्म के पुनरुद्धार के लक्षण दीखने लगे और जिस नयी शिक्षा द्वारा मेकौले ने यह आशा की थी कि इससे हिंदूधर्म का विनाश हो जाएगा उससे उल्टा उसका पुनरुत्थान आरंभ होगया। लेकिन ये प्रवृत्तियां तबतक हमारी आंखों के सामने नहीं आयीं जबतक गदर के प्रभाव दृष्टि से ओझल नहीं होगये। सन् १८५३ ई. में कार्ल मार्क्स ने अपनी विलक्षण बुद्धि का परिचय देते हुए लिखा था "हिंदुस्तान में जितने भी गृहयुद्ध, बाह्य आक्रमण, क्रांतियां और शत्रुओं की सफलताएं देखने में आयीं उनका प्रभाव उसके ऊपरी धरातल को भेदकर उसमें अपनी गहरी जड़ें धंसाने में समर्थ न होसका। किंतु इंग्लैंड ने भारतीय समाज का संपूर्ण ढांचा तोड़-मरोड़ डाला है और आश्चर्य यह कि उसके पुनर्निर्माण का कोई लक्षण अब तक दीखने में नहीं आरहा है। नयी दुनिया के मिले बिना पुरानी दुनिया का हाथ से खोजाना कितने दुर्भाग्य की बात है। हिंदुओं की वर्तमान दुर्गति का दर्दनाक दृश्य इससे मिलताजुलता है, क्योंकि जहां एक ओर उसके पुनर्निर्माण का कोई चिह्न नहीं मिलता वहां दूसरी ओर हिंदुस्तान पर ब्रिटेन के शासन ने उसे उसकी प्राचीन परंपरा और उसके समूचे अतीतकालिक इतिहास से भी पृथक कर दिया है।"

किंतु पुनरुत्थान की, अब, घड़ियां टलरही थीं। उसके आने में अधिक देरी न थी। इसी बीच भारत के यंत्र पर एक गुजराती सन्यासी—दयानंद सरस्वती—का आविर्भाव हुआ जिसने पहली बार अग्रधर्षणात्मक, परिष्कृत और सशक्त हिंदूधर्म का प्रचार किया। उनका आर्यसमाज स्पष्टरूप से वैदिक आधार पर हिंदूधर्म की पुनः-स्थापना करने का एक प्रयास था। इसमें वैदिक हिंदूधर्म की तथाकथित निष्कलंक शुचिता का आह्वान सन्निहित था। दयानंद के शास्त्रार्थों और उनकी विख्यात पुस्तक सत्यार्थप्रकाश ने उस जगह हिंदूधर्म में नवजीवन का संचार कर दिया जहां—पंजाब में—वह मृतप्राय होगया था। राष्ट्रवादिता के चरण में प्रवेश करने के लिए और ईसाईमत तथा इस्लाम से टक्कर लेने के लिए आर्यसमाज की उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। आर्यसमाज शुद्धि संस्कार का प्रबल संप्रदाय है और वह सामाजिक सेवा की पगडंडी का अविश्रांत पथिक है। उसने पंजाब में शिक्षा-प्रसार का स्तुत्य कार्य किया है। उत्तर में हिंदू-पुनरुत्थान के चरण में आर्यसमाज का नाम अमिट अक्षरों में लिखा जाएगा। किंतु उसके द्वारा पौराणिक कथाओं का विरोध, मूर्तिपूजा का खंडन, वेदों को छोड़कर अन्य हिंदू धार्मिकग्रंथों की अवहेलना ने इसे उन क्षेत्रों से निकाल बाहर किया जहां हिंदू संस्कृति की जड़ें गहरी धंसी हुई थीं। हिंदूधर्म का पुनरुत्थान तो हिंदू परंपरा के आधार पर होना था और इस आंदोलन के अग्रदूत स्वामी विवेकानंद थे।

विवेकानंद (१८६१-१९०२ ई.) एक युवक बंगाली स्नातक थे जो नयी रोशनी या नूतन विद्या में गोते लगा चुके थे और जिन्हें उन्हीं दिनों सौभाग्यवश एक परमतत्त्वदर्शी स्वामी रामकृष्ण परमहंस का शिष्य होने का गौरव प्राप्त हुआ था। अब परमहंसजी को उनके अनुयायी एक अवतार मानते हैं। विवेकानंद ने सन्यास ग्रहण किया और १८८६ ई. में अपने गुरुदेव के परलोकगमन करने पर घूमफिरकर भारत भर में वेदांत का संदेश फैलाना आरंभ किया। उनमें सबसे विलक्षण बात यह थी कि उनके हृदय में देशभक्ति की ज्वाला धधकरही थी और वह हिंदूधर्म और मातृभूमि के अतीत गौरव का पुनरुद्धार करने के लिए बेचैन थे। अमेरिका का परिभ्रमण करने से उनमें सामाजिक मूल्यों का एक नया भाव अंकुरित होगया और एक बार उन्होंने ओजस्वी वाणी में कहडाला—"मैं उस धर्म में विश्वास नहीं करता जो विधवाओं के आंसुओं को नहीं पोंछसकता, या जो अनाथ के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं डालसकता"। यह उद्गार उनके मुख से पश्चिम की स्थिति को अपनी आंखों से देखने के बाद प्रतिक्रिया के रूपमें निकला था। भारत लौटकर उन्होंने बिना हिचकिचाहट के उद्घोषणा की: "मेरे विचार से जनता की उपेक्षा करना महान राष्ट्रीय अपराध है और हमारे अधःपतन का एक यह भी कारण है।" अमेरिका में विवेकानंद ने जो सफलता प्राप्त की, उन्होंने हिंदू विचारधारा को जिस सशक्तरूप में उपस्थित किया और जो यह साहसपूर्ण घोषणा की कि वेदांत सबका धर्म है, उससे हिंदूओं में सामान्यतः अपने धर्म का अभिमान फिर अंकुरित होउठा। भारत में पहली बार लोगों ने अनुभव किया कि हिंदूधर्म के नाम पर सिर नीचा करने की आवश्यकता नहीं। इस भावना को पनपाने में ब्रह्मविद्यासमाज (थ्योसोफीकल सोसाइटी) ने सहयोग दिया जो कर्नल ओलकोट्ट और मेडम ब्लावत्स्की की देखरेख में यूरोपीय परिधान धारण करके हिंदू पुनरुत्थान का प्रचार करनेलगा

था। इस शताब्दी के अंत तक हिंदूधर्म अपनी निजी महानता और शक्तियों से सुपरिचित होने के बाद अपनी छाती तानकर संसार के सामने खड़ा होगया और यदि आवश्यकता पड़े तो प्रतिद्वंद्वी धर्मों के उपदेशों की चुनौती का जवाब देने के लिए तैयार था। भारतीय इतिहास के पुनरुद्धार ने हिंदू गौरव की भावना को भी जगाकर बलशाली बनादिया। यूरोपीय विद्वान धीरे धीरे धैर्यपूर्वक भारत की अतीतकालिक महानता की विलुप्त कहानी को खोजकर फिर लिखने लगे। चंद्रगुप्त और सिकंदर का लगभग समकालीन होना निश्चित होते ही भारतीय इतिहास की कहानी का पहिया एक बार लुढ़क उठा। फिर क्या था, अशोक के अभिलेखों के गूढ़ाक्षरों का अर्थ ढूंढ़ा गया जिसने हमारी ऐतिहासिक जिज्ञासा की दिशा में एक और रास्ता तय करदिया। धीरे-धीरे प्रसुप्त हिंदू एकबार जागपड़ा: उसने आंखें खोलकर देखा कि हमारी यह जाति विदेशियों की गुलामी करने के लिए पैदा नहीं हुई है, वरन मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में इसने महान सफलताएं पायी हैं जिन्होंने उसका शताब्दियों का इतिहास लिखा है और जिनसे उसका मुख निरंतर समुज्ज्वल बनारहेगा। जिन नामी राजाओं की स्मृतियां विस्मृति के गर्त में डूबचुकी थीं वे फिर एकाएक हमारे मानस–पटल पर अंकित होगयीं। बड़े-बड़े साम्राज्य बनाने, समुद्रों के उस पार तक भारतीय सभ्यता का प्रसार करने, स्थापत्यकला के अप्रतिम स्मारकों, आदि की कहानी ने भारतीयों के हृदय में वह राष्ट्रीय स्वाभिमान जगादिया जिसे वे शताब्दियों से भूलेपड़े थे।

सर विलियम जोंस के महत्त्वपूर्ण कार्य का सुखद परिणाम हमें भारत में दिखायी देने लगा। यूरोप में संस्कृत के अध्ययन ने हमारी आंखें खोल दीं कि उसमें हमारे पूर्वजों ने कितनी महान निधि हमारे लिए छोड़ी है। यह सुनने में भले ही विचित्र लगे, किंतु है सही कि मैक्समूलर, मोनिएर विलियम्स तथा अन्य लोगों की भारतीय संस्कृति की अभिरुचि ने भारत में प्राचीन साहित्य के आधुनिक अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। यूरोपीय विद्वानों ने अंग्रेजी में संस्कृत के जो अनुवाद छपवाये उनसे भारतीयों ने लाभ उठाया और मध्यवर्गीय ऊंचे विचारों के संपर्क में आगया। मैक्समूलर की प्रेरणा से पूर्व के जो धार्मिक ग्रंथ प्रकाशित हुए और पश्चिम में भारतीय दर्शन का जो अध्ययन आरंभ हुआ उसने यहां की उस राष्ट्रीय भावना को प्रोत्साहन दिया जो अब दिन-पर-दिन बढ़ती जारही थी।

अंग्रेजों के हाथ में भारत की राजनीतिक सत्ता के चलेजाने से यहां अनिवार्यतः कुछ सामाजिक परिवर्तन हुए जो उस समय तत्काल दृष्टिगत न होसके। भारतीय दफ्तरशाही वर्ग अर्थात् उत्तर के ब्राह्मणों, कायस्थों, खत्रियों तथा अन्य लोगों पर सदा ही सामंतवाद या योद्धावर्ग का प्रभाव छायारहता था। भारत में अंग्रेजी शक्ति के बढ़ने से सामंतवाद प्रभावशून्य होचला। विजित क्षेत्रों में राजाओं और महाराजाओं या नवाबों की कुछ भी शक्ति अवशिष्ट न रहगयी थी। भारत के योद्धावर्गों को अब भारतीय सेना में निचले पदों ही पर संतोष करना पड़ता था। इस कारण उनका महत्त्व भी घटगया था। अब सैनिक अधिकारियों के पदों पर जिन वर्गों के लोगों को भरती कियाजाता था उनका प्रभाव बढ़ना अनिवार्य था। पढ़ेलिखे लोगों के अन्य व्यवसायों में भी इन्हीं वर्गों को लोग प्रवेश करते थे। राममोहन राय स्वयं

इसी कोटि के एक परिवार में उत्पन्न हुए थे। जब अंग्रेजी भाषा का अधिक प्रचार होगया तब इस वर्ग और शेष वर्गों के बीच का अंतर विनष्ट होगया। उन्नीसवीं शताब्दी के नवम दशक में वकीलों (उमेशचंद्र बनर्जी, फीरोजशाह मेहता, आदि), अध्यापकों (सुरेंद्रनाथ, गोखले, तिलक, आदि), प्रशासकों (राजा माधवराव, रमेशचंद्र दत्त आदि) और पत्रकारों (जी० सुब्रामण्यम् अय्यर, मोतीलाल घोष, आदि) की आवाज सुनीजाती थी। इन्हीं वर्गों से उदार व्यवसायी और अधिकारी चुनकर भरती कियेजाते थे। सरकारी नौकरियों के अतिरिक्त, कानून, पत्रकारिता, अध्यापन और चिकित्सा के व्यवसायों में मार्ग खुलापड़ा था। इन मध्यवर्गों को अच्छी शिक्षा प्राप्त थी और देश की समुपस्थित आवश्यकताओं का ज्ञान था। वे आधुनिक भारत में एकता की भावना का महत्त्व खूब जानते थे। प्राचीन सामंतीय भावना अब भी टूटीफूटी हवेलियों में निवास करती और अपने को समाज में ऊंचा मानती थी, किंतु उसकी यह धारणा दंभमात्र थी और प्रतिदिन वह प्रभावशून्य होती जारही थी। यह सच है कि जब मध्यवर्गों में राष्ट्रीय भावना जागउठी तब अंग्रेजी सरकार ने यहां अभिजाततंत्र को उकसाने की नीति अपनायी जिसके परिणामस्वरूप वह धीरे-धीरे राजभक्त और अपरिवर्तनवादी तत्त्वों के साथ गठजोड़ करनेलगी। किंतु ये वर्ग इतने बिछड़गये थे और जनता में उनकी प्रतिष्ठा पहले ही से इतनी न्यून होगयी थी कि इस गठजोड़ से अंग्रेजों को हानि पहुंचने के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं हुआ।

इन मध्यवर्गों ने औद्योगिक क्षेत्र को छोड़कर नये भारत के संपूर्ण अंगों का निर्माण किया। इन्हीं वर्गों ने भारत के राष्ट्रीय आंदोलन का संगठन और संचालन किया। वे ही नूतन विद्या के समर्थक थे और जिस नये भारत का निर्माण होरहा था उसके अगुवा थे। जी० परमेश्वरन पिल्लई की रिप्रेजेंटेटिव इंडियन्स नामक पुस्तक में जो नाम शामिल हैं उनमें केवल एक व्यक्ति ही ऐसा है जो प्राचीन शासक वर्गों से संबंधित था। और शेष नामों में कुछ तो उन लोगों के हैं जो बड़े ही प्रतिभावान थे और मध्यवर्गों में उत्पन्न हुए थे। इनमें उद्भट प्रशासक, विद्वान, वकील, प्राध्यापक, और उद्योगपति हुए। यह नया समाज जनता में से प्रादुर्भूत हुआ था और वह अतीत काल के प्रशासक वर्गों की प्रेरणा का मुखापेक्षी नहीं था।

इन्हीं मध्यवर्गीय लोगों के प्रयास से कंपनी के शासनकाल ही में हमारे राजनीतिक जीवन का ढांचा बनने लगा, किंतु इसी बीच एकाएक गदर की चिनगारी फूट पड़ने के कारण यह काम अधर में लटका रहगया। पहले जो ब्रिटिश इंडिया सोसाइटी (कलकत्ता, १८४३ ई.) और ब्रिटिश इंडियन असोसिएशन (१८५१ ई.) नामक संस्थाएं संस्थापित हुई थीं उनका ध्येय भारतीय जनता के कष्टों का निवेदन करना और देश के राजनीतिक उत्थान का काम करना था। लेकिन गदर के दमन के लिए जो कार्रवाई कीगयी उसने गेहूं के साथ घुन को भी पीस डाला। उससे भारत भयभीत होगया और उसमें जबान हिलाने की ताकत नहीं रही। यहांतक कि एक पीढ़ी के लिए, भारतीय जनता का साहस बुरी तरह भंग होगया। किंतु हिंदूधर्म के जिस पुनरुत्थान का वर्णन हम पहले करचुके हैं उसकी झलकियां हमें १८७५ ई. तक विविध राजनीतिक धाराओं में दिखायी देने लगीं। उसी वर्ष कलकत्ता के इंडियन असोसिएशन का संगठन कियागया और इन्हीं दिनों पूना की सार्वजनिक सभा तथा

अन्य समकक्ष संगठन देश के बड़े-बड़े शहरों में स्थापित होगये। भारतीय समाचारपत्रों ने भी भारत की आवाज उठानी आरंभ करदी। उन्नीसवीं शताब्दी के नवम दशक के पूर्वार्द्ध में कम-से-कम यहां ४७८ समाचारपत्र थे जिनमें अधिकांश देसी भाषाओं में मुद्रित होते थे। इनमें अमृतबाजार पत्रिका, हिंदू और ट्रिब्यून के नाम गिनायेजासकते हैं। इसके अतिरिक्त बंगाली और इंडियन मिरर ने तो उन दिनों भारत के आत्मनिवेदन का बीड़ा उठालिया था।

देश के विभिन्न भागों में भारत की राजनीतिक उन्नति के लिए अनेक संस्थाएं स्थापित होचुकी थीं और वे अपने लक्ष्य को पूरा करने की दिशा में अहर्निश तत्पर थीं। अतएव उनका आपस में मिलकर एक देशव्यापी संगठन बनाना स्वाभाविक था। दिसंबर २८, १८८५ ई. को बंबई में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (इंडियन नेशनल कांग्रेस) की संस्थापना कीगयी। भारत के विभिन्न भागों से ७२ प्रतिनिधि इसमें भाग लेने पधारे थे। कलकत्ता के विख्यात वकील उमेशचंद्र बनर्जी की अध्यक्षता में इसकी बैठक हुई। यह उल्लेखनीय है कि जो लोग इस समय बंबई में इकट्ठे हुए थे और अगली बार कलकत्ता में इसकी बैठक में सम्मिलित हुए उनमें अधिकांश नयी रोशनी या नूतन विद्या और उन नये वर्गों के प्रतिनिधि थे जो इस देश में पनप उठे थे। वे पश्चिमी और उदार दृष्टिकोण के पृष्ठपोषक और ब्रिटेन की नीति के प्रशंसक थे। कांग्रेस के तीसरे अधिवेशन में इलाहाबाद के एक युवक स्नातक ने मंच पर पदार्पण किया जिसके गंभीर घोष को सुनकर पंडाल में उपस्थित श्रोतागण मंत्रमुग्ध होगया। वह स्वनामधन्य पं. मदनमोहन मालवीय थे जिनको देखकर जानपड़ता था कि स्वयं हिंदू आत्मा मूर्तिमान होकर सामने खड़ी हुई है। जो कुछ भी हो, यह कहाजासकता है कि प्रारंभिक कांग्रेसजनों का दृष्टिकोण उदार था और वे दृढ़तापूर्वक हिंदूविचारों के प्रतिनिधि नहीं थे। सुतरां, अगली पीढ़ी ने आकर इस आंदोलन में नयी रूह फूंक दी। हिंदू राष्ट्रवाद, विशेषकर बंगाल और महाराष्ट्र में निश्चय ही आगे बढ़कर सामने आने लगा और अपनी धार्मिक महानता के प्रति उनमें आदर की नयी भावना पैदा होगयी थी उसके कारण उनकी राष्ट्रीयता ने केवल अपेक्षाकृत अधिक उग्रतापूर्ण रूप ही धारण नहीं किया अपितु वह उदारवादी परिधि से अलग होकर भारतीय पुनरुत्थान की टेक पर अड़कर खड़ी होगयी। महाराष्ट्र सदा ही प्रबल हिंदू परंपरा का गढ़ बनारहा है। मराठों का दुर्दम्य साहस टूटा नहीं था। अवसर पाते ही वह एक बुद्धिमान और विचारशील मराठा नेता—महादेव गोविंद रानडे के स्फूर्तिदायी पथप्रदर्शन में फिर से हरा-भरा और सशक्त हो उठा। निदान, भाग्यवश इसे एक अधिक बलिष्ठ और मेधावान नेता, बाल गंगाधर तिलक के रूप में, मिलगया जो एक अविचल सनातनी हिंदू थे। वह संस्कृत के पारंगत विद्वान और उच्चकोटि के दार्शनिक थे जिन्होंने गीता का एक नया भाष्य लिखा। जितना प्रखर उनका पांडित्य था उतनी ही उत्कृष्ट राजनीति भी थी। उनके रूप में भारत को एक प्रकांड राजनीतिज्ञ उपलब्ध हुआ था। वह भारत के राजनीतिक अखाड़े के एक सर्वोपरि नेता और संगठनकर्ता थे तथा यह भी खूब जानते थे कि राजनीतिक क्षेत्र में उन्हें क्या करना चाहिए। उनकी उद्घोषणा थी कि 'स्वतंत्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' तीन सौ वर्ष पहले शिवाजी का जो स्वप्न था, उसी तरह वह भी हिंदूधर्म के आधार

पर राष्ट्रीय पुनरुत्थान के भवन की रचना करना चाहते थे। उन्होंने दयानिधि विघ्नराट् गणपति की देशव्यापी पूजा का फिरसे प्रचलन किया। उन्होंने इस संबंध में एक संप्रदाय का संगठन किया जो वस्तुतः यत्किंचित् एक छिपा हुआ राजनीतिक आंदोलन था। शिवाजी-आंदोलन का भी यही ध्येय था। किंतु तिलक इससे भी एक पग आगे निकल गये। उन्होंने परंपरागत ढंग से गीता का भाष्य लिखकर हिंदू राष्ट्रीयवाद को एक दार्शनिक पृष्ठभूमि पर लाकर खड़ा कर दिया। हिंदू राष्ट्रीयतावाद की दृष्टि से उनका यह गीतारहस्य जो उन्होंने अपने जेल-के जीवन में लिखा था, अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। गीतारहस्य में कर्मयोग का डंका बजरहा है। कर्म जीवन की ज्योति है और कर्मयोगी का ध्येय जीवनक्षेत्र से पलायन करना नहीं अपितु कर्तव्यपालन करना है। गीता में जो प्रवचन महाभारत के प्रसंग में लिखागया है वही भारतीय राजनीति के प्रसंग में उसी तरह लागू होता है—यह प्रवचनांश है: "तस्मात् उत्तिष्ठ कौंतेय, युद्धाय कृतनिश्चयः—इसलिए, हे कुंतीपुत्र! उठो और युद्ध करो।" तिलक ने अपने आंदोलनकारी ढंग से यह दर्शन भारतीयों के मानस में बैठादिया। इस प्रकार कांग्रेस का द्वितीय चरण अर्थात् राष्ट्रवादी आंदोलन स्पष्टरूप से हिंदुत्व और पुनरुत्थान की भावना से उत्प्रेरित था। एक ओर तिलक, लाजपतराय और मोतीलाल घोष को अपने सनातनपंथ का अभिमान था और दूसरी ओर अरविंद घोष के नेतृत्व में युवक और अपेक्षाकृत व्यापक परिवर्तनवादी दल ने राजनीति में धार्मिक रहस्यवाद की विकट पुट लगादी थी। वास्तव में बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में राष्ट्रीयतावाद के उग्र विचारों में और अधिक स्पष्ट हिंदुत्व का रूप फूटा पड़रहा था। आतंकवादी दल ने महाकाली के सामने शपथ ली; और वीराष्टमी के उत्सव ने यह प्रकट करदिया कि भवानी की उपासना के संप्रदाय और सशस्त्र क्रांति पर आधारित नये राष्ट्रीयवाद में कितना घनिष्ठ संबंध है। यह उल्लेखनीय तथ्य है कि अप्रधर्षणात्मक युद्धकाल में भारत में जिस देवता की पूजा सर्वदा की जातीरही है वह विजय-वैजयंती देनेवाली भगवती भवानी हैं। कहते हैं कि केवल शिवाजी ही को नहीं अपितु गुरु गोविंदसिंह को भी रिपुदलसंहारिणी भवानी से आशीर्वाद और एक दिव्य खड्ग प्राप्त हुई थी। ग्रंथसाहब में दानवीय बाधा का विनाश करने के लिए देवी के युद्ध का मुख्यरूप से वर्णन है। इस पृष्ठभूमि के लेकर बंगाल में तेजी से गुप्त संगठन फैलगये और बम फेंकने की दुर्घटनाओं की लपेट में महाराष्ट्र और पंजाब भी आगया। तब कांग्रेस के इस आंदोलन की पीठ पर मध्यवर्गों का हाथ था और यहां अनजान में हिंदुत्व की भावना काम कररही थी। उस समय कांग्रेस को इस प्रकार का आंदोलन चलाने के दांव-पेंच मालूम नहीं थे। महाराज्यपाल लार्ड कर्जन के शासनकाल के बाद जो समय आया उसमें कांग्रेस के सामने ऐसे-ऐसे खतरे पैदा हुए जिनसे जानपड़ता था कि अब भारतीय राजनीति में कांग्रेस के पांव एक प्रबल शक्ति के रूप में अधिक दिनों तक नहीं टिक सकते।

कांग्रेस की अकाल मृत्यु की भविष्यवाणियां प्रायः की जातीरही थीं। सन् १९०० ई. में लार्ड कर्जन ने व्हाइटहाल को जो अपना प्रतिवेदन भेजा था उसमें लिखा था, "कांग्रेस के पांव लड़खड़ा उठे हैं और वह अपनी आखिरी सांस लेरही है। जबतक मैं भारत में हूं मेरी

यही प्रबल आकांक्षा है कि मैं उसे शांतिपूर्वक परलोक सिधारने में मदद दूं।" कुछ अन्य महाराज्यपालों का भी यही दृढ़ विचार था कि कांग्रेस के दिन पूरे होचुके हैं और उसका विघटन सन्निकट है। किंतु इस शताब्दि के प्रारंभ में यदि कांग्रेस नष्ट-भ्रष्ट नहीं हुई तो इसकी जिम्मेवारी बहुत दूर तक स्वयं लार्ड कर्जन के कंधों पर आती है। लार्ड कर्जन ने प्रशासनिक और राजनीतिक दृष्टि से बंगाल का विभाजन करदिया जिसके परिणामस्वरूप अनेक झगड़े उठखड़े हुए और बंगाल को वह आंदोलन चलाने का अवसर मिलगया जिसे देखकर लोग दांत तले अंगुली दबा उठे। इस आंदोलन के कारण देश के राष्ट्रीय विचारवाले विभिन्न भाग मिलकर एक होगये और उन्होंने बायकाट (बहिष्कार), स्वदेशी और स्वराज्य के हथियार धारण करलिये। स्वराज्य अर्थात् स्वतंत्रता पाने के लिये सबसे पहला हथियार यह उठायागया कि अंग्रेजी माल के बायकाट का एक नया ढंग अख्तियार कियागया जिसके कारण १९०६ के आंदोलन ने क्रांतिकारी रूप धारण करलिया। यह पहला अवसर था जबकि सकल राष्ट्रवादी शक्तियां मिलकर एक होगयीं और इसी समय तुशीमा के युद्ध में रूसियों की जो पराजय हुई उससे प्रोत्साहित होकर वे एक नये स्वतंत्र एशिया का स्वप्न देखने लगीं। रूसी साम्राज्यवाद पर जापानियों की विजय ने लोगों पर वह मनोवैज्ञानिक जादू डाला जिसका यहां शब्दों में उल्लेख करना कोई सरल काम नहीं। राष्ट्रीयतावाद और हिंदू पुनरुत्थान की भावना एकबार विजयश्री पाकर प्रफुल्लित होरही थी और इसी बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में जनता के मन में बड़ी-बड़ी उमंगे नीड बनाने लगी थीं।

इन्हीं दिनों १९१४-१८ का महासमर छिड़गया। इससे यद्यपि राष्ट्रीय आंदोलन की प्रगति को धक्का पहुंचा फिरभी राष्ट्रीय भावना अधिक उद्वेलित हो उठी। उस समय जिस कांग्रेस का अभ्युत्थान हुआ वह महात्मा गांधी के क्रांतिकारी नेतृत्व में मजबूती से आगे बढ़रही थी। अब यह कोरा मध्यवर्गीय आंदोलन नहीं रहगया था। कांग्रेस ने जनता-जनार्दन का द्वार खटखटाया। अब उसकी गहरी नींद टूटचुकी थी। वह समय के साथ उठखड़ी हुई और उसने यह साम्राज्यवाद के साथ किसीप्रकार का सौदा न करने तथा देशव्यापी असहयोग आंदोलन छेड़देने के कार्यक्रम प्रस्तुत किये। इससे कांग्रेस में अब पहली बार इतनी शक्ति आयी कि वह भारत की जनता की ओर से प्रभावशाली शब्दों में बोलने का दावा करसकती थी।

इस अवधि में कांग्रेस को मुस्लिम लीग का जो सहयोग प्राप्त था और खिलाफत आंदोलन का जो दृश्य हमारी आंखों के सामने आया उससे हमें यह न भूलना चाहिए कि कांग्रेस की शक्ति का प्रधान स्रोत हिंदू पुनरुत्थान और हिंदू जनता पर आधारित एक सुदृढ़ राष्ट्रीयतावाद था। स्वयं महात्मा गांधी के व्यक्तित्व में हिंदू भावना की कुछेक झलकियां मिलती हैं। उनके अपने गीताभाष्य से स्पष्ट है कि उनकी प्रेरणा का मूलस्रोत कहां था। यद्यपि वह गूढ़ दार्शनिक पचड़े में नहीं पड़ना चाहते थे और धार्मिक लोकाचारों, शास्त्रीय पद्धतियों तथा उपासना-विधियों की उलझनों में उनकी अभिरुचि न थी फिर भी निःसंकोचरूप से वह जनता के धार्मिक नेता थे और देशवासियों ने मुक्तकंठ से उनको महात्मा स्वीकार करलिया था। महात्मा के नाते उनके व्यक्तित्व से केवल दिव्यता ही नहीं झलकती थी अपितु उनका जीवन

एक कर्मयोगी की भांति जनता को कर्तव्य-पथ पर आगे बढ़ने के लिए निरंतर उत्प्रेरित कररहा था। यद्यपि भारत के भविष्य के बारे में कांग्रेस का राजनीतिक उद्देश और सामान्य दृष्टिकोण विशुद्ध असांप्रदायिक था, फिरभी गांधीजी के नेतृत्व में, एक दूसरे ढंग ही से सही, कांग्रेस ने विदेशी पराधीनता के विरुद्ध समग्ररूप से हिंदुत्व की ओर से प्रतिरोध का प्रतिनिधित्व किया।

जब अमृतसर के नरमेध के बाद महात्मा गांधी ने कांग्रेस की बागडोर संभाली तभी यह समझना चाहिए कि भारत ने अंग्रेजों की गुलामी की बेड़ियां तोड़ने के लिए कृतनिश्चय होकर अंग्रेजी शक्ति से लोहा लेना आरंभ किया। यह समय दृढ़तापूर्वक संघर्ष करने का समय था। इस अवधि में कैसी कैसी रोमांचकारी घटनाएं संघटित हुई और कितने वीरतापूर्ण बलिदान तथा त्याग कियेगये, उनकी गिनती कराना यहां संभव नहीं। सत्ताईस वर्षों के अनवरत संघर्ष के बाद, ब्रिटेन ने घुटने टेक दिये और भारत को पूर्ण स्वतंत्रता देने का सिद्धांत स्वीकार करलिया। तदनुसार १५ अगस्त १९४७ में देश को स्वतंत्रता फिर मिलगयी और उसने अंतराष्ट्रीय जगत के मंच पर एक स्वाधीन राज्य की हैसियत से पदार्पण किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत के आर्थिक पुनरुत्थान की कहानी भी देश के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय बनगयी है। डाकू राज्य (१७५७–१७७३ ई.) में भारत के अंग्रेजी प्रांतों का धन पानी की तरह बहकर समुद्रपार चलागया और उनका पेटा होगया। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भारत पर अंग्रेजी राज्य की सीमाएं बढ़ती गयीं और उसमें नये-नये प्रदेश सम्मिलित कर लियेगये, जिससे दरिद्रनारायण का प्रभावक्षेत्र दिन-पर-दिन बढ़ता गया और वह दिन भी आपहुंचा जब भारतभर में पेट-पीठ-मिले लोग दृष्टिगत होनेलगे। मुनरो और एल्फिस्टन जैसे अंग्रेज प्रशासकों की लेखनी से ज्ञात होता है कि जो प्रदेश टीपू और मराठों के देसी शासन के अंतर्गत थे वे कंपनी के शासित प्रदेशों से कहीं अधिक खुशहाल और समृद्धिशील दिखायी देते थे। अनेक यूरोपीय प्रशासकों ने अपनी आंसू-भरी आंखों से देखा था कि जो गांव अंग्रेजी साम्राज्य में आगये थे उनकी, थोड़े ही दिनों में, कैसी अवस्था होगयी थी। लार्ड विलियम बैंटिंक ने १८२९ ई. में अपने सुप्रसिद्ध विवरणपत्र में लिखा था कि "भारत में व्यापारिक क्रांति का भीषण दुष्प्रभाव पड़ा है" जिससे देश में चारों ओर गरीबी छागयी है, "और उससे अनेक वर्गों के कष्ट बढ़गये हैं जो हमारी आंखों के सामने हैं और ऐसा उदाहरण व्यापारिक इतिहास में कहीं ढूंढने से भी न मिलेगा"। रमेशदत्त की पुस्तकों 'इकॉनोमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया अंडर अर्ली ब्रिटिश रूल' तथा 'इंडिया इन दी विक्टोरियन एज' में भारतीय किसानों, शिल्पकारों और साधारण वर्गों की दुर्दशा की क्रमबद्ध कहानी पढ़ी जासकती है।

भारत सदा ही एक विशाल औद्योगिक देश बनारहा है। इतिहास इस बात का साथी है। उन्नीसवीं शताब्दी से पहले उसके कपड़े की संसार भर में धूम मची रहती थी। उसका लौह और इस्पात का उत्पादन उल्लेखनीय था। उनके पच्छिमी तट को बंदरगाहों में जहाजों का निर्माण खूब होता था। सन् १८४० ई. में मोंटगमरी मार्टिन ने एक संसदीय जांच के सामने

प्रमाणित किया था कि भारत जितना खेतिहर उतना ही औद्योगिक देश भी था। लेकिन भारत और शेष औद्योगिक संसार के बीच एक उत्तरोत्तर बढ़नेवाली खाई पैदा होगयी। भारतीय प्राविधिक ज्ञान १७७० और १८६० ई. की महत्त्वपूर्ण अवधि में पिछड़गया। जब यूरोपीय, विशेषकर ब्रिटेन के लोग प्राविधिक ज्ञान में दिन दूनी, रात चौगुनी उन्नति कररहे थे तब भारत पराधीनता की क्लोरोफार्म से बेहोश पड़ा था और उसकी औद्योगिक गतिविधि की गांठ पतनोन्मुख ग्राम्य प्रणाली से बंधीहुई थी। याद रहे कि अतीत कालीन भारतीय उद्योग शिल्पकारों पर अवलंबित थे। शिल्पकारों को फौलादी वर्णव्यवस्था ने एक दायरे के भीतर जकड़रखा था। इस प्रकार शिल्पकारों के संगठनों में हेरफेर करना और उनको आधुनिक परिस्थितियों के अनुकूल बनाना असंभव होगया था। इसका फल यह हुआ कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था असंतुलित होगयी और देश तेजी से गरीबी के जबड़ों में जाफंसा। यहां जो आर्थिक अस्तव्यस्तता छागयी उससे लाभ उठाने से अंग्रेज भला कब चूकनेवाले थे? फिर क्या था, उन्नीसवीं शताब्दी में उधर अंग्रेजों का व्यापार दिन-पर-दिन बढ़ने लगा और इधर उसे भारत में एक सुरक्षित बाजार मिलगया—अब उसके दोनों हाथों में लड्डू थे।

भारत का आर्थिक पुनरुत्थान धीमी गति से हुआ। इस देश की कुछ जातियां, विशेषतः पारसी, कंपनी की सरकार का अंत होने से पहले ही भारत के विदेशी व्यापार में हाथ बटाने लगी थीं। अमेरिका में गृहयुद्ध छिड़ने के कारण भारत के कपड़ा उद्योग को यूरोपीय ढांचा स्वीकार करने के लिए प्रोत्साहन मिला और भारत ने धीरे धीरे सूती मिल बनाने आरंभ कर-दिये जिसके कारण आज वह कपड़ा के उत्पादन की वर्तमान सुदृढ़ स्थिति में आगया है। इसके बाद में अन्य उद्योगों का सूत्रपात हुआ जिनमें इस्पात और लोहा, सीमेंट, चीनी, आदि उद्योगों के क्रमशः नाम गिनाये जासकते हैं। यद्यपि प्रारंभ में भारतीय पूंजी के आगे आने में हिचकिचाहट-सी नजर आतीरही, किंतु बाद में औद्योगिक कारखानों में यह पूंजी धड़ाधड़ लगने लगी। एशिया के अंग्रेजी उपनिवेशों, विशेषतः बर्मा और मलाया में तथा अफरीका प्रदेशों में भारतीय पूंजी की खपत होने लगी और एक बार भारतीय व्यापारिक फर्म फिर उन प्रदेशों में खुलने लगे जहां कुछ शताब्दियों पहले हाथ फैलाकर भारतीय व्यापारियों के साहस और सद्भावना का स्वागत कियाजाता था।

राजनीतिक और आर्थिक पुनरुत्थान के साथ ही भारत का जो मानसिक पुनरुत्थान हुआ उसमें देसी भाषाओं की दर्शनीय उन्नति हुई। विश्वविद्यालयों में जो नयी शिक्षा दीगयी उसके कारण देसी भाषाओं का प्रचार होना स्वाभाविक था। भारत में अंग्रेजी शिक्षा के सूत्रपात से पहले कुछ देसी भाषाओं—विशेषतः तमिल और हिंदी—में सचमुच उच्च कोटि का साहित्य था। किंतु उनका इतना विकास फिरभी नहीं हुआ था कि उनमें आधुनिक विचारों की अभिव्यक्ति की जासके। नयी शिक्षाप्रणाली के अंतर्गत निचली कक्षाओं के लिए उपयुक्त पाठ्यपुस्तकों की जरूरत थी। इन पाठ्यपुस्तकों को विभिन्न देसी भाषाओं में विद्यालयों के लिए लिखाजाने लगा और इस प्रकार सामान्यतः देसी भाषाओं की साहित्य-सृष्टि होने लगी। पुरानी मदिरा को नयी बोतलों में निरंतर भरने के कारण इस

देश में एक ऐसे धर्मनिरपेक्ष साहित्य की रचना हुई जो अब तक यहां देखने में नहीं आया था। उसका जनसाधारण के अभिमत पर परिवर्तनकारी प्रभाव पड़ा। यह साहित्य देशभक्ति से ओतप्रोत था, और बंकिमबाबू के उपन्यासों और द्विजेंद्रलाल के नाटकों को भारत के इतिहास से प्रेरणा मिली। भारती और ठाकुर के गीतों में राष्ट्रीयतावाद कूट कूट कर भरा हुआ था। इकबाल की प्रारंभिक कविताओं में भी इसी का रसास्वादन किया जासकता है। बंगाली भंडार शीघ्र ही एक महान आधुनिक साहित्य से भरपूर होगया। उसमें जीवन की विशद व्याख्या और विविध साहित्यिक धाराओं के दर्शन होनेलगे और यहांतक कि उसने एक जगद्विख्यात साहित्यकार को जन्म दिया। यहां इस्लाम की नींव दृढ़ करने में उर्दू ने क्या पार्ट अदा किया उसका वर्णन अलग कियाजाएगा, किंतु हिंदी, गुजराती और मराठी तथा दक्षिण की द्राविड़ भाषाओं---तेलगु, तमिल, मलयालम और कन्नड़---का बराबर विकास होता आरहा है। निदान, यहां यह बताना होगा कि इन विभिन्न भाषाओं के विकास से भारत में भाषाई जातियों का संगठन होगया; उनके कारण वे अपनी-अपनी डफली और अपना-अपना राग अलापने में यहांतक आगे बढ़गयीं कि इससे उनमें फूट डालनेवाली प्रवृत्तियों ने घर करलिया। अपनी भाषा के नाम पर ऐंठकर कुछ जातियों, जैसे गुजरातियों, मराठों और कन्नड़ों ने अपने को एक दूसरे से इतना विलग मानना आरंभ किया जितना पहले कभी देखने-सुनने में नहीं आया था।

भारतीयता की भावना की अभिवृद्धि में विज्ञान ने भी उल्लेखनीय सहायता दी। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत ने संसार के ज्ञान-भंडार में कोई महत्त्वपूर्ण संवृद्धि नहीं की। किंतु फिरभी देश-देशांतरों में लोग अनुभव करउठे कि वैज्ञानिक क्षेत्रों में भी भारत को आगे बढ़ने का अवसर है और उसमें आवश्यक क्षमता भी है। गणितशास्त्र में जो अनुसंधान रामानुजम् ने किया वह वैज्ञानिक क्षेत्र में अंतर्राष्ट्रीय जगत को नये भारत की सर्वप्रथम देन थी। इसके बाद भौतिकी, रसायन और अन्य विज्ञानों में भारतीय अनुसंधानकर्ताओं ने जो काम करदिखाये उनसे संसार में भारत ने अपने लिए नाम पैदाकर लिया। इससे यह भी स्पष्ट हो गाय कि भारतीय जनता का बौद्धिक स्तर कितना ऊंचा है और भारत किसी देश से इस क्षेत्र में भी पिछड़ा नहीं रहसकता।

अध्याय २२

इस्लाम का संगठन

उन्नीसवीं शताब्दी से पहले भारत में इस्लाम का कोई अलग संगठन नहीं था। विभिन्न मतों के अनुयायी होते हुए भी हिंदू और मुसलमान दोनों आपस में मिलकर रहते थे। पहले भारत में राजनीतिक शक्ति इस्लाम के हाथ में होने के कारण उसकी सुरक्षा का प्रश्न ही नहीं उठता था और इससे मुसलमानों ने अपनी जमात (संगठन) अलग बनाने की बात कभी नहीं सोची। मुस्लिम अधिकारी खुशी से हिंदू राजाओं के यहां नौकरी करते थे। जब पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों की अफगानों से मुठभेड़ हुई तब हिंदू सेना में अनेक मुस्लिम सैनिक और और कप्तान थे जिनमें इब्राहीम गरदी के तोपचियों ने अफगानी फौजों को अपनी गोलाबारी से भूनकर सबसे अधिक क्षति पहुंचायी थी। सन् १७५८ ई. में लाहौर में मराठों का राज्यपाल अदनम बेग था। इसी प्रकार बाबर ने भारत पर आक्रमण किया था तब आक्रमणकारी का प्रतिरोध करने के लिए अफगानों ने हिंदुओं के साथ गठजोड़ करलिया था। लेकिन उन्नीसवीं शताब्दी में स्थिति ने एकदम करवट बदली जिसके आगे मुसलमानों ने अपने को निःसहाय अनुभव किया। उन्होंने देखा कि इस देश में उनके हाथ से सब प्रकार की शक्ति और सत्ता निकलचुकी है। उनका पतन इतनी तेजी से हुआ था और वह इतना स्पष्ट दिखायी देता था कि उसकी ओर से कोई आंख नहीं मींच सकता था। इस्लाम के मुल्ला भारत में इस्लाम के नष्टप्राय ऐश्वर्य की याद में आंसू बहारहे थे। वे दुनिया से बेजार होरहे थे। इस निराशा ने उनके बीच मुहम्मदशाह बलीउल्लाह (दिल्ली) जैसा धार्मिक नेता उत्पन्न किया। उसके एक शागिर्द अहमदशाह (रायबरेली) ने वहाबी संप्रदाय की स्थापना की जिसका उद्देश्य इस्लाम में विशुद्धता लाना और इस्लाम से दुर्बलताओं को निकाल बाहर करना था। यद्यपि वहाबी आंदोलन की पृष्ठभूमि आमूल परिवर्तनवादी थी फिरभी वह एक धार्मिक पुनरुत्थान का निमित्त बनकर रहगया। किंतु यह किसी प्रकार से हिंदू-विरोधी नहीं था। उसकी शत्रुता तो अंग्रेजी सत्ता से थी जिसने कठोर हाथों से उसका दमन किया था।

मुस्लिम नैराश्य का घोर अंधकारमय समय १८३३-१८६४ ई. का था। मेकौले की नयी विधिसंहिता ने उस मुस्लिम फौजदारी कानून का स्थान ग्रहण करलिया था जो कई शताब्दियों तक उत्तर भारत में लागू बनारहा था। मुस्लिम दीवानी कानून भी अछूता नहीं बचसका क्योंकि एक आंग्ल-मुस्लिम कानून की रचना होरही थी जिसने शरीअत में संशोधन करदिया। काजी के हाथ से न्यायांग छिनजाने के कारण दुनिया ने जानलिया कि भारत में अब अंग्रेजी विधि-विधान को सर्वोपरि सत्ता प्राप्त होगयी है। प्रशासन के क्षेत्र में भी इस्लाम की

छाती में उस समय एक भीषण घूंसा लगा जबकि फारसी को अदालती भाषा के आसन से अपदस्थ कर दियागया। राजनीतिक दृष्टि से दिल्ली की सल्तनत लगभग धूल में मिलगयी थी और उत्तर भारत में यदि कहीं भी मुस्लिम सत्ता का कोई प्रतीक अवशिष्ट था तो वह अवध की नवाबी थी जो स्वयं अपने विघटन की अंतिम घड़ियां गिनरही थी। इसके अंग्रेजी साम्राज्य में मिलाने का परिणाम यह हुआ कि उत्तर भारत से इस्लाम की राजनीतिक सत्ता का नामनिशान मिटगया और उसकी याद से मुस्लिम मानस निराशा में डूब जाता था।

यही समय था जबकि मुस्लिमों को भारत में अंग्रेजी सत्ता का शत्रु मानाजाता था। लार्ड एलिनबरा ने एक सरकारी परिपत्र में लंदन को लिखा था—"(मुस्लिमों की) जाति हमसे मूलतः शत्रुता रखती है और हमारी वास्तविक नीति हिंदुओं को मनालेने की है।" राज्यापहृत नवाबों का असंतोष, राजनीतिक प्रभाव से वंचित मौलवियों का क्षोभ और अंग्रेजी राज में इस्लाम की दुर्गति पर मुस्लिमों का रोष उत्तर भारत में अनवरत उपद्रवों का कारण बनगया। गदर का दोष भी मुस्लिमों के सिर मढ़ागया क्योंकि मौलवियों ने विप्लव के पक्ष में फतवा दिया था और इसके अतिरिक्त बहादुरशाह को सम्राट घोषित कियागया था। अनेक जगह मुस्लिम शत्रुता प्रत्यक्ष देखीजाती थी। सन् १८६४ ई. तक भारत में अंग्रेजी सत्ता मुस्लिमों के बारे में यह मानती रही कि उनसे मिलकर नहीं रहा जासकता और इसी भावना से अंग्रेजी नीति अनुप्राणित होती रही।

वास्तव में, यह स्थिति किसी भी देशभक्त मुस्लिम के लिए निराशाजन्य थी। जिन वर्गों—नवाबों और मुल्लाओं—का इस्लाम अपने नेतृत्व के लिए मुंह ताकता था, वे पूर्णतः शक्तिहीन होगये थे। यहां मुस्लिम जाति की आर्थिक दशा दिन पर-दिन बिगड़ती जारही थी। यूं तो कोरी जाति के नाते मुसलमानों की आर्थिक दशा कभी दृढ़ धरातल पर व्यवस्थित और मजबूत नहीं रही। यहां उसे जो राजनीतिक शक्ति प्राप्त थी उसी कारण उसकी आर्थिक दशा भी संभली हुई थी और जब वह उसके हाथ से चलीगयी तब वह आर्थिक दुर्दशा के गहरे गड्ढे में जागिरी। सरकारी प्राधिकारी यद्यपि मुसलमानों के प्रति खुली शत्रुता नहीं निभाते थे फिरभी वे उनको संदेह की निगाह से देखते थे। उनको किसी तरह की तरजीह मिलना कठिन थी क्योंकि वे नूतन विद्या उपार्जन करने के क्षेत्र में नहीं उतरे थे। दूसरे शब्दों में, अंग्रेजी ने फारसी का स्थान ग्रहण करलिया था और मुसलमानों ने अंग्रेजी शिक्षा की ओर ध्यान नहीं दिया था। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि उनके लिए किसी भी प्रकार की रियायत का द्वार बंद होगया था। सबसे बड़ी बात यह थी कि वे देश में अल्पसंख्यक थे और यदि वे स्थिति को समय रहते भलीभांति आंख खोलकर ठीक ढंग से पहचानने या अपना ह्रास रोकने में सक्षम न थे तो सचमुच उनके सामने सर्वनाश का संकट मुंह फैलाये खड़ा था। इसके विपरीत हिंदू आगे बढ़रहे थे। हिंदू व्यापारियों ने कंपनी से जो गठजोड़ किया था उसीके कारण बंगाल अंग्रेजों के हाथ में चलागया था। हिंदुओं और कंपनी का यह संपर्क अब भी जारी था क्योंकि अभी तक अंग्रेजों को हिंदुओं की नीयत पर अविश्वास नहीं हुआ था। अब अन्य धर्मों के साथ समान अवसर पाने के कारण, हिंदूधर्म में महान पुनरुत्थान के लक्षण प्रकट होने लगे थे।

अब या तो इस्लाम को किसी नयी नीति का सहारा पकड़ना था या उसको विनाश के गर्त में चलाजाना था।

जब इस्लाम इस सघन अंधकार में भटकरहा था तब उसे सौभाग्यवश सय्यद अहमद नामक मुगल दरबार के एक अमीर का नेतृत्व मिला। सय्यद अहमद के पिता को मुगल-सम्राट के यहां कोरे नाम का एक उच्च पद प्राप्त था। यद्यपि सय्यद अहमद को भी अपने पिता की इसी उपाधि और पद का लालच दियागया था, फिरभी उन्होंने इसकी अपेक्षा कंपनी के अंतर्गत एक न्यायांगीय पद पर सेवा करना बेहतर समझा। गदर के जमाने में उन्होंने अंग्रेजों की उल्लेखनीय सेवा की। जब यहां इस्लाम का अधःपतन बड़ी तेजी से होरहा था तब उन्होंने उन अपेक्षाकृत नरम तत्त्वों का नेतृत्व ग्रहण किया जो इस मत के समर्थक थे कि भारत में अंग्रेजी सत्ता का सहयोग करके ही मुसलमानों के भविष्य की रक्षा की जासकती है। उनका कहना था कि मुसलमानों का एक जाति के रूप में संगठन कियाजाए और इस अवधि में इसके निमित्त अंग्रेजों से सहयोग रखाजाए ताकि वे उनकी मदद से अपनी खोयीहुई प्रतिष्ठा फिर पासकें। साथ ही उन्हें अंग्रेजी शिक्षा की ओर भी मुड़ना चाहिए। सय्यद अहमद के क्रियाकलाप को देखकर उनके बारे में यह कहना कि वह देशभक्त नहीं थे, बिल्कुल गलत है। इससे भी अधिक अन्यायपूर्ण बात यह होगी यदि उनके रुख को हिंदू-विरोधी बताया जाए। वास्तव में, सर सय्यद बड़े भारी देशभक्त थे और हिंदुओं के साथ उनके संबंध बहुत ही मधुर थे। किंतु उन्होंने यह अनुभव किया कि भारतीय इस्लाम निःसहाय्य अवस्था में पड़ाहुआ है और यदि इसका संगठन और समेकलन न कियागया तो यह निश्चय ही उपेक्ष्य बनकर एक कोने में जापड़ेगा।

अतएव, सय्यद अहमद ने अंग्रेजों की कृपादृष्टि प्राप्त करने की मन में ठानली। अंग्रेजों के विरुद्ध जब पहले विद्रोह कियागया था तब प्रमुख मुल्लाओं ने फतवा दिया था कि यह मुस्लिमों का धार्मिक कर्त्तव्य है कि वे अंग्रेजों का प्रतिरोध करें, किंतु अब जौनपुर के मौलवी करामतअली ने घोषणा की कि अंग्रेजों का विरोध करने के लिए मुस्लिमों को धर्म बाध्य नहीं करता है। इधर अंग्रेज सरकार भी अपनी नीति में परिवर्तन के लिए तैयार थी। सन् १८७२ ई. में सर विलियम हंटर ने भारतीय मुसलमानों के संबंध में जो अपनी किताब, प्रकाशित की थी उसमें लिखा था कि इस्लाम के दृष्टिकोण को बेहतर तरीके से समझाने और उसके प्रति समझौता करने की ओर ध्यान दियाजाए। इस परिस्थिति में सरकारी क्षेत्रों में सय्यद अहमद की जोरदार पूछ होने लगी। सन् १८७५ ई. में मुस्लिम आंग्ल-पौर्वात्य विद्यालय (एम. ए.–ओ. कालेज) अलीगढ़ में संस्थापित कियागया जिसे भारतीय मुसलमानों की शिक्षा की केंद्रीय संस्था माना जासकता है। इसको उत्तर भारत के उच्चवर्गीय मुसलमानों और हैदराबाद के प्रधान मंत्री सालारजंग ने सक्रिय मदद दी। अंग्रेजी सरकार अपनी सफलता पर फूली नहीं समाती थी कि उसे मुसलमानों का समर्थन प्राप्त होगया है। आरंभ ही सेर अलीगढ़ आंदोलन को अंग्रेजों का सरकारी समर्थन मिलगया। सर सय्यद ने ताड़लिया कि अब समय उनके अनुकूल है और वह अपने साथ सहानुभूति रखनेवाले अंग्रेजों की मदद से

एक विद्यालय की संस्थापना करने में जुटगये जहां शिक्षा पाकर मुस्लिमों में मिल्लत का जज़बा (विशेष बिरादरी-की भावना) पैदा हो सके। सौभाग्यवश उन्हें थ्योडोर बैक जैसा सहायक मिलगया जिसने उनके आदर्शों के प्रति सहानुभूति दिखायी और जी-जान से उनके काम में जुटगया। उन्होंने अलीगढ़ में तबलीग़ (धर्मप्रचार) की भावना पैदा करदी। उनके नेतृत्व में इससे दो बातें पूरी हो सकीं : इसने आनेवाली पीढ़ी में आंग्ल-मुस्लिम सहयोग की भावना कूट-कूट कर भरदी जिससे दोनों पक्षों ने तत्काल लाभ उठाया; और उसने अलीगढ़ को पढ़ेलिखे लोगों का एक उद्गमस्थल बनादिया जिन्होंने आगे मैदान में आकर इस्लाम के संगठन का मुस्तैदी से काम किया।

अलीगढ़ आंदोलन भारत में इस्लाम के पुनरुत्थान का मूल कारण माना जासकता है। इसके दो महत्त्वपूर्ण परिणाम सामने देखने में आये। पहला यह भारतीय इस्लाम के समेकलन की दिशा में पहला कदम साबित हुआ। भारत के विभिन्न भागों में बिखरी मुस्लिम जनसंख्या के लिए इसने एक केंद्रीय संस्था का काम किया जहां उसे एक सामान्य बौद्धिक पृष्ठभूमि और सामान्य विचारधारा से परिचित होने का अवसर मिलगया। यह अलीगढ़-का आदमी ही था जिसने भारत के कोने-कोने में मुस्लिम आंदोलन का पथप्रदर्शन और नेतृत्व किया। दूसरा, अलीगढ़ ने उर्दू को भारतीय इस्लाम की राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करदिया। उर्दू तीन सौ वर्षों से भी अधिक काल तक यहां के सरकारी वर्गों की, चाहे वे हिंदू हों, चाहे मुस्लिम, एक सामान्य भाषा बनीरही। अलीगढ़ ने इसे मैट्रिक परीक्षा तक अध्ययन के लिए अनिवार्य भाषा बनाकर उसे केवल उत्तर प्रदेश ही की नहीं प्रत्युत भारत में सभी जगह के मुस्लिम शिक्षित वर्ग की भाषा बनादिया। दूसरे शब्दों में, अब से पचास वर्ष पहले जो स्थान यहां फारसी को प्राप्त था वह उर्दू को मिलगया। इस प्रकार एक पृथक भाषा और एक विशेष विचारधारा प्राप्त करके, समय आने पर, मुसलमान एक पृथक राष्ट्र होने का दावा करने में समर्थ होसके।

सय्यद अहमद १८९४ ई. तक अंग्रेजों के मन में अपना विश्वास पैदा करने में सफल हो गये। उनकी यह खिचड़ी भलीभांति पकगयी थी जैसाकि स्ट्रेची ने आगे चलकर सरकारी रूप से घोषणा की कि मुस्लिमों का उच्चवर्ग सरकार के लिए एक शक्ति-स्रोत बनगया है। कांग्रेस के विरुद्ध उसकी सामयिक घोषणाओं से भी लाभ उठाकर सय्यद अहमद ने अंग्रेजों के साथ मुस्लिमों की मैत्री दृढ़ करली। लेकिन यहां इस बात पर जोर देना आवश्यक है कि इसमें किसी प्रकार की हिंदू-विरोधी भावना सन्निहित नहीं थी। अलीगढ़ आंदोलन का प्रतिबिंब शीघ्र ही सभी प्रांतों और देसी रियासतों में पड़ने लगा। हैदराबाद, भोपाल और अन्य मुस्लिम रियासतें अपनी नौकरियों में मुस्लिम आंग्ल-ओरियंटल कालेज के स्नातकों को भरती करने लगीं। प्रत्येक नगर में अंजुमनें स्थापित हुईं जहां अलीगढ़ के सिद्धांतों का प्रचार होने और उर्दू को प्रोत्साहन मिलने लगा। इसी समय मुस्लिम समाचारपत्रों की, विशेषकर उर्दू में, वृद्धि हो चली। वास्तव में, इस बात का श्रेय सर सय्यद को दिया जाएगा कि उन्होंने इस्लाम को विघटन ही से नहीं बचाया प्रत्युत् उसे एक पीढ़ी के भीतर ऊंचा उठाकर एक महत्त्वपूर्ण आसन पर बैठादिया और उसे असंदिग्धरूप से प्रभावशाली बना दिया।

अगली शताब्दी में अन्य बातें सामने आयीं। सय्यद अहमद ने राष्ट्रीय आंदोलन का विरोध मुख्यतः इस आधार पर किया कि इस्लाम को संगठित होने के लिए समय की आवश्यकता है। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, भारत में जिस अविकल राष्ट्रवाद का विकास देखने में आया वह मुख्यतः पुनर्जागरित हिंदू भावना की पुकार थी जिससे अंग्रेज सरकार और अलीगढ़-आंदोलन के पृष्ठपोषक मुस्लिम जमींदारों का संगठन, दोनों ही भयभीत होउठे थे। इसके अतिरिक्त इस्लाम की आवाज से मुस्लिम युवक उठखड़े हुए थे। यह वह समय था जबकि सभी मुस्लिम देशों में उत्तेजना की लहर दौड़रही थी। जमालुद्दीन अफगानी के प्रचार से अरब देशों में आपसी आत्मीयता की भावना भड़क उठी थी और तुर्किस्तानी युवकों के नेतृत्व में ओतोमन साम्राज्य (तुर्किस्तान) में नवस्फूर्ति पैदा होरही थी। तब भारत में इस्लाम-शिशु का पथ-प्रदर्शन मौलाना मुहम्मद अली कररहे थे और वह समस्त इस्लाम देशों के संघ की ओर अभिमुख होरहा था। अलीगढ़ आंदोलन अब दो टुकड़ों में बंट गया— पुराने नेता प्रायः भारत के बाहर इस्लाम की चिंता न करते हुए इस देश में अंग्रेजी सरकार का साथ देकर कांग्रेस के विरुद्ध मोरचा बनाने की नीति का अनुशीलन करना चाहते थे : नये मुस्लिम नेता कुस्तुनतुनिया और काहिरा की ओर ताकते थे और खुले रूप से अंग्रेज-विरोधी नीति का इस आधार पर अवलंबन करते थे कि ब्रिटेन संसार में हरेक जगह इस्लाम के विरुद्ध मोरचा लगाये है। पुराने मुस्लिम नेताओं में जमींदार, अभिजात-वर्ग तथा निहित स्वार्थवाले लोग और नये वर्ग में नये मध्यवर्गों के लोग शामिल थे।

सन् १९०७ ई. में जब भारत में राजनीतिक सुधारों का प्रश्न आवश्यक बनगया और मिंटो–मोर्ले योजना गढ़ी जारही थी तब भारत सरकार से सर आगाखां के नेतृत्व में एक मुस्लिम शिष्टमंडल मिला जिसकी प्रार्थना पर उसने मुसलमानों के लिए पृथक निर्वाचन कराने का निर्णय किया। सर सय्यद अहमद कहा करते थे कि हिंदू और मुस्लिम भारत माता की दो आंखें हैं और इस कथन की ओट में अस्थायी रूप से भारत में द्विराष्ट्रीय सिद्धांत की वकालत कियाकरते थे। उनका वह द्विराष्ट्रीय सिद्धांत पृथक-निर्वाचन से मूर्तिमान् होने लगा। इस्लाम का संगठन परिपूर्ण होगया क्योंकि राष्ट्रीयतावाद के दुर्ग में स्थायी दरार पड़गयी और भारत के राजनीतिक संघटन से इस्लाम से पृथक होने की घोषणा स्पष्ट शब्दों में करदी गयी जिसके बारे में किसी प्रकार के भ्रम की गुंजाइश नहीं रही। सन् १९०७ ई. के बाद हिंदू मुस्लिम मैत्रीपूर्ण गठजोड़ तो किया जासकता था किंतु भारत में एक संयुक्त राष्ट्रीय आंदोलन के के लिए स्थान नहीं रहा था।

पृथक निर्वाचन की आधारभूत सीढ़ी पर चढ़जाने के बाद पाकिस्तान के शिखर पर जापहुंचना एक सरल और स्वाभाविक बात थी। फिर भी इन दो पृथक राज्यों की स्थापना करने की नीति की औपचारिक घोषणा में पूरे चालीस वर्ष लगगये। जब यह स्पष्ट होगया कि सत्ता हस्तांतरित की जारही है तब द्विराष्ट्रीय सिद्धांत एक विचारणीय प्रश्न बनगया। सन् १९०९ ई. तक नया दल अंग्रेज-विरोधी होगया और हिंदू राष्ट्रीयतावाद के साथ मैत्री करने में उन्हें अपनी हित-साधना की राह दिखायी देने लगी। भारत के बाहर इस्लामी दुनिया में जो घटनाएं

होरही थीं उन्होंने यहां के मुस्लिमों को हिंदुओं के सामने मित्रता का हाथ फैलाने के लिए लाचार करदिया। इस प्रकार हिंदू-मुस्लिम मैत्री अनिवार्य होगयी। ईरान के प्राचीन साम्राज्य को दो प्रभावक्षेत्रों में बांटने के बारे में ब्रिटेन और रूस के बीच में जो समझौता हुआ, ब्रिटेन ने त्रिपोली में तुर्किस्तान के विरुद्ध इटली के अग्रधर्षणात्मक युद्ध का खुले रूप से जो अनुसमर्थन किया और अंत में बल्कान-युद्धों में तुर्किस्तान को जो नीचा देखना पड़ा, उन सब बातों से नयी पीढ़ी के मुसलमानों में आग-सी लगगयी और उनकी अंग्रेज-विरोधी भावनाएं भड़क उठीं। बल्कान-युद्धों में भारतीय मुसलमानों का एक चिकित्सा-दल डा. अन्सारी के नेतृत्व में तुर्किस्तान गया। यद्यपि पुराने मुस्लिम नेता अखिल इस्लाम देश संघ के सिद्धांत से पूर्णतः सहानुभूति रखते थे फिर भी वे ब्रिटेन की इतनी अधिक घनिष्ठता में पगेहुए थे कि इन दोनों मुस्लिम दलों के बीच खाई चौड़ी होना अनिवार्य होगया। आगाखां ने जिस अंग्रेज-पृष्ठपोषक दल---मुस्लिम लीग---की संस्थापना की थी उस पर मुहम्मदअली ने कब्जा करलिया और युद्ध के कारण जो विशेष परिस्थितियां पैदा होगयी थीं उनसे विवश होकर वह उसे कांग्रेस के साथ गठजोड़ करने की दिशा में पग धरना पड़ा। इसके फलस्वरूप जो लखनऊ-समझौता हुआ था वह हिंदू-मुस्लिम नहीं माना जासकता; वह तो दो दलों का एक गठजोड़ था। प्रथम महासमर के बाद जो खिलाफत आंदोलन चला उससे हिंदू और मुसलमान फिर मिलकर एक साथ खड़े होगये। लेकिन यह मैत्री बहुत दिनों नहीं टिकसकी और कुछ समय बाद टूट गयी। इसके बाद एक अनिश्चित नीति का दौरदौरा चला और जब यह प्रत्यक्ष होगया कि भारत को सत्ता हस्तांतरित की जारही है तब इस्लाम ने पृथक होने की घोषणा करदी। इस समय पुनर्जागरित मुस्लिम लीग, जो संगठित इस्लाम का प्रतिनिधित्व कररही थी, मुहम्मदअली जिन्ना के नेतृत्व में थी और उन्होंने द्विराष्ट्रीय सिद्धांत पर अपने अड़जाने की उद्घोषणा कर दी।

इससे यह न समझना चाहिए कि मुसलमान केवल इस्लामी एकीकरण के आंदोलन ही में उलझगये थे और उसके कारण उनमें भारत की राष्ट्रीय जागृति की भावना नहीं आयी थी। जबसे कांग्रेस का आंदोलन चला तब प्रारंभ ही से उसको अनेक बड़े-बड़े मुस्लिम नेताओं के सहयोग का सौभाग्य प्राप्त रहा। स्वयं जिन्ना का स्थान कभी कांग्रेस में बहुत ऊंचा था और एक संयुक्त राष्ट्रीयतावाद की अपील अनेक मुस्लिमों के हृदय में गूंजतीरहती थी। लेकिन यदि हम मोटे रूप से विचार करें तो हमें ज्ञात होजाएगा कि गदर के बाद से इस्लामी विचारों पर एक राजनीतिक भय का भूत सवार बनारहा और उन्होंने अपने बचाव के लिए अपना संगठन किया।

अध्याय २३

भारत और संसार

पर्वतराज हिमालय की अलंघ्य दीवार ने भारत पर भौगोलिक पार्थक्य के जिस युग को थोप-रक्खा था वह इस देश में वास्को डा गामा के आगमन से विलुप्त होगया। किंतु जलमार्ग पर पहले पुर्तुगालियों का और इसके बाद अंग्रेजों का एकाधिपत्य रहने के कारण भारत को यूरोपीय जगत के साथ अपने सीधे संपर्क को सीमित सुविधा ही उपलब्ध होसकी। उसका यह संपर्क, वास्तव में एक बिचैल की मार्फत था। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक भारतीय यूरोप में घूमनेफिरने जाने लगे थे और भारतीय छात्र ब्रिटेन और यूरोप महाद्वीप के विश्व-विद्यालयों में प्रविष्ट होने लगे थे फिरभी बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक भारत नैतिकरूप से यूरोपीय जगत से अलग बनारहा। प्रगतिशील संचार-साधनों, विशेषकर विमानों और आकाशवाणी के आविर्भाव, से भारत पर शेष संसार का प्रभाव प्रचुर मात्रा में पड़ने लगा। अंग्रेजी की शिक्षा ने भारत के लिए संसार की विचारधारा का द्वार अधिकाधिक खोलना आरंभ करदिया।

भारतीय मानस पर प्रथम महासमर का बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। यूरोप का नैतिक बल घटने, जापान का गौरव बढ़ने और प्रशांत महासागर में अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष का केंद्र स्थानां-तरित होकर आजाने से नयी परिस्थितियां पैदा होगयीं जिसका भारत के मानस पर गहरा असर पड़ा। किंतु इस शताब्दी में जिस अकेली घटना का भारत की राजनीति और नैतिकता पर सबसे प्रबल प्रभाव पड़ा वह सोवियत क्रांति थी। श्रमिकवर्ग के हाथ में रूस की शासन-सत्ता पहुंचने और पामीर के उस पार श्रमिकों का बोलबाला होने से भारतीय युवकों में नयी चेतना पैदा होगयी। प्रथम महासमर के पहले भारत में मजदूर संगठनों अथवा किसान संगठनों का नामलेवा भी न था। दोनों महासमरों के मध्यवर्ती काल में इस देश में मजदूर आंदोलन और किसान आंदोलन की भारी प्रगति हुई और साम्यवादी दल की स्थापना हुई। यद्यपि मध्यवर्गों के राष्ट्रीयतावाद पर बाहरी प्रभाव पड़ा था फिर भी वह इस देश की भूमि से पैदा होकर यहां के वातावरण ही में पनपा था; किंतु यहां का मजदूर संगठन तो दुनिया के आंदोलन की एक कड़ी बनकर प्रकट हुआ था। उसकी क्रांतिकारी विचारधारा के उत्प्रेरक मार्क्स और एंजेल्स थे। यहां श्रमिक संगठन संघों का ढांचा इंग्लिस्तान की नकल पर बना है।

यद्यपि मजदूर आंदोलन साम्राज्य-विरोधी और सांप्रदायिकता-विरोधी हैं फिरभी इसकी सामाजिक विचारधारा भारत के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक संगठनों के संबंध में क्रांतिमूलक है। सामाजिक विचारों के धर्मनिरपेक्ष रूप ने और मार्क्स की विचारधारा पर

इस सिद्धांत ने कि मनुष्य के कार्य स्वतंत्र नहीं होते, इस मजदूर आंदोलन को हिंदू सामाजिक पद्धति और सामान्यतः अविभक्त-परिवार तथा इस्लाम और हिंदूधर्म के व्यक्तिगत कानूनों पर आधारित भारतीय जीवन के परंपरागत ढांचे का कट्टर विरोधी बनादिया है। इस क्रांतिकारी रूप ने समाजवादी मजदूर आंदोलन को वह महत्त्व प्रदान किया है जिससे हिंदूधर्म और इस्लाम के बीच धार्मिक विभाजन की दीवार टूटजाती है, क्योंकि समाजवादियों का सबसे पहला शत्रु पूंजीवाद है (चाहे वह हिंदुओं का हो या मुसलमानों का) और दूसरा शत्रु संगठित धर्म है जिसे समाजवादी पूंजीवादी समाज के संगठन की प्रतिरक्षा का केवल एक साधन मानते हैं। पिछले बीस वर्षों की सबसे मुख्य देन यह है कि इस देश में समाजवादी, साम्यवादी और किसान वर्गों के संगठन बनगये हैं जो हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के एकांतीय राष्ट्रीयतावाद के जड़ को खोदफेंकना चाहता है और होसकता है कि वह अंततोगत्वा आर्थिक विभाजनों पर आधारित राष्ट्रीय भावना का एक भिन्न स्वरूप खड़ा करदे।

प्रथम महासमर के दौरान में भारतीय राष्ट्रीयतावाद कुछ हद तक एक अंतर्राष्ट्रीय सवाल बनगया था। केंद्रीय जरमन सरकार ने भारत की एक अस्थायी सरकार को मान्यता प्रदान करदी जिसके प्रधान राजा महेंद्रप्रताप थे। इन युद्धों के पहले ही यूरोप और अमेरिका के विभिन्न केंद्रों में क्रांतिकारी दल काम कररहे थे। गदर अर्थात् क्रांतिकारी दल का मुख्यालय सानफ्रांसिस्को में था और वह एक शक्तिशाली दल था जिसकी पीठ पर प्रायः अमेरिका के पच्छिमी तट पर बसे सिखों का हाथ था। इंगलिस्तान में कुछ बुद्धिवादियों का दल विनायक सावरकर और वीरेंद्रनाथ चट्टोपाध्याय के नेतृत्व में छात्रों के बीच काम करता था। शानूजी-कृष्णवर्मा की हलचलों का क्षेत्र पेरिस था और उन्होंने यूरोपीय क्रांतिकारी आंदोलनों से अपना संपर्क स्थापित करलिया था। लंदन का गुट, लालकाका और कर्जन विली की हत्या के बाद, भंग होकर बिखर गया, किंतु फ्रांसीसी और जरमन गुट बनेरहे। युद्धकाल में अमेरिका और फ्रांस में बहुत कुछ रोकथाम होगयी फिरभी जापान में रासबिहारी बसु और लाजपतराय राष्ट्रीय कार्य को ठीक ढंग से करते रहे जिसका मधुर परिणाम आगे चलकर निकला।

गांधीवादी आंदोलन के अभ्युदय तक भारतीय राष्ट्रीयतावाद का भारत पर न्यून प्रभाव पड़ा। गांधीजी ने अपने असहयोग आंदोलन के क्रांतिकारी रूप और विलक्षण कार्यपद्धति से एकबारगी दुनिया की आंखें व्यापकरूप से भारत की ओर केंद्रित कर दीं। जहां कहीं भी राष्ट्रीय आंदोलन चलरहे थे, उसने उनसे मित्रतापूर्ण संबंध जोड़ने आरंभ करदिये। उदाहरण के लिए, आयर के गणतांत्रियों, मिस्र के वफ्ददल, मोरोक्को के इस्तकलाल दल, आदि से संपर्क जोड़ागया। भारत ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रसंघ में जो भाग लिया उसका भी उल्लेख करना आवश्यक होगा।

सुदूर पूर्व के देशों के साथ भी भारत ने, इस अवधि में, राजनीतिक संबंध बढ़ाने आरंभ किये। रवींद्रनाथ ठाकुर ने चीन का भ्रमण करके इस देश के साथ उसके प्राचीन सांस्कृतिक संबंधों को हराभरा कर दिया। धीरे धीरे कांग्रेस ने उन राजनीतिक संपर्कों की नींव डाली जिनके कारण भारत और चीन की मैत्री घनिष्ट होगयी।

भारत सरकारी रूप से भी अंतर्राष्ट्रीय मामलों में हाथ बंटाने लगा। सन् १९१४-१८ ई. के युद्ध में उसने भाग लिया था। इसलिए वर्साई की संधि पर हस्ताक्षर करनेवाले देशों में वह भी सम्मिलित था और उसे राष्ट्रसंघ के बुनियादी सदस्यों में स्थान प्राप्त था। वह संघ की कार्यवाही में भाग लेने के लिए अपना प्रतिनिधिमंडल भेजता था जिसमें गैरसरकारी प्रतिनिधि भी होते थे। उसने अन्य महत्त्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों, जैसे वाशिंगटन सम्मेलन संसार के आर्थिक सम्मेलन, में भी भाग लिया। वास्तव में यह दावा करना न्यायसंगत होगा कि दोनों महासमरों की मध्यवर्ती अवधि में भारत ने लोकप्रिय तथा अधिकृत हलचलों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय मामलों में अपने लिए कुछ-न-कुछ महत्त्वपूर्ण स्थान बनालिया था।

इस समय भारत ने संस्कृति के जगत में भी उल्लेखनीय प्रगति की। सन् १९१३ ई. में जब रवींद्रनाथ ठाकुर को नोबुल पुरस्कार मिला तब आधुनिक भारत की सांस्कृतिक उन्नति को पहली बार अंतर्राष्ट्रीय मान्यता का सौभाग्य प्राप्त हुआ। विज्ञान के क्षेत्र में भी उसको मान्यता मिली। जगदीशचंद्र बसु ने पौदों में जीवन की खोजकरके आधुनिक वैज्ञानिक जगत में पहलीबार भारत का मुख उज्ज्वल किया। गणितशास्त्र में रामानुजम ने जो अनुसंधान किये और चंद्रशेखर वेंकट रमण को भौतिकी में जो नोबुल पुरस्कार मिला उनसे वैज्ञानिक जगत में भारत का स्थान ऊंचा होगया और भारतीय प्रतिभा का सम्मान किया जाने लगा।

भारत के महिला आंदोलन के बारे में दुनिया की प्रतिक्रिया बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हिंदू महिलाओं को अधिकार देने के बारे में राममोहन राय ने १८२० ई. के बाद जो तर्क उपस्थित किये थे उनपर स्पष्टतः भारत में यूरोपीय आदर्शों की प्रथम प्रतिक्रिया की छाया पड़ी हुई थी। किंतु उस समय हिंदू और मुस्लिम पुनरुत्थान होरहा था जिसने उन्नीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीयतावाद को नवस्फूर्ति दी थी। इसलिए लोगों का ध्यान महिलाओं के पैरों में जकड़ी परंपरागत रीति-रिवाजों की बेड़ियां काटने की ओर नहीं गया। ब्रह्मसमाज पर यूरोपीय विचारधारा का गहरा प्रभाव पड़ा था और उसने रीति-रिवाजों के बंधन तोड़ने की भरसक चेष्टा की थी जो हिंदू महिलाओं को सामाजिक जीवन में भाग लेने से वंचित करते थे। उस समय समाजसुधार का आंदोलन बालविवाह के निषेध, विधवाओं के पुनर्विवाह तथा हिंदूजीवन में अन्य अभीष्ट परिवर्तन करने पर केंद्रित था। इसमें विशुद्धता की धुन इतनी समागयी कि इसके अनुयायियों ने एक दूसरी दिशा में अपने कट्टरपन की अतिवादिता दिखायी जो यह थी कि उन्होंने हिंदूसमाज में परंपरागत नृत्य और गायन का विरोध करना आरंभ कर दिया।

मुतरां, यहां यह याद रखना नितांत आवश्यक है कि, सामाजिक प्रथाओं और लोकाचारों को छोड़कर, भारत में ऐसा कभी नहीं देखने में आया जबकि स्त्रियों को सामान्यतः सार्वजनिक जीवन, अथवा लोकमंगल के कार्यकलापों में भाग लेने से वंचित रखने की एक नीति-सी बनगयी हो। इसके विपरीत, इस आशय के उदाहरणों की कमी नहीं जबकि रमाबाई रानडे जैसी प्रगतिशील महिलाओं के लोकोपयोगी कार्यों का, भारत की जनता ने अनुसमर्थन और श्लाघा की। किंतु इस देश में महिलाओं के संगठित आंदोलन का आविर्भाव तभी हुआ जबकि भारत

दुनिया की शक्तियों की मुठभेड़ में आकर टकराया। अखिल भारतीय महिला सम्मेलन का बीजारोपण होने की देर थी कि यह पौदा एकदम अंकुरित होकर लहलहा उठा और इसने अपने अंक में समस्त राष्ट्र को भरलिया। इस महिला आंदोलन ने तेजी से राष्ट्रव्यापी रूप धारण करलिया। सरोजिनी नायडू एक लब्धप्रतिष्ठ कवि, व्याख्यानदाता और राजनीतिज्ञ थीं तथा उन्हें राष्ट्रीय कांग्रेस के प्रधान होने का भी सौभाग्य मिला था। इस प्रकार की प्रभावशाली महिलाओं के नेतृत्व में यह महिला आंदोलन सशक्त होगया और भारत को एक राष्ट्र के रूप में परिणत करने के लिए जिन शक्तियों ने काम किया उनमें इसकी भी गिनती बख़ूबी की जासकती है।

उपसंहार

भारतीय इतिहास के घटना-चित्र का विहगावलोकन करने से क्या प्रकट होता है? जो तत्त्ववेत्ता यह मानते हैं कि इतिहास राष्ट्रीय भूलों की क्षमा-याचना का एक पृष्ठ है उनकी इस धारणा को भारतीय इतिहास के अध्ययन मे कोई अनुसमर्थन उपलब्ध न होगा। किसी भी देश के इतिहास को वहां के महापुरुषों का एक भव्य जलूस या युग-युग में विस्तृत होनेवाली प्रगति-सरिता मानना ठीक नहीं होगा? इसे दृष्टांत-तरंगिणी भी नहीं कहा जासकता जिसमें 'इसके बाद क्या हुआ' की टेक लगायी जाती है। यदि किसी देश के इतिहास में वहां की जनता के सभ्यता के पथ पर आगे बढ़ने, जीवन-निर्वाह का स्तर ऊंचा उठाने और अधिक सुखी तथा श्रेष्ठ जीवन बिताने के सजग प्रयासों का वर्णन नहीं कियाजाता है तो वह निरर्थक है और उसका महत्त्व न-बराबर है। भारतीय इतिहास प्राचीनकाल ही से उपर्युक्त प्रकार के प्रयास की एक जीती-जागती कहानी है। संसार की अन्य जातियों की भांति भारतीयों का इतिहास भी उत्थान और पतन के सोपानों से क्रमबद्ध है। इसमें वे दिन भी देखने में आये हैं जबकि धर्म के दीपक की प्रचंड ज्योति से चारों ओर लोगों की आंखें झिलमिलारही थीं और समय-समय पर उसने मानव-सभ्यता की उन्नति में जो योगदान किया वह इतिहास का स्वर्णिम पृष्ठ बनचुका है। इसके विपरीत वे दिन भी आये जबकि जनता की संकल्प-शक्ति शिथिल होगयी, उसका विश्वास धुंधला पड़गया और उसने जो कुछ करा-धरा था वह अपने और संसार के लिए नगण्य सिद्ध हुआ। इन उत्थानों और पतनों की मंजिलों से गुजरनेवाली किसी भी जाति के सामने एक अखंड उद्देश्य होता है जो उसके इतिहास का निर्माण करता है। भारतीयों के पास इसी प्रकार का एक उद्देश्य था जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि उन्होंने कम-से-कम तीस शताब्दियों से गुजरने पर भी अपनी मूल सभ्यता का तार नहीं टूटने दिया है। यदि प्रत्येक अनुवर्ती संतति अपनी परंपरागत सभ्यता की रक्षा करने और उसे जीवित रखने के लिए सजग होकर यत्नशील नहीं रहती है तो उसकी सभ्यता का तार अधिक आगे नहीं बढ़ सकता अथवा कम-से-कम अटूट नहीं रहसकता। अपने पारिवारिक और सामाजिक ढांचे में तथा दार्शनिक पृष्ठभूमि में हमें भारतीय सभ्यता के जिस संगठन के दर्शन होते हैं और जिन कारणों से यह सभ्यता छिन्नभिन्न होने से बची रही, उन सबका निर्माण भारत में बौद्धमत के आविर्भाव से पहले ही हो चुका था क्योंकि बुद्ध के धम्मसंघ (धर्मसंघ) के दिनों में हम इसे एक सुव्यवस्थित अवस्था में पाते हैं। आज बीसवीं शताब्दी में भारतीयों ने उसी प्राचीन संगठन के आवश्यक अंगों को बपौती के रूप में सुरक्षित पाया है। इसका कारण यही है कि विगत शताब्दियों

में हमारी पूर्ववर्ती पीढ़ियां, अपनी-अपनी बारी आने पर, सजग होकर उसकी रक्षा करती और अपने भीतर फूट फैलानेवाले तथा बाहर से दबाव डालनेवाले तत्त्वों का समान दृढ़ता से सामना करती रहीं। भारत के इतिहास में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि धर्मशास्त्र हमारी सभ्यता के लिए दृढ़ इस्पातीय चौखटे का काम देते रहे और समय-समय पर उनका भाष्य लिखने तथा उनकी पुनर्व्यवस्था करने का स्तुत्य प्रयास जारी रहा।

भारतीय इतिहास क्या है ? यह सचमुच ही मुख्यरूप से हिंदूजाति का इतिहास है। कारण यह कि यद्यपि इसमें अन्य शक्तिशाली तत्त्वों ने भी समय-समय पर आकर प्रवेश किया और वे इसके स्थायी अंग बनगये हैं, फिर भी हिंदू इस जनसंख्या में ८० प्रतिशत हैं। इसके अतिरिक्त जो भी चीज स्पष्टरूप से भारतीय है उस पर अब तक हिंदूपन की छाप ही देखने में आती है। इस्लाम का ऐसा स्पष्ट योगदान कोई भी नहीं जो विशेषरूप से भारतीय हो। यहां उसका जो कुछ भी योगदान है वह संसार की संस्कृति का एक अंग है, जिसके भीतर भारतीय मुस्लिम भी आजाते हैं। मुगलकालीन चित्रकला या हिंद-सारसेनी स्थापत्यकला के प्रसंग को लीजिए : इसमें भारतीयता के अतिरिक्त जो कुछ भी है वह इस्लाम और हिंदू संस्कृतियों के आपसी संगम की देन है। इसलिए, इन सब बातों की समीक्षा करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि विशेष प्रकार की भारतीय सभ्यता के निर्माण और उसकी रक्षा के लिए जो भारतीय प्रयास हुए हैं और उनका जो इतिहास लिखागया है वह हिंदू मानस और उसकी सफलता का इतिहास है।

किसी देश के राजवंशों का इतिहास, जिसमें पांच हजार वर्षों की गाथा लिखीगयी है, जनता के लिए कभी प्रेरणा-स्रोत नहीं बन सकता। इसका अभिप्राय यह नहीं कि भारत में महान नृपति अथवा लोकनायक नहीं हुए। अशोक, विक्रमादित्य, अकबर, कृष्णदेवराव और शिवाजी, जैसी भारतीय विभूतियां अपने चरित्रबल और सफलताओं पर माथा ऊंचा करसकती हैं। किंतु सैनिक विजेता, राजनीतिक पंडित और अन्य महापुरुष जिनके चारों ओर राष्ट्रीय इतिहास की छटा बिखररही है, तबतक अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं माने जासकते जबतक वे किसी विशेष उद्देश्य को लेकर आगे न चले हों अथवा किसी विशेष आदर्श से उत्प्रेरित न हुए हों जो मानवता की प्रगति के पथ पर अग्रसर करते हैं। भारतीय इतिहास में इस प्रकार के युगपुरुषों अथवा महापुरुषों की कमी नहीं रही हैं और उसमें चाणक्य से लेकर नाना फड़नवीस तक राजनयज्ञ तथा चन्द्रगुप्त मौर्य से लेकर औरंगजेब तक बड़े-बड़े विजेता जन्म लेते हैं। उनके प्रताप और तेज की धूम मचीरही है, किंतु अन्य इतिहासों की भांति भारतीय इतिहास में भी जो कुछ अंततोगत्वा श्रेष्ठ मानागया है वह जनता की सफलता की कहानी है, वह जनता के उस विश्वास की गाथा है जिसने उसे महान कार्य करने के लिए उत्प्रेरित किया है और वह उन प्रयासों का अभिलेख है जिन्होंने समाज को एक जीवित अवस्था में सामान्य लोगों के रहने के योग्य रखा है।

यही तथ्य किन्हीं दो युगों के बीच विभाजन-रेखा का काम देता है। कभी स्वर्णयुग नहीं था। स्वर्णयुग एक मनगढ़ंत युग है जो केवल पराजित लोगों के मानस से उत्पन्न होता है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारत के विलुप्त साहस के पुनरुत्थान के लिए जो प्रारंभिक प्रयास किये

गये, उनकी तुलना यदि हम प्राचीन भारत की जनता के प्रयासों से करें तो गुप्तवंशी राजाओं, अकबर और विजयनगर साम्राज्य की जनता के जीवन भी पिछड़े प्रतीत होंगे। तो फिर वह चीज क्या है जिसके कारण हम चंद्रगुप्त के अंतवर्ती गुप्तसाम्राज्य, अकबर के अंतवर्ती मुगलसाम्राज्य और कृष्णदेवराय के अंतवर्ती विजयनगर साम्राज्य पर अभिमान करते हैं? इसका उत्तर सरल है। यह नहीं कि उस समय दमननीति कम प्रचंड थी, आर्थिक जीवन अधिक सुरक्षित था, और असमानता कम विषम थी। वास्तव में उस समय जनता अपने भविष्य के प्रति अधिक निष्ठावान और जागरूक होकर विकट प्रयास करने में संलग्न थी। गुप्तसाम्राज्य की जनता ने कदाचित् संदिग्धरूप से अपने समय में उस राष्ट्रीय स्वाभिमान का, प्रगति करने की उस उत्प्रेरणा का और सफलता प्राप्त करनेकी उस उत्कट अभिलाषा का अनुभव किया जिसने भारत को केवल बाह्य आक्रमणों ही से नहीं बचाया अपितु साहित्य, कला और वास्तुकौशल के अमर स्मारक भेंट किये। अकबर के समय में जनता की असंदिग्ध भावना यह थी कि वह एक नये युग में जीवन बिता रही है। इस भावना के दर्शन तत्कालीन राजनीतिक वातावरण ही में नहीं होते हैं प्रत्युत उस काल की विविध कलाओं और भवनों में तथा तुलसीदास के अमर काव्य और तानसेन के संगीत में भी होते हैं। इसी प्रकार विजयनगर के लोगों ने तीन सौ वर्षों तक यह अनुभव किया कि वे एक आदर्श के उन्नायक हैं। जब राष्ट्रीय आदर्शवादिता विलुप्त हो जाती है और विश्वास धुंधला पड़जाता है तब पतन आरंभ होता है। भारत ने अनेक बार वे जमाने देखे हैं जबकि इस देश में अराजकता का दौरदौरा रहा, सामाजिक व्यवस्था डांवाडोल होउठी और मानसिक विकास का धरातल क्षुद्रता के गढ़े में जागिरा। यह भारत के अपने विशेष गौरव का विषय है कि इतने अंधकारपूर्ण दिनों में भी उसके पास पर्याप्त विश्वास और आस्था की निधि कभी निःशेष नहीं हुई जिसके आधार पर भविष्य में वह अपने पैरों फिर उठकर खड़ाहोता रहा।

आज भारत नये युग के प्रांगण में खड़ाहुआ है। एक शताब्दी के अविश्रांत प्रयास के बाद वह नये विचारों और आदर्शों को आत्मसात् करके संसार के मंच पर अवतीर्ण हुआ है। अपने भविष्य के बारे में उसके सामने जो प्रश्न है वह यह है: भारत को पिछले पांच हजार वर्षों से पीढ़ी पर पीढ़ी जिस जीवन-सत्त्व की परंपरागत बपौती उपलब्ध होती आरही है क्या वह उसे, निरंतर जागरूक रहकर, अपने प्रयोजनात्मक प्रयास द्वारा उन्नति के उत्तरोत्तर उच्चतर शिखरों पर पहुंचाता रहेगा?

अनुक्रमणिका

आ

औ

क

ख

ग

घ

च

ज

झ

ट

य

र

श

ह